अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर

अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर

जैन विद्या संस्थान श्री महावीर जी द्वारा

स्वयम्भू पुरस्कार से पुरस्कृत

डा० सूरजमुखी जैन

कुसुम प्रकाशन
नवेन्दु भवन, आदर्श कालोनी
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)-२५१००१

ग्रंथ-लेखिका

डा० श्रीमती सूरजमुखी जैन

(आरा निवासी श्री अनन्त कुमार जैन एवं श्रीमती शारदा जैन की चौथी सन्तान तथा स्वतन्त्रता सेनानी श्री शीतल प्रसाद की धर्मपत्नी।)

जन्म— आरा (बिहार), दिनांक १७.१९२८ ई०

शिक्षा— एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०

कार्यक्षेत्र—सन् १९४९ से सन् १९६३ ई० तक जैन कन्या इण्टर कालेज, मुजफ्फरनगर में हिन्दी-प्रवक्ता। सन् १९६३ से सन् १९७४ ई० तक जैन कन्या महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर में अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग। साथ ही सन् ७२ से सन् ७० तक एम० डी० कालेज में अध्यापन।
सन् १९७४ से सन् १९८९ तक जैन स्थानक वासी कन्या महाविद्यालय, बड़ौत में प्राचार्या।

साहित्यिक उपलब्धियाँ—१. 'अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर' शोध-ग्रन्थ प्रकाशित। २ 'बालादर्श' तथा 'विदुषी' पत्रिकाओं का सम्पादन। ३. उपाध्याय १०८ श्री कनकनन्दी महाराज द्वारा लिखित 'युगनिर्माता ऋषभदेव', 'संगठन के सूत्र' तथा 'अनेकान्त दर्शन' पुस्तकों का सहसम्पादन। ४. विभिन्न स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में लगभग तीस लेख प्रकाशित। ५. 'उपेन्द्र नाथ अश्क के नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन' विषय पर श्रीमती मंजु गुप्ता को शोधकार्य सम्पन्न कराया। ६. हस्तिनापुर, ग्वालियर में आयोजित अखिल भारतीय महिला-सम्मेलनों की अध्यक्षता। ७. लगभग बीस सम्मेलनों तथा सेमीनारों आदि में भाषण।

वर्तमान पता—१५ इमामबाड़ा, मुजफ्फरनगर-२५१००१

ग्रंथ-लेखिका

डा० श्रीमती सूरजमुखी जैन

(आरा निवासी श्री अनन्त कुमार जैन एवं श्रीमती शारदा जैन की चौथी सन्तान तथा स्वतन्त्रता सेनानी श्री शीतल प्रसाद की धर्मपत्नी।)

जन्म - आरा (बिहार) दिनांक १.७.१९२८ ई०

शिक्षा - एम० ए० (हिन्दी संस्कृत), पी-एच० डी०

कार्यक्षेत्र--सन् १९४६ से सन् १९६३ ई० तक जैन कन्या इण्टर कालेज, मुजफ्फरनगर में हिन्दी-प्रवक्ता। सन् १९६३ से सन् १९७४ ई० तक जैन कन्या महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर में अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग। साथ ही सन् [illegible] से सन् [illegible] तक [illegible] कालेज में अध्यापन।

सन् १९७४ से सन् १९८९ तक जैन स्थानक वासी कन्या महाविद्यालय, बड़ौत में प्राचार्या।

साहित्यिक उपलब्धियाँ १. 'अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर' शोध-ग्रन्थ प्रकाशित। २. 'बालादर्श' तथा 'विदुषी' पत्रिकाओं का सम्पादन। ३. उपाध्याय १०८ श्री कनकनन्दी महाराज द्वारा लिखित 'युगनिर्माता ऋषभदेव', 'सृष्टि के सूत्र' तथा 'अनेकान्त दर्शन' पुस्तकों का सहसम्पादन। ४. विभिन्न स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में लगभग तीस लेख प्रकाशित। ५. 'उपेन्द्र नाथ अश्क के नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन' विषय पर श्रीमती मंजु गुप्ता को शोधकार्य सम्पन्न कराया। ६. हस्तिनापुर, ग्वालियर में आयोजित अखिल भारतीय महिला सम्मेलनों की अध्यक्षता। ७. लगभग बीस सम्मेलनों तथा सेमीनारों आदि में भाषण।

वर्तमान पता—३५ इमामबाड़ा, मुजफ्फरनगर-२५१००१

卐 समर्पण 卐

इस ग्रन्थ के मूल प्रेरणास्रोत,

अपभ्रंश साहित्य और जैनधर्म के पथप्रदर्शक,

हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत भाषा तथा साहित्य के उद्भट विद्वान्
परम पूज्य गुरुदेव

ज्योतिषाचार्य डा० नेमिचन्द्र जैन की पुण्य स्मृति मे सादर

—सूरजमुखी जैन

विषय-तालिका

०.	आशीर्वचन	XI
०.	आशीर्वाद	XII
०.	सम्प्रेक्षण	XIII
०.	भूमिका	XVII
०.	आमुख	XIX
०.	दो शब्द	XXII
०.	आत्म निवेदन	XXIII
०.	प्राक्कथन	१-१४
	१. अपभ्रंश भाषा और साहित्य	३
	२. जैन रहस्यवाद	६
	३. जैन रहस्यवाद का कबीर पर प्रभाव	७
	४. अध्ययन के लिए प्राप्त सामग्री	७
	५. शोध-प्रबंध का विषय	८
१.	रहस्यवाद	१५-३८
	१. रहस्यवाद तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों की प्राचीनता	१७
	२. 'मिस्टिसिज्म' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ	१७
	३. 'रहस्यवाद' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ	१७
	४. काव्य में प्रयुक्त 'रहस्यवाद' शब्द का अर्थ	१८
	५. विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत रहस्यवाद की परिभाषाएँ	१९
	६. रहस्यवाद की परम्परा	२६
	७. भारतीय साहित्य में रहस्यवाद	२६
	७.१. वैदिक साहित्य मे रहस्यवाद	२६
	७.२. उपनिषद् साहित्य एव दर्शन मे वर्णित रहस्यवाद	२७
	८. संस्कृत साहित्य में रहस्यवाद	२९
	८.१. गीता	२९
	८.२. भागवत	३०
	८.३. भक्तिसूत्र	३०
	८.४. ललित साहित्य मे वर्णित रहस्यवाद	३१
	९. तंत्र साहित्य में वर्णित रहस्यवाद	३२
	१०. हठयोग में समाहित रहस्यवाद	३४
	११. सूफी कवियों का रहस्यवाद और उसका हिन्दी पर प्रभाव	३५

१२. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में रहस्यवाद ३५
१२.१. कबीर ३६
१२.२. मध्यकाल के अन्य कवियों की रहस्यानुभूति ३७
१३. आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद ३७
१४. रहस्यवादी अवधारणाएँ ३८

२. जैन रहस्यवाद ३९-६०

१. उत्थापना ४१
२. जैन रहस्यवाद का स्वरूप ४१
३. सामान्य रहस्यवाद और जैन रहस्यवाद में अन्तर ४२
४. जैन रहस्यवाद का विकास ४५
५. प्राकृत वाङ्मय में समाहित रहस्यवाद ४५
५.१. कुन्दकुन्द का रहस्यवाद ४७
५.२. आचार्य शिवार्य के ग्रंथों में रहस्यवाद ५३
५.३. स्वामी कार्तिकेय और उनका रहस्यवाद ५३
५.४. आचार्य नेमिचन्द्र का साधनामार्ग ५४
६. संस्कृत वाङ्मय में निहित जैन रहस्यवाद ५५
६.१. आचार्य पूज्यपाद का रहस्यवाद ५५
६.२. आचार्य उमास्वामी ५५
६.३. आचार्य हरिभद्र का साधनामार्ग ५६
६.४. आचार्य शुभचन्द्र का रहस्यवाद ५६
७. अपभ्रंश भाषा में जैन रहस्यवाद ५७
८. हिन्दी जैन वाङ्मय में प्रतिपादित रहस्यवाद ५७
९. जैन रहस्यवाद के तत्त्व ५९

३. अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवि और उनके काव्य ६१-१२२

१. अपभ्रंशकालीन परिस्थितियाँ ६३
२. अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों की परम्परा ६४
२.१. कवि जोइन्दु और उनकी रचनाएँ ६४
२.२. महयन्दिण कवि और उनकी रचनाएँ ७६
२.३. मुनि रामसिंह और उनकी रचनाएँ ८२
२.४. कवि सुप्रभ और उनका वैराग्यसार ९१
२.५. महानन्द और उनकी रचना ९७
२.६. लक्ष्मीचन्द और उनकी रचना १०२
२.७. हेमचन्द और उनकी रहस्यवादी रचना १०६

२.८. जिनदत्तसूरि तथा उनकी रचनाएँ — १०६
२.६. कवि हरदेव और उनकी रचना 'मयणपराजय चरिउ' — ११५
२.१०. कवि रइधू और उनकी रचनाएँ — ११६
२.११. अपभ्रंश के अन्य कवि — १२१
२.१२ अपभ्रंश के जैन काव्यों में उपलब्ध रहस्यवादी तत्त्व — १२२

४. **अपभ्रंश के जैन कवियों की आध्यात्मिक विचारधारा और कबीर — १२३-१६९**

१. अपभ्रंश के जैन कवियों का ब्रह्म विवेचन और कबीर — १२७
२. अपभ्रंश के जैन कवियों का आत्मविचार और कबीर — १३६
३. अपभ्रंश के जैन कवियों का जगत्विचार और कबीर — १५१
४. अपभ्रंश के जैन कवियों का कर्मसिद्धात और कबीर — १६०
५. अपभ्रंश के जैन कवियों का मोक्षविचार और कबीर — १६८

५. **अपभ्रंश के जैन कवियों का साधनामार्ग और कबीर — १७१-२२१**

१. प्रास्ताविकम् — १७३
२. मनुष्य जन्म की दुर्लभता का चिन्तन — १७६
३. रागद्वेष, मोह तथा कषायों की बाधकता — १७६
४. अज्ञान का अभाव — १७६
५. सद्गुरु का महत्त्व — १८०
६. शिष्य की सत्यपात्रता — १८३
७. साधक की विरहाकुलता — १८४
८. ध्यान की अनिवार्यता — १८५
६. आश्रव निरोध तथा निर्जरा — १८७
१०. इन्द्रियसंयम की आवश्यकता — १८६
११. मनसंयम की आवश्यकता — १६२
१२. प्राणि–रक्षा — १६३
१३. अन्तरग–शुद्धि — १६६
१४. दश धर्म की आवश्यकता — १६७
१५. द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन — २०१
१६. सत्संग — २०५
१७. बाह्याडम्बर का निरसन — २०७
१८. व्यवहार साधनामार्ग — २१६
१६. सयोगकेवली अथवा जीवन्मुक्त की स्थिति — २१६
२०. निश्चय साधनामार्ग — २२०

६. अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति और कबीर २२३-२४३

१. प्रास्ताविकम् २२५

२. अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति का स्वरूप २२६

३. कबीर की रहस्यानुभूति का स्वरूप २३१

४. अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति और कबीर २३६

७. अपभ्रंश के जैन कवियों की अभिव्यंजना प्रणाली और कबीर २४५-२८०

१. प्रास्ताविकम् २४७

२. अपभ्रंश के जैन कवियों के पारिभाषिक शब्द और कबीर २४८

३. अपभ्रंश के जैन कवियों के प्रतीक और कबीर २७१

४. अपभ्रंश के जैन कवियों के अलंकार और कबीर २७४

५. अपभ्रंश के जैन कवियों के वाक्यप्रयोग और कबीर २७५

०. परिशिष्ट

आकर ग्रन्थ-सूची २८१

०. आशीर्वचन

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण–धर्म, स्वभाव, पर्याय होने के कारण प्रत्येक द्रव्य अनेकान्तात्मक है। जैसे अग्नि के एक होते हुए भी, उसमें उष्णता, पाचकता, दाहकता, प्रकाशकता आदि अनेक गुण–धर्म मौजूद हैं। उपर्युक्त गुणों के कारण एक ही अग्नि अनेक हो जाती है। विभिन्न गुणों की दृष्टि से अग्नि अनेक होने पर भी वे गुण सर्वथा, सर्वदा अग्नि को छोड़कर नहीं रहते हैं। जब एक व्यक्ति को प्रकाश की आवश्यकता होती है, तब वह अग्नि के प्रकाश गुण से कार्य लेता है, जैसे रात्रि में शास्त्राध्ययन करना है तो वह अग्नि के प्रकाश गुण का आलम्बन लेता है। यदि किसी व्यक्ति को खाना बनाना है, तो वह अग्नि के पाचकत्व गुण से कार्य लेता है। यदि किसी को शीत काल में उष्णता चाहिए तो वह अग्नि के उष्ण गुण का सेवन करता है। आवश्यकता या विवक्षा वश यदि एक व्यक्ति ने अग्नि के एक निश्चित गुण–धर्म का आलम्बन लिया, तथापि अन्यान्य गुण-धर्म विलोप नहीं होंगे। अनावश्यक या अविवक्षा के कारण अन्य धर्म गौण/अप्रयोजनभूत होने पर भी अन्यान्य गुण-धर्म का अस्तित्व रहता ही है। इसी प्रकार प्रत्येक चेतनाचेतन द्रव्य मे भी जान लेना चाहिए। अनादिकाल से अनेक सत्य जिज्ञासु, सत्य शोधक, सत्य के साक्षात्कारी महामानव हुए हैं, हो रहे हैं और होगे। वे सब अपनी साधना, सिद्धि, ज्ञानशक्ति के अनुरूप, अनन्त विराट् सत्यस्वरूप का जितने अश में साक्षात्कार करते है, उसके अनुरूप यथायोग्य अनुभव या अभिव्यक्ति करते हैं।

जब कुछ शताब्दी पहले धर्म, धन, जन सम्मान की जननी पुण्य–श्लोक भारत माता की गोद मे धर्म के नाम पर अधर्म, राज्यानुशासन के नाम पर अराजकता, समाज मे अव्यवस्था, गली–सड़ी अनावश्यक अन्ध परम्पराओं का भयंकर विध्वसकारी ताण्डव नृत्य हो रहा था तब एक तेजपुज, युगपुरुष, क्रान्तिकारी महापुरुष ने जन्म लेकर उस ताण्डव नृत्य से माता की गोद को मुक्त एवं सुरक्षित करने का प्रयास किया था। वह थे स्वनाम धन्य कवि कबीर। उन्होंने धर्म का मर्म जानने के लिए देश–विदेश मे पर्यटन करके, अनेक धार्मिक सन्त एव साहित्य का अध्ययन करके, नीति, नियम एवं सदाचार का प्रचार प्रसार किया।

वर्तमान युग, समन्वय, खोज/शोध का युग है। आज प्रत्येक क्षेत्र मे शोध–बोध, समन्वय हो रहा है, भले ही वह क्षेत्र धर्म का हो या विज्ञान अथवा साहित्य का। इसी श्रृंखला में डा० सूरजमुखी जैन का प्रयास एक कड़ी है। उन्होने अथक प्रयास करके जैन धर्म एवं कबीर के मत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने भाषा, परम्परा, मत, सिद्धान्तादि का यथा योग्य समन्वय करने का भगीरथ प्रयास किया है। इनके इस प्रयास से अखिल जीव जगत् को लाभ हो ऐसा मेरा शुभाशीर्वाद है। डा० सूरजमुखी को भी मेरा आशीर्वाद है कि वे भी जीव जगत् के कल्याण के लिए सत्साहित्य की सेवा करें। —उपाध्याय कनकनन्दी जी

०. आशीर्वाद

सत्य अखण्ड होता है, किन्तु अखण्ड सत्य वाच्य नहीं बनाया जा सकता। शब्द की सामर्थ्य सीमित है। अतः वह सत्यांश को ही वाच्य बना सकती है। किन्तु, सत्यांश को पूर्ण सत्य मानने से भ्रांतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, सम्प्रदाय व पक्षपात पनपते हैं। अतः शब्द एक बड़ी विडम्बना भी है।

सत्य का अनुभव होता है, सत्य एक है, अखण्ड है, देशकालातीत है। अतः जो भी, जब भी, जहाँ भी उसका रसास्वादन करता है, वह एक जैसा ही होता है। ऐसे भिन्न-भिन्न मनीषियों ने सत्य का मन्थन किया, अनुभव किया। उन सबकी एक जैसी अनुभूति थी। क्योंकि सत्य मेरा अलग तेरा अलग नहीं होता। अतः जैन ऋषियों ने जीवन में जो भी आत्मानुसन्धान किया, उसे अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं में लिपिबद्ध किया। उस साहित्य को आगे आने वाले निष्पक्ष साधकों ने पढ़ा, मनन किया और अनुभव की कसौटी पर परखा, उनमें कबीर जी का व्यक्तित्व ही इस प्रकार का है जो पाखण्ड से दूर, दुराग्रह से रहित, सत्य का खोजी तथा सत्य का पारखी रहा है। शब्दों के जंगल में बिखरे सत्य के मोतियों को बीनने में उनकी पैनी दृष्टि कभी चूकी नहीं है।

जैन सिद्धांत पूर्ण वैज्ञानिक है, जैन साधना तर्क, प्रत्यक्ष तथा अनुभव पर सदा प्रमाण रही है। इसलिए कबीर जैसे व्यक्ति उससे अछूते कैसे रह सकते थे। कबीर की सारी शिक्षा ही नही अपितु उनका आचरण भी जैन ऋषियों के रंग में रँगा है। अस्तु।

मैंने डा० श्रीमती सूरजमुखी जैन द्वारा लिखित "अपभ्रंश का जैन रहस्य-वादी काव्य और कबीर" शोध प्रबन्ध देखा।

लेखिका ने अपभ्रंश के जोइन्दु, महान्दिण, मुनि रामसिंह, सुप्रभाचार्य, महानन्द, लक्ष्मीचन्द, हेमचन्द, जिनदत्त सूरि, हरदेव रइधू, देवसैन आदि जैन कवियों के काव्यो मे उपलब्ध रहस्यवादी तत्त्वो का तो गहन तथा मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया ही है, साथ-साथ अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों की आध्यात्मिक विचारधारा, साधनामार्ग, रहस्यानुभूति, तथा अभिव्यंजना प्रणाली का कबीर पर क्या प्रभाव पड़ा, इसको स्पष्ट प्रदर्शित कर हिन्दी साहित्य एवं रहस्यवादी विचार-धारा को एक नया आयाम दिया है। इनका यह श्रमसाध्य कार्य उनकी प्रतिभा एवं लगन का एक अनूठा नमूना है। अतः मेरा उन्हें बहुत आशीर्वाद। वे इसी प्रकार अध्यात्म साहित्य की सेवा मे सदैव तत्पर रहें।

शुभाकांक्षी

माँ श्री कौशल

०. सम्प्रेक्षण

कोऽहं की आतुर जिज्ञासा से सोऽहं की स्वात्मानुभूति तक जितना भी सशय, कुतूहल, आश्चर्य, उद्वेग, संकल्प–विकल्प और ऊहापोह से पूर्ण मानस–मन्थन होता है वह सबका सब मानस व्यापार रहस्यवाद में अन्तर्भुक्त है। किसी तथ्य को किसी भी प्रकार से पूर्णतः न जान पा सकने का प्रयास ही रहस्य कहलाता है। मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, किसका भेजा आया हूँ, कहाँ आया हूँ, क्यों आया हूँ, जहाँ आया हूँ यह सब क्या है, इसकी रचना किसने की है, वह रचनाकार कैसा है, कहां है, उसकी यह रचना कब से है और कबतक रहेगी, वह कैसे रचता और समेटता रहता है, लोगो के साथ जो सुख–दुःख का झमेला लगा हुआ है वह किसने लगाया है, उससे कैसे छुटकारा मिल सकता है, ये सब जिज्ञासाएँ सब देशो और कालों में सब विचारशील, चिन्तन–मननशील तथा विवेकशील धीर पुरुषो के मन मे निरन्तर उठती रही है और सभी अपने-अपने संस्कार और अनुभव के आधार पर इन जिज्ञासाओं का अपनी-अपनी दृष्टि से सुस्थिर समाधान भी सुझाते रहे हैं। ये सब समाधान भी निश्चयात्मक न होकर रहस्यात्मक ही है किन्तु विचित्र बात यह है कि विभिन्न देशों और विभिन्न कालों, विभिन्न सस्कारो मे पले हुए महापुरुष लगभग एक सी ही वृत्ति के साथ समाधान प्रस्तुत करते हैं क्योंकि सदाचरण के उदात्त विचार शाश्वत और सनातन होते है।

बुद्ध, महावीर, कनफूची, लाओ–त्से, जरस्थ्रुस, मूसा, ईसा, मोहम्मद, शंकराचार्य सभी ने आत्मानुभूति या मोक्ष के लिए सत्त्व–शुद्धि या आत्म–शुद्धि को परमावश्यक बताया है। इसी उदात्त विचारधारा मे जैन आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा को कषायो से मुक्त करने के जो उपाय और विधान बताए है और जिनकी छाया लेकर अपभ्रंश के कवियों ने अपने उदात्त आध्यात्मिक विचार व्यक्त किए है वे सभी सुदूर पूर्व मे पूरबी बोली मे अपनी बानी कहनेवाले कबीर की उक्तियों मे भी यदि सम्प्राप्त हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योकि आत्मशुद्धि के लिए जितने भी आवश्यक तत्त्व हैं वे सभी देशकालाद्यवच्छिन्न हैं। जिस विचार–सरणि से इस प्रकार का चिन्तन और अनुभव होता है वह सब एक ही प्रकार का और एक ही प्रक्रिया से होता है। इस प्रकार की गवेषणा करने के लिए गुरु या मार्गदर्शक की भी आवश्यकता होती है, चरित्र की शुद्धि भी आवश्यक है, एकान्त साधना भी अपरिहार्य है इसलिये सब देशों के विचारशील महापुरुषों ने अपने-अपने देश की सांस्कारिक भूमिका के अनुसार इन जिज्ञासाओं का समाधान किया और कवि लोग साधक न होते हुए भी उनसे प्रेरणा लेते रहे। काव्यों मे जो रहस्यवाद है वह वास्तव में चिन्तनशील और अनुभवशील साधकों के अनुभव–क्रम की छाया ही है। भाषा–प्रयोग की दृष्टि से कहा गया है—

गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ॥
आवन्त्याः पारियात्राः सहृदशपुरजाः भूतभाषां भजन्ते ।
यो मध्ये मध्यदेशे निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः ॥
[गौड अर्थात् बंगाल आदि के कवि संस्कृत में, लाटया गुजरात के कवि प्राकृत में, मरुस्थल, टक्क और भादानक अर्थात् राजस्थान के कवि अपभ्रंश में, अवन्ती, पारियात्र पर्वत और दशपुर अर्थात् वर्त्तमान उज्जैन के चारो ओर के कवि पैशाची मे और मध्यदेश अर्थात् हिमालय और विन्ध्य के बीच वर्त्तमान उत्तर प्रदेश के कवि सब भाषाओं मे रचना करते हैं।]

इसलिये स्वभावतः राजस्थान के पश्चिमी और गुजरात के पूर्वी भाग में जो अपभ्रंश भाषा तत्कालीन लोक-भाषा थी उसमें अपने दार्शनिक और आध्यात्मिक विचार जनता तक पहुँचाने के लिए कवियों ने अपभ्रंश भाषा मे रचनाएँ कीं। इसी प्रकार कबीर ने अपनी "पुरबली" (पूर्वी अर्थात् बनारसी) भाषा मे रचना की और वह रचना कभी-कभी बहुत ही गूढ रहस्यवादी हो गई जैसे वे अपनी एक उलट बाँसी में कहते है—

नाव में नदिया डूबी जाय।
चीटी चली असनान को, नौ मन काजर लाय ॥
हाथी मार बगल में लीन्हा, ऊँट लियो लटकाय ॥
एक अचम्भा मैंने देखा, बन्दर दूहै गाय ॥
दूध-दूध तो आप पी जावै, घिया बनारस जाय ॥

[नाव अर्थात् जीव में नदी अर्थात् ब्रह्म आकर समा जाता है जब जीव सोऽहं की अनुभूति कर लेता है। रहीम ने निम्नांकित दोहे में यही कहा भी है—

बिन्दु मे सिन्धु समान यह अचरज कासो कहौं ॥
हेरनिहार हेरान, रहिमन आपुहि आपु में ॥

यही तो निर्विकल्प समाधि की अवस्था है। इसके लिये आत्मशुद्धि कैसे होती है इसका विवरण देते हुए कबीर कहते हैं—चीटी (जीव) जब स्नान (आत्मशुद्धि)—के लिये चलता है तब वह हाथी (काम)—को मार डालता है और ऊँट (अभिमान)—को लटकाकर चलता है कि इसे भी समाप्त कर दूँगा। वह अपने जितने काजर (पाप, दोष, अवगुण, कषाय) हैं सब साथ लिए चलता है अर्थात् आत्मशुद्धि से पहले वह सबको नष्ट कर डालता है। उसके पश्चात् जो आश्चर्य की बात होती है वह यह है कि वह सम्पूर्ण दूध (ज्ञान) तो स्वयं आत्मसात् कर लेता है और उसका घी (तत्त्व) बनारस वालों में बाँट देता है अर्थात् तत्त्व को अपनी सधुक्कडी भाषा में जनता को बता देता है।

रहस्यवादी रचनाओं को समझने के लिये रहस्यवाद का तत्त्व जान लेना

आवश्यक है। रहस्यवाद के तीन सोपान हैं—ज्ञान, साधना और अनुभूति। ज्ञान मिलता है गुरु से इसलिए सभी रहस्यवादियों ने गुरु की महिमा और आवश्यकता अपरिहार्य बताई है। साधना करना आत्मशुद्धि कर चुकनेवाले साधक का काम है और साधना सफल हो जाने पर ही उसे आत्मानुभूति होती है। किन्तु जब आत्मानुभूति हो जाती है तब साधक उसे व्यक्त नहीं कर पा सकता। वह गूंगे का गुड हो जाता है। इसलिये संपूर्ण रहस्यवादी अभिव्यक्ति साधनाकाल मे ही होती है। इस रहस्यवादी अभिव्यक्ति की छह भूमिकाएँ या अवस्थाएँ हैं— जिनमें से पहली है 'जिज्ञासा'। जैसे कबीर ने कहा है—

काहे रि नालिनी तू कुम्हलानी।
तेरे हि नाल सरोवर पानी ॥
जल में उतपति जल में बास।
काहे रि नलिनी फेर उदास ॥
ना तल तपति न ऊपरि आग।
तोर हेत कहु का सन लाग ॥

[हे नलिनी (जीव) तू क्यों कुम्हलाया हुआ है, क्यों दुखी है क्योंकि जल (ब्रह्म या परमात्म तत्त्व)–से तू उत्पन्न हुआ है, उसी मे रह रहा है क्योंकि आत्मा परमात्मा सर्वव्यापक है। फिर तू क्यों दुखी है? न तो तेरे नीचे कोई ताप देनेवाला है और न ऊपर ही है अर्थात् कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो तुझे दुःख पहुँचा सके तो यह बता कि तेरा हेत (सम्बन्ध) किसमे हो गया है? अर्थात् तू कषायो से, दोषो से, सांसारिक प्रलोभनों से, षड् विकारों से युक्त हो गया है इसीलिये तुझे परमात्म तत्त्व नही मिल रहा है।]

दूसरी भूमिका है कुतूहल। सब जीवों मे, सब वस्तुओं मे वही परमात्म तत्त्व दिखाई दे रहा है, उसी की झलक मिल रही है किन्तु—

न तेरी सि रगत न तेरी सि बू है।
जिधर देखता हूँ उधर तू हि तू है ॥

तीसरा तत्त्व है द्विविधापूर्ण उद्वेग। कि जब तू सब मे व्याप्त है और सबके भीतर बसा हुआ है तब लोग दुखी क्यों हैं।

चौथा तत्त्व है अनिश्चयता जिसमे साधक कुछ भी निश्चय नही कर पाता और यही समझता है कि सम्भवत: यह भी हो, यह भी हो।

पाँचवा तत्त्व है असमर्थता अर्थात् यह जान लेने पर भी कि वह सर्वव्यापक है फिर भी दिखाई क्यों नहीं देता और इतना प्रयत्न करने पर भी मुझे उसकी झलक तक नही मिल पाती। कबीर ने उस आत्मतत्त्व के स्वरूप से ही कहलाया है– "मुझको कहाँ ढूंढ़ता बन्दे, मैं तो तेरे पास में।" किन्तु यह जानकर भी साधक उसे देख पाने और समझ पाने में असमर्थ है कि वह मेरे भीतर बैठा हुआ है।

और छठा तत्त्व है विवशता अर्थात् ज्ञान की समस्त भूमिकाओं को पार कर

लेने के पश्चात् भी यह समझ में नहीं आ रहा है कि तू कैसा है और कितना है, जिसे सूरदास ने इन शब्दों में कहा है—"अविगत गति कछु कहत न आवै।"

इन छह भूमिकाओं को पार करने के पश्चात् जब स्वात्मानुभूति हो जाती है तब कोई साधक उसके सम्बन्ध में कुछ कह नहीं पा सकता क्योंकि—"जानत तुम्हहिं, तुम्हहिं होइजाइ।" तथा "ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति।"—फिर वह किसी को क्यों कुछ बतलाने लगा, वह तो स्वयं चिन्मय, आनन्दमय, ज्ञानमय हो जाता है। इसलिये समस्त रहस्यवादी रचनाएँ साधना की अवस्थाओं में ही अभिव्यक्त होती हैं।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि श्रीमती सूरजमुखी जैन ने अत्यन्त मनोयोग, परिश्रम, विवेक, गहन अध्ययन और विश्लेषण के द्वारा अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों की रचनाओं का और कबीर की रहस्यवादी बानी का अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण तुलनात्मक विवेचन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ के मनन से यह स्पष्ट है कि परम विदुषी श्रीमती जैन ने पूर्ण निष्ठा, श्रद्धा और विश्वास के साथ अपभ्रंश के रहस्यवादी साहित्य का और कबीर की बानी का गम्भीर अनुशीलन और परिशीलन करके अत्यन्त युक्तियुक्त प्रणाली से दोनों का समुचित विवेचन किया है।

मैं श्रीमती जैन को इस परम वैदुष्यपूर्ण ग्रंथ के प्रणयन के लिये साधुवाद और बधाई देता हूँ और विश्वास करता हूँ कि जैन साहित्यकार और हिन्दी का विद्वत्समाज इस ग्रंथ का समुचित आदर करेगा।

-सीताराम चतुर्वेदी
वेदपाठी भवन
मुजफ्फरनगर

०. भूमिका

आज जब डा० सूरजमुखी जैन का यह शोध-प्रबन्ध प्रकाशित होने जा रहा है, तो मुझे वे सारे प्रसग स्मरण आ रहे हैं, जिन्हें लेकर मैंने इस विषय पर अनुसंधान कार्य कराने का निश्चय किया था। सबसे पहले स्मरण आ रही है सन् १९६० के दिसम्बर की कलकत्ता यात्रा। भारतीय हिन्दी परिषद् का वार्षिक अधिवेशन उन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय के निमन्त्रण पर वहीं सम्पन्न हुआ था। अधिवेशन की समाप्ति के अनतर कलकत्ता के महत्त्वपूर्ण स्थलो को देखने के लिए मैं वही ठहर गया था। संयोग से मेरे छोटे भाई चि० महेश मिश्र वहाँ थे, आज भी हैं, और मेरे सहपाठी प्रो० कल्याणमल लोढा उन दिनो कलकत्ता विश्वविद्यालय मे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। इन दोनों आत्मीयजनों ने अन्य दर्शनीय स्थलो के साथ कलकत्ते के जैन मन्दिर को भी देखने का परामर्श दिया था। उन्हीं की प्रेरणा से मैं जब जैन मन्दिर देखने गया था, तो उसकी दीवारो पर जैन कवियों की वाणियों को पढकर आश्चर्यचकित रह गया था। उन पदावलियो में मुझे जीवन यापन के वे सूत्र पढने को मिले थे, जिन्हे मैं अब तक संत कवियो की वाणियो मे पढता रहा था। उन पदावलियो मे से अनेक मे आध्यात्मिक चेतना की रहस्यात्मक अनुभूतियों को भी अभिव्यक्ति मिली थी। अनेक रचनाओं मे साधनामार्ग का भी निरूपण था, और साधक के लिए विधि-निषेध भी बताये गये थे। यह सारी सामग्री भी सत कवियों की वाणियों से पर्याप्त मिलती-जुलती थी। यह सब देखकर मेरे मन में प्रश्न उठा था कि किसने किससे ग्रहण किया है ?

सन् १९६० मे ही लखनऊ विश्वविद्यालय से मुझे अपने शोधकार्य के लिए डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई थी। उन दिनों मै सनातन धर्म कालेज मुजफ्फरनगर मे स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग का अध्यक्ष था। मेरे छात्रो और सहयोगी अध्यापको ने, एक विशेष आयोजन किया था, और उसमे काशी की नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, 'हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास' के दो खण्ड मुझे प्रदान किये गये थे। इस इतिहास के प्रथम भाग मे, जो पूर्वपीठिका के रूप मे था, अपभ्रंश भाषा और साहित्य का विस्तृत निरूपण था। अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन में जैन कवियों के अध्यात्मवादी (रहस्यवादी) काव्य का भी निरूपण था। जैन अध्यात्मवादी कवियों मे जोइन्दु (योगीन्द्र) के 'परमात्मप्रकाश' 'योगसार', तथा 'सावयधम्म दोहा' पर कुछ विस्तार मे विचार किया गया था। इसी प्रकार मुनि रामसिंह के 'पाहुडदोहा' की विषयवस्तु का भी कुछ विश्लेषण था। इस विवेचना को पढ़कर, मुझे उस प्रश्न का उत्तर मिल गया था, जो कलकत्ते के जैन मन्दिर मे मेरे मन मे खड़ा हुआ था। जैन मन्दिर की दीवारों पर लिखित पदावली सन्त कवियों के पहले की थी। अब मेरे मन में प्रश्न उठा कि अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों ने हिन्दी के सन्त कवियो को कहाँ तक प्रभावित किया है ?

श्रीमती सूरजमुखी जैन ने एक दिन मुझसे अनुसंधान कार्य की इच्छा प्रकट की तो मैंने उन्हें जैन रहस्यवादी कवियों के प्रभाव विषय को लेकर अनुसंधान कार्य करने का सुझाव दिया। उन्होंने अपने 'आरा' के गुरु डा० नेमिचन्द जैन से परामर्श करने के उपरान्त बताया कि गुरु जी ने स्वीकृति दे दी है और वे यथासंभव इस अध्ययन में उनकी सहायता भी करेंगे। उसके बाद मैंने आगरा विश्वविद्यालय के कुलसचिव के पास, आवश्यक कागज-पत्रों सहित डा० सूरजमुखी जैन का आवेदन-पत्र अनुसंधान कार्य की स्वीकृति के लिए भेज दिया था।

कुछ महीनों बाद मुझे आगरा विश्वविद्यालय के कुलसचिव का पत्र मिला कि अपभ्रंश के जोइन्दु और रामसिंह नाम के जिन कवियों का प्रभाव कबीर पर खोजने का कार्य आप कराना चाहते हैं हमारे विश्वविद्यालय की अनुसधान समिति के विशेषज्ञों का कहना है कि उन्हे उनकी कोई जानकारी नही है। अतः उनका कहना है कि अपभ्रंश के इन दोनों कवियों के सम्बन्ध में विस्तार से सूचना दें। इस प्रश्न के उत्तर में मैंने लिखा कि जोइन्दु और रामसिंह की रचनाओ का उल्लेख हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास के प्रथम भाग में पृष्ठ ३४६-४८ तथा ३६८-४०३ पृष्ठों में है। मैंने उस पत्र में इन कवियों की कुछ रचनाएँ भी उद्धृत की थी और यह दिखाया था कि वैसी ही भावधारा और चिन्तन-पद्धति कबीर, दादू, नानक आदि की रचनाओं मे भी मिलती है। उसके बाद यह शोध विषय स्वीकृत हो गया था।

श्रीमती जैन ने बड़े परिश्रम से यह कार्य सम्पन्न किया था। प्रायः वे कुछ अध्यायों को लिखकर उन्हें अपने गुरु डा० नेमिचन्द जैन को दिखा लाती थीं और उसके बाद मेरे सामने उपस्थित करती थीं। अतः इस अनुसंधान कार्य के लिए समुचित निर्देशन का सम्पूर्ण श्रेय मै परम आदरणीय डा० नेमिचन्द जैन को देना हूँ। आज वे नही है। अगर वे होते तो सम्भवतः उन्हे इस ग्रंथ को प्रकाशित देखकर मुझसे भी अधिक प्रसन्नता हुई होती। यह शोध-प्रबन्ध अगर पहले प्रकाशित हो गया होता, तो संभवत. सन्त कवियों के अध्ययन में जैन कवियो के योगदान की भी चर्चा होती। मुझे विश्वास है कि अब जो सन्त कवियो के अध्ययन प्रकाशित होगे एव जो हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे जायेंगे, उनमें डा० सूरजमुखी जैन के इस अनुसधान कार्य की थोडी बहुत चर्चा अवश्य होगी। इस शोध-प्रबन्ध के सन्दर्भ मे यह उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है कि वरिष्ठ साहित्याचार्य प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका मूल्यांकन किया था मौखिक परीक्षा भी ली थी उन्होंने श्रीमती जैन के कार्य की विशेष प्रशंसा की थी और इसके यथा सम्भव शीघ्र प्रकाशन का परामर्श दिया था।

इस शोध-ग्रन्थ के प्रकाशन में मेरे आत्मीय डा० कमलसिंह जी ने जो रुचि ली है, वह सर्वथा सराहनीय है। मुझे विश्वास है कि वे भविष्य में भी इस प्रकार के ग्रन्थों के प्रकाशन में भली प्रकार रुचि लेते रहेंगे।

४७/४ कबीर मार्ग, क्ले स्क्वायर, लखनऊ-२२६००१ (विश्वनाथ मिश्र)

०. आमुख

'अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर' श्रीमती सूरजमुखी जैन कृत एक व्यवस्थित, गम्भीर और मौलिक शोध-प्रबन्ध है। अपभ्रंश का रहस्यवाद मुख्यतः जैन रहस्यवाद है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में अपभ्रंश के जैन कवियों के रहस्यवाद के आलोक में कबीर के रहस्यवाद का मूल्याङ्कन किया गया है। अपभ्रंश के जैन कवियों के रहस्यवाद से हिन्दी के निर्गुण कवियों के प्रभावित होने की सूचना इसके पूर्व हिन्दी जगत् को न रही हो, ऐसा नही है। आज से चौवालीस वर्ष पूर्व सन् १९५२ में ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा था—"जब जैन साधक जोइन्दु कहते हैं कि देवता न तो देवालय में है, न शिला मे, न चन्दन प्रभृति लेप्य पदार्थों में और न चित्र में—वह अक्षय निरजन ज्ञानमय शिव तो समचित्त में निवास करता है, तो यह भाषा वस्तुतः उस युग के अन्यान्य मतानुयायी साधकों की भाषा से भिन्न नही है। यह परम्परा बाद मे कबीर आदि निर्गुण मत के साधको में ज्यों की त्यो चली आई है।"[1] और इसके बाद डा० प्रेमसागर जैन ने १९६२ ई० में कहा था—"मध्यकाल के प्रसिद्ध मुनि रामसिंह का 'पाहुड़ दोहा' अपभ्रंश की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमे वे सभी प्रवृत्तियाँ मौजूद थी, जो आगे चलकर हिन्दी के निर्गुण काव्य की विशेषता बनी। उनमे रहस्यवाद प्रमुख है।"[2] लगभग इसी समय 'अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद' का अध्ययन डा० वासुदेव सिंह ने प्रस्तुत किया। इससे जैन रहस्यवाद के अध्ययन की दिशा मे थोडी प्रगति अवश्य हुई किन्तु जैन धर्म के अनुयायी सभी रहस्यवादी कवियो की अपभ्रंश रचनाओं के व्यापक एव गहन अध्ययन के आलोक मे कबीर के रहस्यवाद के विवेचन की आवश्यकता अभी बनी हुई थी। श्रीमती सूरजमुखी जैन ने यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करके हिन्दी जगत् का बडा उपकार किया है।

अबतक कबीर के निर्गुण राम को अद्वैत वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म, सूफियों के निर्गुण ईश्वर, योगियो के 'द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्त्व', कश्मीरी शैव साधको के 'ईश्वराद्वय' के साथ सम्बद्ध करके देखने की कोशिश की गई थी। श्रीमती जैन ने उसे 'अनेकान्तवाद' के सन्दर्भ मे व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार—"अपभ्रंश के जैन कवियों के इस 'निष्कल' तथा 'निरजन' के समान ही कबीर ने अपने निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित किया है। इन्होंने निर्गुण मे गुण और गुण में निर्गुण को ही सत्य माना है और अवशिष्ट सबको धोखा कहा है। उनका ब्रह्म सत्त्व, रज और

१- देउण देउले णवि सिलए,
णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखय णिरजणु णाण घणु
सिउ सठिउ समचित्ति ॥ —परमात्मप्रकाश, १-१२३

२- जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठ भूमि, भूमिका, पृष्ठ ८।

तम से रहित होने के कारण निर्गुण तथा घट-घट में व्याप्त होने के कारण सगुण है, वह भाव रूप भी है और अभाव रूप भी, निराकार भी है, साकार भी, द्वैत भी है, अद्वैत भी। कबीर की दृष्टि में गुण और निर्गुण केवल तारतम्य बताने के लिए ही है, भगवान् को निर्गुण कहने का अर्थ यह नहीं कि वह दृश्यमान गुणों से बाहर या विरुद्ध है, अपितु इसका तात्पर्य है कि जिस रूप और सीमा को हम देख रहे हैं वह अरूप और असीम को ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर सकती। भगवान् न तो वह रूप है, न उसके समान ही वह उससे अतीत है, परे है।"[1] श्रीमती जैन ने गहरी निष्ठा और समर्पण भाव से अपभ्रंश के जैन कवियों तथा कबीर की आध्यात्मिक विचार-धारा, साधनामार्ग, रहस्यानुभूति और अभिव्यञ्जना प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने की बात है कि उन्होंने कबीर पर वेदान्त, बौद्ध तथा नाथ मत के प्रभाव का निषेध नहीं किया है। इन सभी के प्रभाव के साथ वे जैन कवियों के प्रभाव की बात भी कहती है। कबीर ने जिन रहस्यवादी तत्वों को जैन कवियों से ग्रहण किया है उन्हे सूत्रबद्ध करते हुए उन्होंने कहा है—"हमारी दृष्टि में कबीर ने निम्नलिखित रहस्यवादी तत्व अपभ्रंश के जैन कवियों से ग्रहण किया है"—

१. सोऽहम् की भावना, २. आत्मानुभूति की महत्ता, ३. आत्मतत्त्व की सर्वोपरि सत्ता, ४. रागद्वेषादि की अनित्यता और आत्मा की नित्यता, ५. गुरु की महत्ता, ६. आत्मास्था की प्रतिष्ठा, ७. चरित्र शुद्धि, ८. शुद्धि के लिए ध्यान या योग की आवश्यकता, ९. शरीर को ही साधना केन्द्र रूप मे स्वीकृति, १०. विवेक या ज्ञान की प्रतिष्ठा, ११. बाह्याचार का निरसन।

सामान्य रहस्यवाद से जैन रहस्यवाद का अन्तर दिखाते हुए श्रीमती जैन ने कहा है—"सामान्य रहस्यवाद और जैन रहस्यवाद का साधनामार्ग भी भिन्न है। यद्यपि मध्यकालीन जैन कवियों ने सामान्य रहस्यवाद की शब्दावली का प्रयोग किया है, प्रतीकों द्वारा अपनी रहस्यमूलक भावनाओं की अभिव्यञ्जना भी की है, दाम्पत्य सम्बन्ध भी स्थापित किया है। किन्तु परमात्मा बनने के लिए आत्मा का 'गुण स्थान' आरोहण आवश्यक है।"[2] जैन मत का यह 'गुण स्थान' पारिभाषिक शब्द है। मिथ्यात्व से लेकर सिद्धि की अन्तिम श्रेणी तक पहुँचने की आध्यात्मिक यात्रा के बीच आने वाले सोपानों को 'गुण स्थान' कहा जाता है। इनकी संख्या चौदह मानी जाती है। इनका निदर्शन बड़ा ही मनोवैज्ञानिक और सुचिन्तित है। आठ प्रकार की योग दृष्टियों का अवलम्बन लेकर सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना के बल पर चौदहों गुणस्थानों का आरोहण करके आत्मा परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। परमात्मपद को प्राप्त करने के लिए आरोहण क्रम में जीव की आकुलता स्वाभाविक है। इसी आकुलता को जैन कवियों ने दाम्पत्य

१— 'अपभ्रंश का रहस्यवाद और कबीर', पृष्ठ १२८

२— वही, पृष्ठ ४२-४३

प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने हठयोग की शब्दावली का भी प्रयोग किया है। हठयोग तंत्र से प्रभावित है। किन्तु जैन कवियों की रहस्यानुभूति उनकी अपनी साधना पद्धति की ही काव्यात्मक परिणति है। उस पर तांत्रिक प्रभाव नहीं है। ऐसा कहना इसलिए भी आवश्यक है कि आज बहुत से विद्वान् समूची मध्यकालीन साधना को आगमिक प्रमाणित कर रहे हैं। कबीर प्रवर्तित निर्गुण संतमत के विषय मे तो उनका निर्भ्रान्त मत है—"संत साहित्य की वैचारिक दृष्टि आगम सम्मत है—अतः इसमें व्यक्त उक्तियों के साक्ष्य पर यह सर्व प्रथम निर्भ्रान्त स्थापना की गई है कि सन्तो का परमतत्त्व एकेश्वरवाद और शाकर ब्रह्मवाद के अनुरूप तो है ही नहीं—डा० बड़थ्वाल के अनुसार किसी का शाकर अद्वैत, किसी का विशिष्टाद्वैत और किसी का भेदाभेद भी नही है। इन सभी पूर्ववर्ती स्थापनाओ का खण्डन करते हुए इस बात की दृढ़ता से स्थापना की गई है कि संत-मत का चरमतत्त्व 'द्वयात्मक अद्वय' है—'समरस' है—आगम सम्मत 'अद्वय' है।"[1] जितने विश्वास से उपर्युक्त पक्तियो मे डा० रामभूर्ति त्रिपाठी ने कबीर और उनके सत मत मे मान्य परमतत्त्व को आगम 'सम्मत अद्वय' कहा है उतने ही विश्वास से श्रीमती जैन ने उन्हे 'अनेकान्तवादी' प्रमाणित किया है। श्रीमती जैन के प्रतिवाद या विरोध न करने का कारण शायद उनका अनेकान्तवादी होना है। अनेकान्तवादी अन्य मतो का विरोध नही करता।

श्रीमती जैन का अनुमान है—"कबीर घुमक्कड साधु थे। उन्होंने सभी सम्प्रदाय के साधुओ के साथ सत् सगति की थी। फलतः कबीर पर अपभ्रंश के जैन कवियो का प्रभाव पडना कोई आश्चर्य की बात नही है।"[2] इस अनुमान को निराधार नही कहा जा सकता। वस्तुतः फक्कड, स्पष्टवादी, मस्तमौला तथा झूठ और ढोंग के प्रति प्रखर कबीर के भीतर एक दूसरे अत्यन्त कोमल, सहृदय, विनयशील, अहिंसक, आस्तिक, स्नेही और सत्यनिष्ठ कबीर की आत्मा विद्यमान है, जो सम्यक्-दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर विश्वास करती है, जो यह नही मानती कि सत्य उतना ही है जितना उसे दिखाई पड रहा है या जितना किसी अन्य द्रष्टा ने देखा है, जो बार-बार अनेक रूपो मे परमतत्त्व का निर्वचन करने के बाद भी यह अनुभव करती है कि अभी बहुत कुछ रह गया, अभी बहुत कुछ शेष है। श्रीमती जैन ने इसी आत्मा को पहचानने और उभारकर रखने की कोशिश की है। उनका अनेकान्तवादी जैन दृष्टि से किया गया यह मूल्याङ्कन कबीर के अध्ययन की दिशा मे एक सर्वथा नवीन और मौलिक प्रयास है। मैं इसका हृदय से स्वागत करता हूँ। मेरा विश्वास है कि यह शोध कृति विद्वत् जनों के बीच प्रतिष्ठा और आदर प्राप्त करेगी।

गोरखपुर **—रामचन्द्र तिवारी**

१— तंत्र और संत, डा० रामभूर्ति त्रिपाठी, पृ० ४३३

२— अपभ्रंश का रहस्यवाद और कबीर, पृ० ७

०. दो शब्द

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।

इन पंक्तियों में जैन रहस्यवाद का कितना सुन्दर चित्रण किया है पू० सहजानन्द जी ने । कोऽहम् का उत्तर किन सरल शब्दों मे सँजोया गया है । रहस्यवाद या अध्यात्मवाद की पावन मन्दाकिनी को बहानेवाले तो मूलत: प्राकृत के अद्वितीय विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द आदि ही हुए हैं परन्तु, अपभ्रंश के जैन कवियों का काव्य भी रहस्यवाद से ओत:प्रोत है । यद्यपि उनका यह काव्य धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत आता है पर किसी भी तरह इनको साहित्यिक कोटि से अलग नही किया जा सकता । इसकी पुष्टि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी निम्न शब्दों में की है—"जैन अपभ्रंश रचित काव्यों में जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई, वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय की मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नही है ।"

मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ? मुझ में राग–द्वेष आदि की प्रवृत्ति क्यों और कैसे हुई? मैं इस प्रवृत्ति से कैसे छुटकारा पा सकता हूँ ? कर्म-बन्धन का कारण रागादि ही तो हैं, यही मुक्ति में बाधक हैं । सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान और सम्यक्‌-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, इन विषयो पर पूर्वाचार्यों द्वारा किए गए विशद विवेचन के आधार पर अपभ्रंश के जैन कवियों ने अपनी सशक्त लेखनी द्वारा रहस्यवाद का अत्यन्त मनोहर चित्र प्रस्तुत किया है ।

'अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर' इस शोध प्रबन्ध मे डा० सूरजमुखी जैन ने बहुत ही सुन्दर व खोजपूर्ण ढँग से जैन रहस्यवादी कवियो का कबीर पर प्रभाव दर्शाया है । सोऽहम् की भावना, आत्मानुभूति की महत्ता, आत्मतत्त्व की सर्वोपरि सत्ता, रागद्वेषादि की अनित्यता, आत्मा की नित्यता, चरित्रशुद्धि की अनिवार्यता एव ध्यान की आवश्यकता जिन शब्दों में और जिस प्रकार अपभ्रंश के कवियो ने दर्शायी है, लगभग उन्ही शब्दों मे और उसी प्रकार कबीर के काव्यों मे दृष्टिगोचर होती है ।

डा० सूरजमुखी जी की पैनी दृष्टि उनको खोजने में ही सफल नहीं रही अपितु उनको अनूठे ढँग से प्रस्तुत करने मे भी सक्षम रही है । डा० सूरजमुखी जी के विचार मौलिक, स्वतन्त्र एवं खोजपूर्ण हैं, साथ ही उनका प्रस्तुत करने का ढँग भी निराला है ।

यह ग्रन्थ हमें, मैं कौन हूँ, क्या हो रहा हूँ, कैसे वही बन सकता हूँ जो मैं निश्चय से हूँ, आदि का ज्ञान कराने के लिए दीपक के समान है और उस मार्ग पर बढ़नेवालों का मार्गदर्शन करने तथा मंजिल तक ले जाने में पूर्णत: सक्षम है ।

मुजफ्फरनगर — डा० मूलचन्द जैन

०. आत्मनिवेदन

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का निर्देशन श्रद्धेय डा० विश्वनाथ मिश्र, एम० ए०, पी–एच० डी०, डी० लिट्० पूर्व प्राचार्य सनातन धर्म कालेज मुजफ्फरनगर ने किया है। आपने अपने अनेक आवश्यकीय कार्यों के बीच समय निकालकर अत्यन्त सहृदयता और बुद्धिमत्तापूर्वक मेरा मार्गदर्शन किया है, इसके लिए मैं आपकी चिर ऋणी रहूँगी। इसके अतिरिक्त इस शोध–प्रबन्ध के प्रणयन में मुझे जिन स्वजनो की सहायता प्राप्त हुई है, उनमें सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी तथा जैन दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् और मेरे पितातुल्य गुरुवर स्वर्गीय ज्योतिषाचार्य, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री एम० ए० (सम्कृत, प्राकृत, हिन्दी) पी–एच० डी०, डी० लिट्० पूर्व अध्यक्ष सस्कृत, प्राकृत विभाग, जैन कालेज, आरा का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। आपके अगाध स्नेह एव विद्वत्तापूर्ण निर्देशन के परिणाम स्वरूप ही यह शोध–प्रबन्ध इस रूप मे प्रस्तुत हो सका है। उनके व्यक्तिगत सुशीला ग्रन्थालय का जिस स्वतन्त्रता के साथ मैंने उपयोग किया है और उसमे जो विपुल सामग्री मुझे उपलब्ध हुई है, वह कल्पनातीत है। अत: उनके चरणों मे मैं श्रद्धापूर्वक नतमस्तक हूँ। इस शोध–प्रबन्ध के लिए आवश्यक अपभ्र श की अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियो की प्राप्ति मुझे डा० राजाराम जैन, एम० ए०, पी–एच० डी० जैन कालेज आरा से प्राप्त हुई है, अत: उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी मै अपना परम कर्तव्य समझती हूँ।

वस्तुत: शोध–प्रबन्ध लिखना एक ऐसा महान् कार्य है जो अनेक सहायको की सहायता के बिना कदापि पूर्ण नही हो सकता। मैं अपने पतिदेव श्री शीतलप्रसाद जैन एम० ए० (हिन्दी, सस्कृत) के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ, जिनकी प्रेरणा से मैं इस पुनीत कार्य मे प्रवृत्त हुई और जिनके सौजन्य एव सक्रिय सहयोग से ही अनेक गार्हस्थिक झंझटो के रहते हुए भी इसके समापन मे मैं समर्थ हो सकी। इस अवसर पर मै अपने पूज्य माता–पिता के साथ अनुज श्री सूरजसेन कुमार जैन, आरा की भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मुझे यथेष्ठ सहयोग प्रदान किया है। अपने सुपुत्र चि० आलोक तथा चि० अरविन्द के साथ सुपुत्री आयुष्मती अमिता की भी मैं मगल कामना करती हूँ, जो मुझे स्वस्थ रखने तथा गृहकार्यों से मुक्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। मैं अपनी दिवगता पुत्री कुमारी अलका की आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करती हूँ, जो अपने जीवनकाल में अल्पवय तथा अध्ययन का गुरुतर भार होने पर भी मेरे समस्त गृहकार्यों मे हाथ बटाकर मुझे आवश्यक सुविधा प्रदान करती रही, किन्तु असामयिक निधन के कारण मेरे शोध–प्रबन्ध के सम्पन्न होने से उपलभ्य आनन्दानुभूति से वञ्चित रह गयी। मैं उन समस्त स्वजनों के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने शोध–प्रबन्ध के लेखन में मुझे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी प्रकार का सहयोग प्रदान किया है।

परमपूज्य, चारित्रचक्रवर्ती, अध्यात्मशिरोमणि उपाध्याय १०८ श्री कनक नन्दी महाराज तथा ज्ञानमूर्ति, तपस्विनी पूज्या माँ श्री कौशल के आशीर्वाद से मुझे अपने शोध–प्रबन्ध के प्रकाशन की प्रेरणा प्राप्त हुई। अत: मैं उक्त दोनों महान् विभूतियो के पावन चरणों में शत-शत नमन करती हुई चिरकाल तक उनके वरद हस्तों की छत्रछाया की प्राप्ति की प्रार्थना करती हूँ।

अनेक भाषाओ मे पारंगत, संस्कृत, प्राकृत एव हिन्दी साहित्य के उद्भट विद्वान्, अभिनव भरत, डा० सीताराम चतुर्वेदी ने अत्यंत व्यस्त होते हुए भी 'सप्रेक्षण' लिखकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया, सन्त साहित्य के मर्मज्ञ डा० रामचन्द्र तिवारी ने 'आमुख' एवं श्रद्धेय डा० विश्वनाथ मिश्र ने अपना बहुमूल्य समय देकर ग्रन्थ पर 'भूमिका' लिखने का अनुग्रह किया तथा जैन धर्म और अध्यात्म के विशेषज्ञ डा० मूलचन्द जैन ने 'दो शब्द' लिखकर ग्रन्थ पर अपना मन्तव्य व्यक्त किया है। मैं आप सभी सहृदय विद्वानो की हृदय से आभारी हूँ। मुझे विश्वास है कि भविष्य मे भी मुझे आप सभी से सदैव प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी।

अन्त मे मैं सनातन धर्म कालेज, मुजफ्फरनगर के हिन्दी विभागाध्यक्ष, संस्कृत, हिन्दी तथा अपभ्रंश साहित्य के विद्वान् डा० कमलसिंह को शतश: धन्यवाद देती हूँ, जिन्होने ग्रथ के प्रकाशन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व लेते हुए मुझे सभी चिन्ताओ से मुक्त कर ग्रंथ को प्रस्तुत रूप देने का कष्टसाध्य कार्य किया है। आदरणीय डा० शुकदेव श्रोत्रिय ने जिस उत्साह और तत्परता के साथ मुखपृष्ठ की सज्जा की है, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

शोध की अवधि मे मैंने जिन ग्रथालयो का उपयोग किया है—उन सभी ग्रन्थालयो के व्यवस्थापको एव अधिकारियों के प्रति भी मैं आभारी हूँ। उन लेखकों की भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिनकी पुस्तकों का मैंने उपयोग किया है। वास्तव मे प्रस्तुत ग्रंथ में जो सारतत्त्व है, वह पूर्व लेखकों की ही देन है, मैंने तो केवल उन सारतत्त्वो को चुन-चुन कर यथेष्ट स्थान पर रखने का ही प्रयत्न किया है, जिसमे अनेक त्रुटियाँ होंगी। आशा है, विज्ञ पाठक इसके लिए क्षमा करने तथा अपने बहुमूल्य सुझावों से मुझे अवगत कराने की कृपा करेंगे।

विनयावनत
सूरजमुखी जैन

२५, इमामबाड़ा
मुजफ्फरनगर
१-१-८६

० प्राक्कथन

१. अपभ्रंश भाषा और साहित्य
२. जैन रहस्यवाद
३. जैनर हस्यवाद का कबीर पर प्रभाव
४. अध्ययन के लिए प्राप्त सामग्री
५. शोध-प्रबन्ध का विषय

० प्राक्कथन

१ अपभ्रंश भाषा और साहित्य

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में भाषा–भेद से काव्य को चार प्रकार का बताया है—१. संस्कृत, २. प्राकृत, ३. अपभ्रंश, ४. मिश्र। उनका अभिमत है—

तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ।।[1]

भामह ने भी भाषा–भेद से तीन प्रकार का काव्य बताया है। उन्होंने मिश्र भाषा की गणना नही की है—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं तु तद्द्विधा ।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ।।[2]

आचार्य रुद्रट ने भाषा–भेद से छह प्रकार के काव्यों की गणना की है—१- प्राकृत, २- संस्कृत, ३- मागध, ४- पिशाच, ५- शौरसेनी और ६- अपभ्रंश।

प्राकृत संस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ।।[3]

इन आचार्यो के उक्त कथनो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा के काव्यो को भी संस्कृत के समान ही प्राचीनकाल से महत्त्व और स्थान दिया जाता रहा है।

अपभ्रंश साहित्य संस्कृत और प्राकृत साहित्य के समान ही विशाल है। इस साहित्य में वे ही जीवन तत्त्व विद्यमान हैं, जो उक्त दोनो भाषाओं के साहित्य में हैं।

१- हिन्दी काव्यादर्श, आचार्य दंडी, व्याख्याकार आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १, पृष्ठ ३०, ३२।

२- काव्यालकार – आचार्य भामह, भाष्यकार प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृष्ठ ६, १६।

३- हिन्दी काव्यालंकार – आचार्य रुद्रट, व्याख्याकार श्री रामदेव शुक्ल, एम० ए०, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृष्ठ ३१, ३२।

अपभ्रंश की जैन अध्यात्म सम्बन्धी भावधारा का मूल स्रोत आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाएँ हैं। इस भाषा के कवियों ने प्रबन्धकाव्य, खण्डकाव्य, चरितकाव्य, मुक्तक-काव्य आदि काव्यविधाओं की रचनाकर भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि की है। चरितकाव्यों के दो रूप उपलब्ध हैं—एक शुद्ध अथवा धार्मिक चरितकाव्य और दूसरा रोमाण्टिक। प्रबन्धकाव्य को कथाकाव्य भी कहा जा सकता है। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य के वस्तुतत्त्व के विकास और अलंकरण की अपनी विशेषताएँ हैं। अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में कौतूहल या मनोविनोद मात्र नही है। किन्तु, काव्य-कला के विधान और उद्देश्य-पूर्ति के साथ नैतिकता और धार्मिक उद्देश्य भी सम्बद्ध हैं। लोक कल्याण की दृष्टि से भी ये रचनाएँ कम उपादेय नही हैं। इनमें प्रयुक्त कथासूत्र भारतीय पुराणों में उपलब्ध हैं। महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण लिखा और स्वयंभू ने पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ और स्वयंभू छन्द ये तीन ग्रन्थ लिखे। स्वयंभू का समय अनुमानतः ७८३ ई० है। स्वयंभू के पश्चात् कालक्रम से पुष्पदन्त का स्थान आता है। निश्चयतः पुष्पदन्त अपभ्रंश साहित्य और भारतीय ज्ञान विज्ञान के बहुत बडे पण्डित थे। इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—णायकुमार-चरिउ, महापुराण और जसहरचरिउ। कवि ने काव्य-तत्त्वो मे कोमल पद-रचना, गूढ कल्पना, प्रसन्न भाषा एवं शब्द और अर्थचमत्कार को परिगणित किया है। कवि धनपाल ने भविसयत्तकहा की रचना कर एक नई शैली प्रस्तुत की है। धनपाल अलंकृत शैली की अपेक्षा काव्य को मनुष्य हृदय के निकट रखना अधिक उपयुक्त समझते हैं। थोड़ी सी अतिरंजना और धार्मिक अश के निकाल देने पर उनकी रचना लोक हृदय के बहुत निकट है। भावों के घात-प्रतिघात, घटनाओं की स्वाभाविक योजना, पृष्ठभूमि का सर्जन कर भावों की अभिव्यजना, सम्बन्ध निर्वाह आदि में कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। कवि धाइल भी आध्यात्मिक रचना लिखने मे पटु थे। कवि ने 'कण्णरसायणधम्मकहा' नामक काव्य लिखा है। इस ग्रन्थ मे सरस कथावस्तु के साथ भावपूर्ण सन्दर्भांशों की योजना की गयी है। कवि का समय दसवी शताब्दी के आसपास है।

बारहवी शताब्दी मे मुनि कनकामर ने 'करकण्डु चरिउ' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ मे श्रुतपंचमी का फल और पचकल्याणक विधि की प्रतिष्ठा अंकित है। कनकामर के पश्चात् जिनदत्तसूरि तथा हेमचन्द्र सूरि का नाम आता है। जिनदत्त सूरि ने तीन ग्रन्थों की रचना की है—चर्चरी, उपदेशरसायन रास और कालस्वरूपकुलकम्। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा के व्याकरण के उदाहरणों का स्पष्टीकरण करने के लिए अपने पूर्ववर्ती कवियों के दोहों का सकलन किया है। इन दोहों से आचार्य की साहित्य विषयक महत्ता का सकेत मिलता है। वस्तुतः हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण ग्रन्थ में अपभ्रंश की नष्ट होती हुई बहुत बड़ी सम्पत्ति की रक्षा की है। त्रिविक्रम और शुभचन्द्र ने भी अपने व्याकरण ग्रन्थो मे अपभ्रंश के अनेक दोहे सकलित किये हैं। मुक्तक काव्य की दृष्टि से इन

दोहों का मूल्य भी अनल्प है।

अपभ्रंश के कवि जोइन्दु अध्यात्म प्रिय कवि हैं। डा० ए० एन० उपाध्ये ने इनका समय छठी शताब्दी अनुमानित किया है। इन्होंने परमात्मप्रकाश और योगसार की रचना कर आत्मानुभूति की मन्दाकिनी प्रवाहित की है। इनकी रचना लोक भाषा में शुद्ध अध्यात्मविचार अभिव्यक्त करनेवाली दोहा शैली का प्रथक नमूना है। कवि रामसिंह जोइन्दु की परम्परा के कवि हैं। उनकी एकमात्र रचना पाहुड–दोहा है। रामसिंह का समय हेमचन्द्र से पूर्व है। ये भावुक और उग्र अध्यात्मवादी कवि हैं, इन्होने शैव तान्त्रिक शब्दावली को ग्रहण किया है। आचार्य देवसेन ने 'सावयधम्मदोहा' ग्रन्थ की रचना कर गृहस्थ धर्म या श्रावक धर्म का निरूपण किया है। यह आचारमूलक काव्य है, इसमें व्रत, गुप्ति, समिति आदि का भी विवेचन है। अपभ्रंश के अन्य कवियों में वीर कवि का जम्बूस्वामिचरिउ, महान्दिण का दोहापाहुड, लक्ष्मीचन्द का दोहाणुवेहा, आनन्द तिलक का आणन्दा, सुप्रभाचार्य का वैराग्यसार आदि रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं।[1]

निश्चयत: अपभ्रंश–साहित्य धार्मिक विचारों के साथ साहित्यिक सरसता से परिपूर्ण है। धर्म वहाँ कवियों को केवल प्रेरणा दे रहा है। अत: धर्म भावना प्रेरक शक्ति के रूप मे काम कर रही है। साथ ही यह भावधारा मानवता को आन्दोलित, मथित और प्रवाहित भी कर रही है। धार्मिक रचनाएँ होने पर भी अपभ्रंश की उक्त रचनाओ का महत्व विजयपाल रासो और हम्मीर रासो से किसी प्रकार कम नही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"इधर जैन अपभ्रंश चरित काव्यो की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई, वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नही है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नही की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नही घुस सकेगा। वस्तुत: लौकिक निजन्धरी कहानियो को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है।"[2]

आचार्य द्विवेदी जी के उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश जैनकाव्य गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से विशाल और ग्राह्य है। जीवन की व्याख्या और उसका विश्लेषण अपभ्रंश के कवियों ने बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ किया है।

१- *अपभ्रंश भाषा और साहित्य, देवेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९६५।*

२– *हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, तृतीय संस्करण, सन् १९६१, पृ० ११।*

अपभ्रंश के जैन कवियों ने 'कोऽहम्' को ज्ञात करने के लिए आत्मानुभूति और अध्यात्म प्रवृत्ति का विश्लेषण किया है। आचार्य कुन्दकुन्द तो अध्यात्म साहित्य के प्रणेताओं मे अग्रगण्य हैं ही, पर षट्खंडागम, कषायपाहुड़ जैसी महनीय रचनाओं मे भी साधनात्मक रूप मे आत्मशुद्धि का विवेचन हुआ है। कषाय भावों से विकृत आत्मा की शुद्धि किस प्रकार और कैसे सम्भव है, इसका विश्लेषण उक्त दोनों ग्रंथों में हुआ है। षट्खंडागम के प्रणेता आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त ने गुणस्थान और मार्गणा क्रम से कर्म का बन्ध, उदय, सत्त्व, उदीरणा, विपाक, उद्वेलन, निधत्ति-निकाचन, उत्कर्षण आदि किस प्रकार सम्भव हैं और साधक व्यक्ति रत्नत्रय की आराधना द्वारा अपने आत्मतत्त्व की आस्था कर कर्मों के बन्धन को नष्ट कर किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है, आदि की विवेचना की है। इस ग्रन्थ को हम कर्म और मोक्ष पद्धति निरूपक मान सकते हैं। आत्मा की शुद्ध-अशुद्ध अवस्थाओं का चित्रण भी इसमे शास्त्रीय शैली मे किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्खडागम पर टीका लिखी है। अतः बहुत सम्भव है कि उन्होंने अपने अध्यात्म ग्रन्थों के प्रणयन के लिए यहीं से प्रेरणा प्राप्त की हो। जिसे आधुनिक विचारक रहस्यवाद या गूढ भावनावाद कहते हैं, वह कुन्दकुन्द के ग्रन्थों मे आत्मानुभूति या निजानुभूति के रूप मे वर्णित है। संसार मे सबमे अधिक प्रिय आत्मा है। इस आत्मा की अनुभूति ही सबसे बडी रहस्यमयी है। 'कोऽहम्', 'मैं कौन हूँ' मेरा क्या स्वरूप है, मुझमे रागादि की प्रवृत्ति क्यों और कैसे हुई, मैं इस प्रवृत्ति मे कैसे छुटकारा पा सकता हूँ, परतन्त्रता का कारण रागादि प्रवृत्ति है, यही निर्वाण मे बाधक है, यदि प्रश्नो की ओर आचार्य कुन्दकुन्द ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और उन्होंने बताया है—कि यह आत्मा ही सिद्धस्वरूप है और सोऽहम् की अनुभूति से परमात्मपद प्राप्त होता।

सर्वप्रथम अनुभूति को रहस्यानुभूति के रूप में चित्रित करनेवाले आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इनके समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय से उत्तरवर्ती संस्कृत और प्राकृत कवियो के समान अपभ्रंश के कवियों ने भी प्रेरणा और स्रोत ग्रहण किये है। अतः आत्मानुभूति का बीजसूत्र रहस्यवाद के रूप मे कुन्दकुन्द में पाया जाता है। आत्मा—परमात्मा; पाप—पुण्य, बाह्याचार प्रभृति के सम्बन्ध मे जो मान्यताएँ आचार्य कुन्दकुन्द की हैं, उन्ही को अपभ्रंश के कवियों ने भी ग्रहण किया है। आत्मा के तीन भेद—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, अनन्त ज्ञान दर्शन सुखमय आत्मतत्त्व, ध्यानादि के द्वारा उसकी प्राप्ति, योग प्रक्रिया आदि आध्यात्मिक उपकरणों का समावेश अपभ्रंश के कवियों ने कुन्दकुन्द के आधार पर ही किया है। स्वामि कार्तिकेय की 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' अथवा कुन्दकुन्द की 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ से अनित्य, संसार, अन्यत्व, एकत्व आदि की प्रेरणा ग्रहण की गयी है। अपभ्रंश

के जैन कवियों ने आचार्य कुन्दकुन्द की आत्मानुभूति के साथ शुभचन्द्र, रामसेन और हरिभद्र की योगसाधना से भी प्रेरणा ग्रहण की है। इस प्रकार अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति या रहस्य भावना पूर्ववर्ती जैन साहित्य के आधार पर निर्मित है। शैव और तान्त्रिक योगियों का भी यत्किंचित् प्रभाव अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों पर है। अतः अपभ्रंश का जैन रहस्यवाद न तो उपनिषदों से गृहीत है और न शुद्धरूप में तान्त्रिकों से अपितु इसका सम्बन्ध षट्खंडागम, कषाय-पाहुड, समयसार, प्रवचनसार, रयणसार, उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक आदि ग्रन्थों से है ।

३. जैन रहस्यवाद का कबीर पर प्रभाव

कबीर घुमक्कड साधु थे, उन्होंने सभी सम्प्रदाय के साधुओं के साथ सत्संगति की थी। फलतः कबीर पर अपभ्रंश के जैन कवियों का प्रभाव पडना कोई आश्चर्य की बात नही है। अपभ्रंश के ग्रन्थों के प्रकाशित होने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि कबीर ने जिन जीवन व्यापारों का, जिन पद्धतियों द्वारा विश्लेषण किया है, वे जीवन व्यापार और पद्धतियाँ अपभ्रंश के जैन कवियो में भी पाती जाती हैं। अपभ्रंश के जैन कवि कबीर से पूर्ववर्ती हैं। अतः यह अनुमान निरर्थक नही होगा कि कबीर ने अपने काव्य में वेदान्त के समान ही जैन तत्त्वज्ञान को भी ग्रहण किया है। हमारी दृष्टि मे कबीर ने निम्नलिखित रहस्यवादी तत्त्व अपभ्रंश के जैन कवियों से ग्रहण किया है—

१- सोऽहम् की भावना
२- आत्मानुभूति की महत्ता
३- आत्मतत्त्व की सर्वोपरि सत्ता
४- रागद्वेषादि की अनित्यता और आत्मा की नित्यता
५- गुरु की महत्ता
६- आत्मास्था की प्रतिष्ठा
७- चारित्र शुद्धि
८- शुद्धि के लिए ध्यान या योग की आवश्यकता
९- शरीर की ही साधना केन्द्र रूप मे स्वीकृति
१०- विवेक या ज्ञान की प्रतिष्ठा
११- बाह्याचार का निरसन

४. अध्ययन के लिए प्राप्त सामग्री

'अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और उसका कबीर पर प्रभाव' विषय पर शोध प्रबन्ध लिखने के लिए साधन सामग्री मूल ग्रन्थों के रूप में ही उपलब्ध है ।

आगम ग्रन्थ, कुन्दकुन्द साहित्य, कार्तिकेय साहित्य, अपभ्रंश दोहा साहित्य, कबीर ग्रन्थावली, कबीर वचनावली, बीजक आदि मूल ग्रन्थों के रूप में प्रचुर सामग्री प्राप्य है, आलोचनात्मक या विश्लेषणात्मक सामग्री का प्रायः अभाव है। डा० वासुदेव सिंह का 'अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद' शीर्षक शोधप्रबन्ध मुद्रित है। डा० सिंह ने अपने इस शोध प्रबन्ध मे अपभ्रंश कृतियों का रहस्यात्मक विश्लेषण अत्यल्प किया है। शोध प्रबन्ध के नाम से जिस विश्लेषण की आशा उत्पन्न होती है, वह आरम्भ के पृष्ठों से ही धूलिसात् होने लगती है। अतः यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि अपभ्रंश साहित्य के रहस्यवाद का विश्लेषण, विवेचन एव अध्ययन अद्यावधि नही हुआ है। हां, कबीर के रहस्यवाद पर डा० रामकुमार वर्मा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जैसे चिन्तकों ने गहन अध्ययन किया है। अभी तक यही धारणा कार्य करती चली आ रही है कि कबीर का रहस्यवाद वेदान्त, योग, तन्त्र एव सूफी ग्रन्थों से प्रभावित है। पर कबीर साहिय मे अन्त प्रवेश करने से ऐसे मूल मुद्दे प्राप्त होते हैं, जिनके लिए कबीरदास अपभ्रंश के जैन कवियो के ऋणी हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि शोधन सामग्री हमे मूल ग्रन्थो के रूप मे ही प्राप्त हुई है, आलोचनात्मक ग्रन्थों के रूप में नहीं। अतः प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में जो भी विश्लेषण, विवेचन हमने किया है, वह हमारा अपना दृष्टिकोण है। कबीर के पचामृत मे जैन रहस्यवादियो ने किन तत्वामृतों का सयोजन किया है, उसका विश्लेषण आद्यन्त किया गया है।

५. शोध प्रबन्ध का विषय

अपने शोध-प्रबन्ध को हमने सात अध्यायो में विभक्त किया है। प्रथम अध्याय का शीर्षक 'रहस्यवाद' है। इस अध्याय में रहस्यवाद तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों की प्राचीनता सिद्ध करते हुए 'रहस्यवाद' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक, व्यावहारिक, दार्शनिक तथा शास्त्रीय अर्थ प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। इसके उपरान्त काव्य में प्रयुक्त 'रहस्यवाद' को स्पष्ट किया गया है। 'रहस्यवाद' के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से काव्यगत रहस्यवाद का अर्थ कुछ भिन्न है। व्युत्पत्ति के अनुसार गूढ या गुप्त बातो का कथन रहस्यवाद है किन्तु काव्यगत रहस्यवाद से उस विशिष्ट प्रकार की काव्य-धारा से प्रयोजन है, जिसमे कवि जीवन और जगत् के व्यक्त पक्ष की अवहेलना कर उसके अव्यक्त पक्ष का उद्घाटन करता है, अखिल विश्व में व्याप्त एक अगम, अगोचर, सर्वशक्तिमान सर्वोच्च सत्ता की प्रतीति की भावात्मक प्रणालियों के द्वारा अभिव्यक्ति करता है। इस अध्याय में अध्यात्मवाद और रहस्यवाद के अन्तर को स्पष्ट करने के उपरान्त पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत रहस्यवाद की विभिन्न परिभाषाएँ उद्धृत की गयी हैं, संक्षेप मे रहस्यवाद के मूल तत्वों का दिग्दर्शन कराया गया है, और भारतीय साहित्य में रहस्यवाद की परम्परा का

निरूपण किया गया है। भारतीय साहित्य में रहस्यवाद की परम्परा वैदिक साहित्य से आधुनिक हिन्दी साहित्य तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। वेद, उपनिषद्, दर्शन, संस्कृत साहित्य, तन्त्र साहित्य तथा हठयोग आदि में समाहित रहस्यवाद किस प्रकार फारस के सूफी कवियों से प्रभावित होकर मध्यकाल में हिन्दी के कबीर और जायसी आदि कवियों द्वारा अपनाया गया और परम्परा के रूप मे सूर, तुलसी, बिहारी आदि से होता हुआ आधुनिक युग मे जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा तथा डा० रामकुमार वर्मा आदि कवियो का भी विवेच्य हुआ, इसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। अन्त में प्राचीनकाल से अब तक के रहस्यवादी काव्यो के आधार पर रहस्यवादी अवधारणाओं का उल्लेख किया गया है। वर्ण्यविषय की दृष्टि से प्रस्तुत अध्याय मे कोई नवीनता नही है। किन्तु वैदिक काल से आधुनिक काल तक की भारतीय रहस्यवाद की शृंखला का संयोजन हमारा अपना प्रयास है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है 'जैन रहस्यवाद'। इस अध्याय में जैन रहस्यवाद का स्वरूप और उसकी परिभाषा प्रस्तुत करते हुए बताया है कि भेद-विज्ञान अथवा आत्मानुभूति के द्वारा अपने को शुद्ध, बुद्ध और ज्ञानरूप अनुभव करना तथा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि का प्रयत्न करना ही रहस्यवाद है। जैन दृष्टिकोण से आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नही है, प्रत्येक आत्मा शरीर की अपेक्षा परमात्मा है। किन्तु अनादि काल से वह कर्मों से आबद्ध है। जब तक वह कर्मबद्ध है, तब तक अशुद्ध है, जीवात्मा के रूप मे ससार मे भटक रहा है और जब सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तब वही परमात्मा बन जाता है। इसी शुद्ध परमात्मस्वरूप की अनुभूति और प्राप्ति ही रहस्यवादियो का अभिप्रेत है। इस अध्याय मे हमने जैन रहस्यवाद तथा सामान्य रहस्यवाद के अन्तर का निरूपण कर जैन रहस्यवाद के विकास का विवेचन किया है। विकासक्रम मे हमने सर्वप्रथम प्राकृत वाङ्मय मे समाहित रहस्यवाद का उल्लेख किया है, जिसमे आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य शिवार्य, स्वामि कार्तिकेय तथा आचार्य नेमिचन्द्र आदि के द्वारा वर्णित रहस्यवादी तत्त्वो, रहस्यात्मक अनुभूतियो एव साधनामार्ग की विस्तृत समीक्षा की है। इसके उपरान्त संस्कृत वाङ्मय मे निहित रहस्यवाद के अन्तर्गत आचार्य पूज्यपाद, आचार्य उमास्वामी, आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र तथा आचार्य रामसेन आदि के द्वारा प्ररूपित रहस्यात्मक तथ्यों का उद्घाटन कर आत्मसाधना के लिए निर्दिष्ट मित्रा, तारा, बला, दिप्रा, कान्ता, स्थिरा, प्रभा और परा इन आठ योग दृष्टियों तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि इन अष्ट योगाङ्गो का भी विशद विवेचन किया है। अपभ्रंश के रहस्यवादी काव्यों की विस्तृत विवेचना और समीक्षा हमने तृतीय अध्याय मे की है, अतः इस अध्याय मे हमने अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी काव्यो का सकेत मात्र किया है। अन्त

में हिन्दी वाङ्मय में प्रतिपादित जैन रहस्यवादी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कर जैन रहस्यवादी तत्त्वों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है । जैन साहित्य के रहस्यवाद तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों का विवेचन और विश्लेषण अद्यावधि नहीं हुआ है । अतः यह हमारा निजी प्रयास है ।

तृतीय अध्याय का शीर्षक है 'अपभ्रंश के रहस्यवादी कवि और उनके काव्य' । इस अध्याय मे हमने अपभ्रंशकालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का सिंहावलोकन कर अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियो तथा उनके काव्यों की विस्तृत विवेचना और आलोचना की है । अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियो में जोइन्दु, महयन्दिण, रामसिंह, सुप्रभाचार्य, आनन्द तिलक, लक्ष्मीचन्द, हेमचन्द्र, जिन दत्तसूरि, हरदेव और रइधू विशेष महत्त्व रखते है । हमने इन सभी कवियों का व्यक्तिगत परिचय तथा उनका रचनाकाल निर्दिष्ट करने के साथ-साथ उनके वर्ण्य विषय आत्मा, परमात्मा, जगत्, कर्म, मोक्ष, मोक्षमार्ग तथा आत्मानुभूति के सम्बन्ध में उनकी मान्यताओं और उसके अभिव्यक्तिकरण का विश्लेषण प्रस्तुत किया है । अन्य कवियो मे बुच्चदेव, पाहल तथा बीर आदि कवियों का भी उल्लेख किया है ।

अध्ययन की दृष्टि से यह अध्याय सर्वथा मौलिक है । अत: आज तक किसी चिन्तनशील आलोचक ने अपभ्रंश के समस्त जैन रहस्यवादी कवियों और उनकी कृतियो का समीक्षात्मक विवेचन नही किया है । डा० वासुदेव सिंह ने अपनी पी-एच० डी० की उपाधि के हेतु प्रस्तुत 'अपभ्रंश व हिन्दी मे जैन रहस्यवाद' नामक शोध-प्रबन्ध मे सुप्रभाचार्य, हेमचन्द्र, जिनदत्तसूरि, हरदेव तथा रइधू आदि महत्त्वपूर्ण रहस्यवादी कवियो तथा उनके काव्यो का नामोल्लेख तक नही किया है । इसके अतिरिक्त जिन कवियों को उन्होने अपने अध्ययन का विषय बनाया है उनके काव्यों की समीक्षा भी हमने मौलिक ढँग से की है ।

चतुर्थ अध्याय मे अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों के अध्यात्मविचार का कबीर के अध्यात्मविचार पर प्रभाव निरूपित किया है । रहस्यवाद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है आत्मा या परमात्मा । इस आत्मा अथवा परमात्मा को सम्यक् रूप से अवगत करने के लिए उससे भिन्न परपदार्थों का ज्ञान भी आवश्यक है । अत: इस प्रसग मे सभी रहस्यवादी कवियो ने आत्मा, परमात्मा, जगत्, कर्म तथा मोक्ष के सम्बन्ध मे अपने उद्गार व्यक्त किये हैं ।

कबीर एक भ्रमणशील आध्यात्मिक सन्त थे । वे जहाँ भी जाते थे, वही से कुछ-न-कुछ ग्रहण कर लेते थे । अत: उनके आध्यात्मिक विचारों पर भी न केवल उनके पूर्ववर्ती वेदांतियों, बौद्धो और नाथो का ही, अपितु जैनों का भी प्रभूत प्रभाव पड़ा है । प्रस्तुत अध्याय मे अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा प्रतिपादित परमात्मा, आत्मा जगत्, कर्म तथा मोक्ष का कबीर के ब्रह्म, आत्मा, जगत्, माया तथा मोक्ष पर प्रभाव प्रदर्शित किया है । अपभ्रंश के जैन कवियों ने अपने अनेकान्तवादी दृष्टि-

कोण से परमात्मा के निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों का उल्लेख किया है, इसके अतिरिक्त शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा मानकर उसके अगम, अगोचर, अजर, अमर तथा अजन्मा रूप का विवेचन किया है। अपभ्रंश के जैन कवियों के उक्त विचार से प्रभावित होकर कबीर ने भी अपने शुद्ध आत्मा को ही ब्रह्म मानकर उसको अगम, अगोचर, अजर, अमर, अजन्मा और निर्गुण तथा सगुण रूप से प्रतिपादित किया है। अपभ्रंश के जैन कवियों के समान जगत् की पारमार्थिक सत्ता न मानते हुए भी कबीर संसार की अनित्यता और उसके दुःखद स्वभाव के वर्णन में अपभ्रंश के जैन कवियों से पूर्णतः प्रभावित हैं। कबीर के अनुसार जगत् का कारण माया है, माया के कारण ही जीव अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर संसार में भ्रमण करता और दुःखी होता है। उनकी यह माया अपभ्रंश के जैन कवियों के मिथ्यात्व से प्रभावित है। जैन कवियों के अनुसार मिथ्यात्व कर्मबन्धन का कारण है और कर्म के बन्धन मे बँधकर ही जीव सासारिक दुःखों को भोगता है। अपभ्रंश के जैन कवियों के अनुसार अपने शुद्ध आत्म स्वरूप की उपलब्धि ही मोक्ष है। कबीर अपभ्रंश के जैन कवियो के इस मोक्ष विचार से पूर्णतः प्रभावित है।

अब तक कबीर के अध्यात्म पर वेदान्तियों, बौद्ध, नाथों तथा सूफियों के अध्यात्मविचार का प्रभाव ही वर्णित हुआ है। हमने इस अध्याय मे जैन कवियों के अध्यात्म का कबीर पर प्रभाव प्रदर्शित किया है, जो सर्वथा नवीन विषय है।

पचम अध्याय का विषय है 'अपभ्रंश के रहस्यवादी कवियों के साधना मार्ग का कबीर पर प्रभाव'। रहस्यवादी कवियों का प्रमुख उद्देश्य शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि है, जिसके लिए साधना की आवश्यकता होती है। साधना के द्वारा ही साधक अपने अन्तरग की कलुष कालिमाओ को प्रक्षालित कर अपने शुद्ध बुद्ध, ज्ञान-स्वरूप आत्मा की अनुभूति करता है और यही आत्मानुभूति आत्मोपलब्धि है। अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियो ने इस चरमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य पर्याय को सर्वश्रेष्ठ माना है और इसकी दुर्लभता का भी विवेचन किया है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति होने पर भी ज्ञान के अभाव मे आत्मोपलब्धि अशक्य है, ज्ञान के द्वारा ही आत्मानुभव सम्भव है। ज्ञान की प्राप्ति सद्गुरु की कृपा से ही हो सकती है। ज्ञान की प्राप्ति होने पर साधक आश्रव का निरोध तथा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा कर सिद्धि को प्राप्त करता है। सिद्धि की प्राप्ति के लिए आत्मध्यान अनिवार्य है, जो चित्त की निर्मलता पर निर्भर है। प्राणि–रक्षा, इन्द्रिय–सयम, मन–संयम, दश धर्म का पालन, द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन तथा सत्सग साधक को साधना मार्ग पर आरूढ़ करने मे सहायक हैं। साधना मार्ग पर आरूढ होकर साधक सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप व्यवहार और निश्चय साधना मार्ग के द्वारा अपने अभीष्ट की उपलब्धि करता है। अपभ्रंश के जैन कवियों के उक्त साधना मार्ग से कबीर बहुत प्रभावित थे। उन्होंने भी अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही मनुष्य जन्म की दुर्लभता, ज्ञान तथा ध्यान की

अनिवार्यता, प्राणि–दया, इन्द्रिय–संयम, मन निरोध, क्षमा, अभिमान का त्याग, कपट का त्याग, सत्य आदि दश धर्मों की उपयोगिता, अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं के चिन्तन की महत्ता तथा सत्संग की उपयोगिता का विवेचन कर आत्म–श्रद्धा, आत्म–ज्ञान और आत्म–चारित्र रूप व्यवहार और निश्चय साधना मार्ग को सिद्धि के लिए आवश्यक माना है। अपभ्रंश के जैन कवियों ने जिस प्रकार भावों की शुद्धि के बिना बाह्यवेष, मूर्तिपूजा, जप, तप, व्रत, स्नान, तीर्थ तथा केशलोंच आदि बाह्याडम्बरों की भर्त्सना की है, उसी प्रकार कबीर ने भी इन बाह्याडम्बरों का उग्र विरोध किया है।

अपभ्रंश के जैन कवियों ने शरीर को ही साधना का केन्द्र माना है। उनके अनुसार आत्म–आस्था को प्राप्त कर साधक किस प्रकार द्रव्य गुण पर्यायात्मक वस्तु का सद्बोध प्राप्त करता है और तदनन्तर दया, सत्य, स्वात्मरति, लोकसेवा, निर्भयता, निःस्पृहता, परीषहजय, त्रिगुप्ति, पापविरति, रागद्वेष की निवृत्ति, प्रमाद त्याग रूप समिति तथा उत्तमक्षमादि दश धर्मरूप सच्चरित्र को प्राप्त कर सद्ध्यान रूप समाधि और सद्भावना को प्राप्त करता है, जिससे उसे अविलम्ब ब्रह्मपद तथा सिद्धत्व की प्राप्ति हो जाती है, इसका निरूपण अनेकान्त से उद्धृत एक चित्र द्वारा भी किया गया है। जैन साधना में धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को सिद्धि प्राप्ति का कारण माना गया है और धर्मध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ तथा पदस्थ ध्यानों का भी विवेचन हुआ है। ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्मकलंक का दहन कर साधक स्वरूप में स्थित हो जाता है। अपभ्रंश के जैन कवियों की इस साधना प्रक्रिया का प्रभाव भी कबीर पर परिलक्षित होता है। तुलना के हेतु कबीर द्वारा निरूपित शरीर के षट्चक्रों और उनके भेदन–क्रिया का भी चित्र अंकित किया गया है। तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का साधना मार्ग अपभ्रंश के जैन कवियों के पिण्डस्थ तथा पदस्थ ध्यान से प्रभावित है तथा उनकी सहज समाधि अपभ्रंश के जैन कवियों के शुक्लध्यान से प्रभावित है।

यह अध्याय अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्य साधना का विवेचन तथा कबीर पर उसके प्रभाव का दिग्दर्शन दोनों ही दृष्टि से अत्यन्त मौलिक है। अभी तक न तो किसी ने अपभ्रंश के जैन कवियों के साधना मार्ग का ही निरूपण किया है और न कबीर पर उसके प्रभाव का ही कहीं उल्लेख हुआ है।

षष्ठ अध्याय में अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति का कबीर पर प्रभाव प्रदर्शित है। सर्वप्रथम जैन चिन्तकों द्वारा निरूपित रहस्यानुभूति अथवा आत्मानुभूति का विवेचन कर उसकी अनिर्वचनीयता तथा समरसता की स्थिति का उल्लेख किया गया है। बताया गया है कि भेदविज्ञान ही आत्मानुभूति है। इस भेद-विज्ञान के प्राप्त होते ही साधक को यह अनुभव होने लगता है कि आत्मा परपदार्थों से सर्वथा भिन्न है। आत्मा आत्मा है और पर पदार्थ पर पदार्थ हैं। न तो आत्मा परपदार्थ हो सकता है और न परपदार्थ आत्मा हो सकता है। अपभ्रंश

कवियों ने नयविवक्षा से इस आत्मानुभूति का कथन किया है। व्यवहारनय से यह आत्मा अनादिकाल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठों कर्मों से आबद्ध है। ये कर्म सदैव अपना कार्य करते रहते हैं। किन्तु, शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा कर्मों से मुक्त है, शुद्ध है, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि आठ गुणों से युक्त है, कर्म इसका कभी भी कुछ भी नही बिगाड़ते और बनाते हैं। यह आत्मानुभूति अनिर्वचनीय है, इसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन नहीं। आत्मानुभूति हो जाने पर साधक आत्मा परमात्मा से समरसता को प्राप्त कर लेता है। साधना–पथ पर आरूढ़ साधक परमात्मा के साथ लौकिक दाम्पत्य सम्बन्ध की भी स्थापना करता है। आत्मानुभूति से पूर्व वह परमात्मा रूपी प्रियतम को पाने के लिए अत्यन्त बेचैन रहता है, किन्तु आत्मानुभूति हो जाने पर आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से असीम आनन्द का अनुभव करता है। अपभ्रंश के जैन कवियों ने इस आनन्द को अमृत रस के समान सुखद बताया है।

इस अध्याय में अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति के विवेचन के उपरान्त कबीर की रहस्यानुभूति पर भी प्रकाश डाला गया है और बताया गया है कि कबीर की रहस्यानुभूति पर अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति का क्या प्रभाव पड़ा है। कबीर की रहस्यानुभूति जहाँ वेदान्त के अद्वैत से प्रभावित है, वहाँ अपभ्रंश के जैन कवियों का भी उस पर पर्याप्त प्रभाव है। जैन कवियों से प्रभावित होने के कारण कबीर की रहस्यानुभूति भी आत्मानुभूति ही है, जो आत्मज्ञान से उपलब्ध होती है। कबीर ने उस शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा कहा है, जो सब प्रकार की कलुषताओं से मुक्त है। उन्होंने उसके दाम्पत्य सम्बन्ध के साथ-साथ मित्र, माता, गुरु आदि अन्य सम्बन्धों की भी स्थापना की है। दाम्पत्य सम्बन्ध के अन्तर्गत अपभ्रंश के जैन कवियो के समान आत्मा की विरहाकुलता का तो वर्णन किया ही है, सयोग कालीन सुखद स्मृतियों के चित्र भी अंकित किये हैं। यही नहीं, कबीर ने आत्मा तथा परमात्मा की समरसता, आत्मानुभूति की अनिर्वचनीयता तथा तादात्म्य से उत्पन्न असीम आनन्द की अभिव्यक्ति भी अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही की है। यह अध्याय भी नितान्त नवीन है। इस अध्याय में हमने कबीर के कतिपय पद्यो की जैन दृष्टिकोण से नवीन व्याख्या भी प्रस्तुत की है।

सप्तम अध्याय में अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों की अभिव्यंजना प्रणाली का कबीर पर प्रभाव अंकित किया गया है। इस शोध–प्रबन्ध के चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्याय में अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों के अध्यात्म साधना मार्ग तथा रहस्यानुभूति का कबीर पर प्रभाव दिखाया गया है। अतः स्पष्ट है कि आध्यात्मिक साधक होने के कारण अपभ्रंश के रहस्यवादी कवियों से कबीर ने अनुभूति क्षेत्र में पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। अनुभूति के साथ-साथ कबीर का अभिव्यक्ति पक्ष भी अपभ्रंश के जैन कवियों से पूर्णतः प्रभावित है। भाषा ही भावों की

अभिव्यक्ति का माध्यम है। कबीर ने अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों द्वारा प्रयुक्त निरंजन, निर्वाण, सहज, शून्य, अमृत, उन्मनि, नाद–बिन्दु, राग–द्वेष, पुण्य–पाप, जरा–मरण, आवागमन, जन्म–मरण, परमपद, परमगति, परमानन्द, सद्गुरु, त्रिभुवन, भवसागर, विषय–सुख तथा कर्म आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों एवं प्रिय, हाथी, करहा, घर, बैल आदि प्रतीकों को ग्रहण किया है। और उनका प्रायः उन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है, जिसमें अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों ने किया है। अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा प्रयुक्त अनेक उपमानों को भी कबीर ने ज्यों–का–त्यों ग्रहण किया है। अपभ्रंश के जैन कवियों के न केवल पारिभाषिक शब्दों, प्रतीकों और उपमानों से ही कबीर प्रभावित हुए हैं अपितु उनके "जरइ ण मरइ ण संभवइ" तथा "जं लिहिउ ण पुच्छिउ" आदि अनेक वाक्यों का भी कबीर पर पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में हमने सामान्य रहस्यवाद, जैन रहस्यवाद तथा अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी काव्यों की समीक्षा करने के उपरान्त अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी काव्यों की अनुभूति और अभिव्यंजना प्रणाली का कबीर पर प्रभाव निरूपित किया है।

□

प्रथम अध्याय

१. रहस्यवाद

१. रहस्यवाद तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों की प्राचीनता

२. 'मिस्टिसिज्म' शब्द का व्युत्पत्ति-परक अर्थ

३. 'रहस्यवाद' शब्द का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ

४. काव्य में प्रयुक्त 'रहस्यवाद' शब्द का अर्थ

५. विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत रहस्यवाद की परिभाषाएँ

६. रहस्यवाद की परम्परा

७. भारतीय साहित्य में रहस्यवाद

७.१. वैदिक साहित्य में रहस्यवाद

७.२. उपनिषद् साहित्य एवं दर्शन में वर्णित रहस्यवाद

८. संस्कृत साहित्य में रहस्यवाद

८.१. गीता ८.२. भागवत ८.३. भक्तिसूत्र

८.४. ललित साहित्य में वर्णित रहस्यवाद

९. तंत्र साहित्य में वर्णित रहस्यवाद

१०. हठयोग में समाहित रहस्यवाद

११. सूफी कवियों का रहस्यवाद और उसका हिन्दी पर प्रभाव

१२. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में रहस्यवाद

१२.१. कबीर

१२.२. मध्यकाल के अन्य कवियों की रहस्यानुभूति

१३. आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद

१४. रहस्यवादी अवधारणाएँ

१. रहस्यवाद

१. रहस्यवाद तथा रहस्यवादी प्रवृत्तियों की प्राचीनता

रहस्यवाद शब्द अधिक प्राचीन नहीं है, पर रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ अतिप्राचीन हैं। रहस्यात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति मानव में आदिकाल से ही विद्यमान् हैं, किन्तु पारिभाषिक अर्थ में हिन्दी साहित्य में इसका प्रयोग आधुनिक है। हिन्दी में प्रायः सन् १६२० से १६२७ तक 'मिस्टिसिज्म' शब्द के अनूदित रूप में रहस्यवाद शब्द का प्रयोग हुआ है। सन् १६२० की शारदा पत्रिका के लेख मे मुकुटधर पाण्डेय ने लिखा था—'यह छायावाद शब्द मिस्टिसिज्म के लिए आया'। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा महाकवि हरिऔध ने रहस्यवाद तथा छायावाद को पर्याय मानकर 'रहस्यवाद' शब्द को 'मिस्टिसिज्म' शब्द का रूपान्तर माना है।[1]

२. 'मिस्टिसिज्म' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'मिस्टिसिज्म' शब्द मूलतः मिस्टेस् या मस्टेस् ग्रीक धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है जीवन-मरण के रहस्यो को जानने के लिए दीक्षित व्यक्ति अर्थात् जीवन की जन्म और मरण जैसी दो दीवारों के पीछे क्या रहस्य है, इसका बोध करने वाला व्यक्ति मिस्टिक् कहा जाता है। इसी मिस्टिक् शब्द से इज्म का योग होने पर मिस्टिसिज्म शब्द का निर्माण हुआ है।[2] इस प्रकार मिस्टिक् का अर्थ है रहस्यवादी और इज्म का अर्थ है वाद। अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी मिस्टिसिज्म का अर्थ रहस्यवाद ही है।

३. 'रहस्यवाद' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

'रहस्यवाद' शब्द 'रहस्य' और 'वाद' इन दो शब्दों के संयोग से निष्पन्न

१— रहस्यवाद, राममूर्ति त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं० पृ० ६, १० तथा रहस्यवाद, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्र० सं० पृ० ३

२— रहस्यवाद, राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ११

है। 'रहस्' शब्द से 'यत्' प्रत्यय करने पर 'रहसि भवं रहस्यम्' की सिद्धि होती है।[1] √रह् धातु त्याग अर्थ में प्रयुक्त होती है, अतः रहस् का अर्थ है अन्य प्रमेयों का त्याग। इस प्रकार प्रमेयान्तरों के त्याग द्वारा विषयासम्पृक्त मनोभूमि में होने वाली प्रतीति अथवा प्रतीयमान सत्ता ही रहस्य का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।

व्यावहारिक अर्थ भी उक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से भिन्न नहीं है। लोक मे रहस्य का अर्थ निगूढ़ है और निगूढ़ वही होता है, जिसके साथ अन्य प्रतीयमान तत्त्व का योग न हो। इस प्रकार रहस्य मे एक ही ज्ञाता एक ही ज्ञेय और एकमात्र ज्ञान साधन की उपस्थिति रहती है। इस त्रिपुटि के योग की प्रतीति रहस्य द्वारा होती है। व्यावहारिक दृष्टि से रहस् का अर्थ एकान्त है। एकान्त शब्द में बहुव्रीहि समास है—'एकोऽन्तः यस्य सः एकान्तः' अर्थात् जिसका एक ही अन्त या उद्देश्य हो, वह एकान्त है। व्युत्पत्ति के समन्वय की दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि एकान्त विधिपक्ष को और रहस् निषेधपक्ष को प्रकट करता है। रहस् एकान्त के बिना शून्य और निष्प्रयोजन है तो एकान्त रहस् के बिना निराधार।

'रहस' का दार्शनिक तथा शास्त्रीय अर्थ मर्म होने के साथ-साथ उपनिषद् भी है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनितत्त्व को काव्य का उपनिषद् बतलाया है।[2]

अलकार शक्तियों की दृष्टि से काव्य का रहस्य रस है, जो वेद्यान्तर स्पर्श शून्य है।[3]

'रहस्य' शब्द का अर्थविश्लेषण करने के उपरान्त 'वाद' शब्द के अर्थ पर विचार करना भी अनिवार्य हो जाता है। 'वाद' शब्द √वद् + घञ् से बनता है। उच्यतेऽनेनेति वादः अर्थात् जिसके द्वारा कुछ कहा जाए वह 'वाद' है। अतः व्युत्पत्ति के अनुसार रहस्यवाद वह वाद है, जिसमे उन बातों का कथन हो, जिन्हे सब लोग नहीं जानते हैं।

४. काव्य में प्रयुक्त 'रहस्यवाद' शब्द का अर्थ

रहस्यवाद का उक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ काव्य मे ठीक इसी रूप में नही ग्रहण किया गया है। यह एक विशेष प्रकार की काव्यधारा है, जिसमे रचयिता या कवि जीवन और जगत् के व्यक्त क्षेत्र मे हटकर उसके अव्यक्त पक्ष का उद्घाटन करता है और दृश्य जगत् के विविध नामरूपो में व्याप्त अगोचर तत्त्व की भावात्मक प्रणालियों द्वारा अभिव्यक्ति करता है। रहस्यवादी काव्य की प्रमुख विशेषता भाव के द्वारा किसी परोक्ष सत्ता का आभास, उसके प्रति राग, विस्मय, जिज्ञासा,

---

१- 'तत्र दिगादिभ्यो यत्' पाणिनि सूत्र ४।३।५३

२- ध्वनेः स्वरूपम् सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम्।
ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धनाचार्य १।१

३- साहित्य दर्पण, रसनिरूपण, आचार्य विश्वनाथ।

लालसा, असीम वेदना एवं तादात्म्य की अनुभूति है। यह अनुभूति दिव्यानुभूति है, क्योंकि इसका सम्बन्ध अलौकिक शक्ति से है।

वस्तुत: रहस्यवाद अध्यात्मवाद का पर्याय है। प्राचीनकाल में आचार्यों, ऋषियों और मुनियों ने जिस अध्यात्मवाद का प्रतिपादन किया था, वही अध्यात्मवाद काव्य में रस का सम्पर्क प्राप्त कर रहस्यवाद बन गया है। जहाँ अध्यात्मवाद केवल साधनामूलक और ज्ञानमूलक होता है, वहाँ रहस्यवाद भक्ति और साधनामूलक भी। भक्तिमिश्रित साधना का सम्पर्क प्राप्त कर ज्ञानमूलक शुष्क चर्चाएँ सरस रहस्यवाद के रूप में परिणत हो जाती हैं।

५. विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत रहस्यवाद की परिभाषाएँ

अब तक विद्वानों ने रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की है, किन्तु कोई भी परिभाषा अन्तिम परिभाषा नहीं बन सकी है। क्योंकि रहस्य तभी तक रहस्य है, जब तक उसकी कोई सुनिश्चित परिभाषा नहीं निर्दिष्ट होती। फिर भी यहाँ प्रसगानुकूल अपने विषय को उपादेय बनाने के लिए कतिपय प्रमुख विद्वानों द्वारा की गयी परिभाषाओं को प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

'इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' मे आर० एम० जोन्स ने 'मिस्टीसिज्म' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है 'आत्मा अपने आन्तरिक उड़ान मे व्यक्त और दृश्य का सम्बन्ध व्यक्त और अदृश्य के साथ स्थापित कराती है, जो रहस्यवाद की सर्वसम्मत विशेषता है। इसी ग्रन्थ में आगे लिखा है— रहस्यवाद किसी जाति विशेष तक सीमित नही है यह निस्सन्देह भक्तिगत धर्म के मूल आधारों मे से एक है और रहस्यवाद के आध्यात्मिक दृष्टि से विभिन्न सिद्धान्तो मे अन्तर होते हुए भी रहस्यात्मक अनुभव में अन्तर नही आता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। दोनों एक प्रतीत होने लगते हैं। यह अनुभूति अलौकिक आनन्द प्रदान करने वाली होती है।[1]

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका मे लिखा है 'सर्वोच्च सत्ता के साथ एकता की तात्कालिक अनुभूति ही मिस्टीसिज्म है।[2] परिभाषा के प्रत्येक शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है तात्कालिक अनुभूति परम्परा प्राप्त अनुभूति तथा अन्य अनुभूति से भिन्न होती है। इस अनुभूति में साधक ध्याता और ध्येय तथा 'तू' और 'मैं' के भेद को भूलकर स्वयं वह अन्तिम तथा सर्वोच्च सत्ता बन जाता है, जिससे परे कुछ जानने तथा समझने के लिए शेष नहीं रह जाता। यह अनुभूति अनिर्वचनीय

1- Encyclopaedia of Religion and Ethics, vo 9th, Edited by Jaman Hastings मे Mysticism शब्द।

2- Immediate Experience of oneness with. ultimate reality. Encyclopaedia Britannica, Vo 15, 1966 'Mysticism' शब्द.

होती है।

आक्सफोर्ड शब्दकोश में लिखा है— 'जो बुद्धि से परे सत्य के आध्यात्मिक प्रयत्न में विश्वास करता है, वह रहस्यवाद है। [1]

प्रिंगिल पेटीशन ने लिखा है— 'रहस्यवाद की प्रतीति मानव मस्तिष्क द्वारा अन्तिम सत्य या उच्चतम के साथ सीधे सम्बन्ध से उत्पन्न आनन्द का आस्वादन होता है। बुद्धि द्वारा चरम सत्य को ग्रहण करना, यह उसका दार्शनिक पक्ष है, ईश्वर के साथ मिलन का आनन्द उपभोग करना, यह उसका धार्मिक पक्ष है। ईश्वर एक स्थूल पदार्थ न रहकर सूक्ष्म अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेता है। [2]

प्रिंगिल पेटीशन ने रहस्यवादी अनुभूति को ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानी है। उनका विचार है कि अन्तिम सत्य केवल मस्तिष्क द्वारा पूर्णरूपेण ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु, रहस्यवाद का आविर्भाव उस प्रयास मे अवश्य है, जिसमें बुद्धि द्वारा उच्चतम या अन्तिम सत्य को समझने का प्रयास सम्भव हो। उस अन्तिम सत्य के साथ वास्तविक सम्बन्ध हो जाने के बाद आनन्द की उपलब्धि होती है। उस आनन्द का आस्वादन रहस्यवाद का जीवन पक्ष है तथा बुद्धि द्वारा उसका ज्ञान दार्शनिक पक्ष है।

आर० एल० नेटलशिप के 'मतानुसार 'सच्चा रहस्यवाद इस बात का बोध हो जाना है कि जो कुछ हमारे अनुभव में आता है, वह वस्तुतः एक अंश अथवा केवल एक अंश मात्र है, अर्थात् अपने वास्तविक अर्थ में वह अपने से किसी अधिक वस्तु का प्रतीक मात्र है। [3]

कुमारी ईवलिन अण्डरहिल के अनुसार रहस्यवाद भगवत् सत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला है। रहस्यवादी वह व्यक्ति है, जिसने किसी न किसी सीमा तक इस एकता को प्राप्त कर लिया है अथवा जो उसमें विश्वास करता है

1- Oxford Dictionary, Mysticism शब्द.

2- Mysticism appears in connection with the endeavour of humen mind to grasp the divine essence or the ultimate reality of things and to enjoy the blessedness of actual communion with the highest, the first is the philoscphical side of mysticism, the second is the religious side............ ....God cesses to be an object and becomes an experience. Mysticism in Religion, by Inge, P. 25.

3- 'True mysticism is the consciousness that everything that we experience is an element and only an element in fact i, e, that in being what it is, it is symbolic of something more' Mysticism in Religion, by Inge (New yorb) P. 25.

और जिसने इस एकता की सिद्धि को अपना चरम लक्ष्य बना लिया है।[1] यहाँ व्यक्ति तथा भगवत् सत्ता दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है तथा दोनों में एकता स्थापन की भी सम्भावना की गयी है। कु० अण्डरहिल ने वेदान्त के विशिष्टाद्वैत की भाँति ईश्वर की एवं जीव की एकता को स्वीकार किया है।

फ्रैंक गेनार ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार की है—'रहस्यवाद दर्शन सिद्धान्त,ज्ञान या विश्वास है,जो भौतिक जगत् की अपेक्षा आत्मा की उक्ति पर अधिक केन्द्रित रहता है। विश्वजनीन आत्मा के साथ आत्मिक संयोग अथवा बौद्धिक एकत्व रहस्यवाद का लक्ष्य है। आत्मिक सत्य का सहज ज्ञान और भावात्मक बुद्धि तथा आत्मिक चिन्तन या अनुशासन के विविध रूपों के माध्यम से यह उपस्थित होता है। रहस्यवाद अपने सरलतम और अपने अत्यन्त तात्त्विक अर्थ में एक प्रकार का धर्म है, जोकि ईश्वर के साथ सम्बन्ध के सजगबोध और ईश्वरीय उपस्थिति की सीधी और घनिष्ठ चेतना पर बल देता है। यह धर्म की अपनी तीव्रतम, गहनतम और सबसे अधिक सजीव अवस्था है। सम्पूर्ण रहस्यवाद का मौलिक विचार है कि जीवन और जगत् का तत्त्व वह आत्मिक सार है जिसके अन्तर्गत सब कुछ है और जो प्राणी मात्र के अन्तर में स्थित वह वास्तविक सत्य है जो उसके बाह्य आकार अथवा क्रिया कलापों से सम्बन्धित नहीं है।[2]

डा० बर्ट्रेण्ड रसेल ने रहस्यवाद की परिभाषा देते हुए कहा है—'इस विराट् जगत् के प्रति जो हमारी आस्था है, रहस्यवाद तत्त्वतः उसी के सम्बन्ध में तीव्र

1- Practical Mysticism by under Hill. P. 3.

2- Any phi os phy doctrine teaching or belief centered more on the words of the spirit than the material universe and aimed at the spiritual union or mental oneness with the universal spirit through intutive and emotional apprehension of spiritual reality and through various forms of spiritual contemplation or disciplines. Mysticism in its simplest and most essential meaning is a type of religion which puts the emphasis on immediate awareness of relation with God, direct and intimate Consciousness of divine presence. It is religion in its most excite, intense and living stage. The basic idea of all mysticism is that the essence of life and the world is an all embracing spiritual substance which is the true reality in the core of all beings regardless of their outer appearance or activities.

Mysticism Dictionaries, by Frank Gaynor.

और गम्भीर संवेदन है ।[1]

अंग्रेजी साहित्य में 'रहस्यवाद' नामक ग्रन्थ के लेखक प्रसिद्ध विद्वान् स्पर्जियन ने लिखा है— 'वास्तविक अर्थ में रहस्यवादी वह है, जिसे ज्ञात है कि समस्त अस्तित्व में केन्द्र में स्थित विषमता में एकता है। वह रहस्यवादी ज्ञान तत्सम्बन्धी व्यक्ति के लिए सबसे अधिक पूर्ण प्रमाणों में से है, क्योंकि स्वयं उसने उसका अनुभव किया है। सच्चा रहस्यवाद एक अनुभव है, एक जीवन है।[2]

लेखक का मत है कि समस्त अस्तित्व में एक विषमता है और इस विषमता में भी एकता है। उस एकता का ज्ञान रहस्यवादी को उसके अनुभव के द्वारा होता है। अतः वह ज्ञान सभी प्रमाणों से पूर्ण तथा अनुभवकर्ता के लिए अधिक सत्य होता है।

रहस्यवाद पर पाश्चात्य विद्वानों के मतों का विवेचन कर लेने के पश्चात् यहाँ कतिपय भारतीय विद्वानों के रहस्यवाद सम्बन्धी विचारों पर दृष्टिपात कर लेना भी उपयुक्त होगा।

रहस्यवाद पर अपना अभिमत व्यक्त करते हुए श्री आत्माराम शाह ने लिखा है—'अपनी अन्तः स्फुरित अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य, परमतत्व अथवा ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति रहस्यवाद है। यह प्रवृत्ति मनुष्य की प्रकृति का एक अवियोज्य अंग रही है और रहस्यानुभूति संभवतः मनुष्य की श्रेष्ठतम एवं उदात्ततम अनुभूति है। इसकी अभिव्यक्ति सभ्यता के प्रायः सभी स्तरों देशों और कालों में होती रही है। रहस्यानुभव उतना ही पुरातन है, जितनी कि मानवता। रहस्यवाद या रहस्यवादी किसी धर्म, जाति या देश विशेष में सीमित नहीं रहे हैं।'' [3]

रामचन्द्र दत्तात्रेय राणाडे ने रहस्यवादी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए लिखा है— 'यह मन की ऐसी प्रवृत्ति है, जो परमात्मा से प्रत्यक्ष, तात्कालिक,

---

1- Mysticism is in essence, little more than a certain intensity and depth of feeling in regard to what is believed about the universe.

Mysticism and Logic (Londan 1949) P 3

2- The mystic in the true sense is one, who knows there is unity uuder diversity at the centre of all existence ard he knows it by the most perfect of all the tests for the person concerned, becouse he has felt it, True mysticism is an experience and a life.

Mysticism in English Literature by Spurgeon, P. 11.

3. हिन्दी साहित्यकोश, प्रथम भाग, ज्ञानमंडल, वाराणसी, वि० सं० २०२०, द्वितीय संस्करण, पृ० ६६१

प्रथम स्थानीय और अन्तर्ज्ञानीय सम्बन्ध स्थापित कराती है।'[1] रानाडे के मतानुसार रहस्यवादी अनुभव के लिए बुद्धि, भावना एवं संकल्प इन सभी की आवश्यकता है, किन्तु अन्तर्ज्ञान का होना नितान्त आवश्यक है।

प्रो० दास गुप्ता ने लिखा है— "मैं तो रहस्यवाद को ऐसा सिद्धान्त या मत कहूँगा जो बुद्धि को परम सत्ता का स्वरूप, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, समझने या अनुभव करने के लिए असमर्थ मानता है। किन्तु, साथ ही उस तक पहुँचने के लिए किसी अन्य साधन की अमोघता में विश्वास रखता है।[2]

प्रसिद्ध दार्शनिक सर सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन् ने रहस्यवाद के विषय में लिखा है— 'प्रत्येक धर्म का इंगित किन्हीं बाह्य विधि निषेधों और सान्त्वनाओं की पद्धति विशेष की ओर होता है, जबकि आध्यात्मिकता सर्वोच्च सत्ता को जानने, उससे तादात्म्य स्थापित करने और जीवन के सर्वाङ्गीण विकास की आवश्यकता की ओर संकेत करती है। आध्यात्मिकता धर्म और उसके अन्तर्तत्त्व का सार है और रहस्यवाद में धर्म के इसी पक्ष पर बल दिया गया है।[3]

प्रो. राधाकमल मुकर्जी के अनुसार रहस्यवाद वह कला है, जिससे मनुष्य अपने अन्त: समाधान के द्वारा सृष्टि को व्यष्टिरूप से पृथक्-पृथक् भागों में नहीं, समष्टिरूप से उसकी आन्तरिक एकता में देखता है।[4]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार रहस्यवाद कवि-भावना जनित रसात्मक काव्यधारा है, जिसमें प्रेम प्रभूत-अद्वैत-प्रत्यय की भावरूप में व्यञ्जना होती है

1- Mysticism denotes that attitude of mind, which involves a direct, immediate, firsthand intutive apprehension of God. Mysticism in Maharashtra, Arya Bhushan press office, Poona, first edetion, 1933, preface Page. I.

2- Hindu Mysticism, By S. N. Das Gupta, P. 17.

3- Religion generally refers to something external, a system of sanction and consolations while spirituality points to the need of knowing and living in the highest self and raising life in all its parts. Spiritua lity in the core of religion and its inward essence, and mysticism emphasizes this side of religion.

Eastern Religion and western thoughts, by. S. Radha Krishnan, oxford University Press, Londan Second Edition, 1940, Page 61.

4- Mysticism theory and Art. by. Dr. Radha Kamal Mukerjee. P. XII.

और उस भाव का आलम्बन दर्शन प्रतिपादित दिव्य सत्ता है। उन्होंने लिखा है— 'अद्वैतवाद मूल में एक दार्शनिक सिद्धान्त है, कवि कल्पना या भावना नहीं............जब उसका आधार लेकर कल्पना या भावना उठखड़ी होती है, तब उच्चकोटि के भावात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है। रहस्यवाद दो प्रकार का है भावात्मक और साधनात्मक।[1]

परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'रहस्यवाद एक ऐसा जीवन दर्शन है, जिसका मूल आधार किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता व परमात्म तत्त्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति मे निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किये जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख भी हो जाता है।[2]

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त आधुनिक रहस्यवादी कवियो ने भी रहस्यवाद पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। महाकवि जयशकर प्रसाद, श्रीमती महादेवी वर्मा तथा डा० रामकुमार वर्मा आधुनिक युग के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। इनकी कविताओं में रहस्यवाद का सुन्दर प्रस्फुटन हुआ है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में इनके विचार निम्न प्रकार हैं—

महाकवि प्रसाद के अनुसार 'काव्य मे आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्याद है।'[3] उन्होंने लिखा है— 'वर्तमान हिन्दी मे इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यञ्जना होने लगी है। वह साहित्य मे रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है, इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम्' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।[4]

महादेवी वर्मा आधुनिक रहस्यवाद को औपनिषदिक रहस्यवाद से भिन्न समझती हैं। उन्होंने सान्ध्यगीत की भूमिका मे लिखा है—'रहस्यवाद............ विशेष प्राचीन नहीं है। प्राचीनकाल के दर्शन में इसका अकुर मिलता अवश्य है परन्तु, उसके रागात्मक रूप के लिए उसमे स्थान कहाँ है। वेदान्त के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि आत्मा की लौकिकी, पारलौकिकी सत्ता विषयक मतमतान्तर मस्तिष्क से अधिक सम्बन्ध रखते हैं, हृदय से नही।[5]

डा० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर

१. जायसी ग्रन्थावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पचम सस्करण।
२. रहस्यवाद, परशुराम चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, पृ० २५।
३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४६।
४. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ६८।
५. सान्ध्यगीत की भूमिका, महादेवी वर्मा :

नहीं रह जाता ।[1]

ए० चक्रवर्ती ने रहस्य को उपनिषद् का पर्याय माना है। निस्सन्देह प्राचीन समय में अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या, रहस्यविद्या या उपनिषद्विद्या एकार्थवाची थे। चक्रवर्ती का कहना है कि उपनिषदों में गूढ़ सिद्धान्तों का वर्णन है, अतः उसे रहस्य-विद्या कहा जा सकता है ।[2]

पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के रहस्यवाद सम्बन्धी इन विचारों की सम्यक् समीक्षा करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि रहस्यवाद एक जीवन दर्शन है। इस दर्शन द्वारा आत्मा और परमात्मा की एकता एवं समरसता अभिव्यक्त की जाती है। यह परमात्मा या परमतत्त्व विषयक धारणा है उसको प्राप्त करने का एक मार्गविशेष है, जिसका वर्णन विभिन्न दार्शनिकों और विचारकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार विभिन्न प्रकार से किया है। योग का प्रयोग भी भारतीय वाङ्मय में रहस्यात्मक सयोग अथवा मिलन की दशा को घटित करनेवाली साधना-विशेष के लिए ही हुआ है। जैन तथा बौद्ध कवियों ने जिस साधना मार्ग का निरूपण किया है और जिसमे सयोगकेवली तथा अयोगकेवली की स्थिति प्राप्त होती है, उसकी गणना भी रहस्यवाद में की जा सकती है। निर्वाण की प्राप्ति रहस्यात्मक अनुभूति के बिना सम्भव नही है, भले ही इसके पर्याय आत्मानुभूति, स्वानुभूति, स्वसवेदन तथा भेदविज्ञान आदि शब्द हों, पर अतीन्द्रिय अनुभव का आधारभूत रहस्यात्मक अनुभूति का होना परमावश्यक है।

रहस्यवाद मनुष्य की अद्वितीय प्रवृत्ति है। यह उसे सामान्य जीवन के विषयो से विमुख एवं विरक्त कर देती है। जिस प्रकार पादप की जड स्वतः ही पृथ्वी के केन्द्र की ओर चलती है, उसी प्रकार उसकी चेतना को स्वय अपने भीतर—अपने मूल उत्स की ओर—जाने के लिए विवश कर देती है। रहस्यानुभूति व्यक्तिगत धर्म का आधार है। अनुभूति के उन परमक्षणों मे आत्मा एक नई शक्ति से ओतःप्रोत नूतन और असीम आनन्द से आक्रान्त तथा अभिभूत एक अनन्त, अखण्ड, शिवतत्त्व मे निमज्जित मुक्त और पवित्रीकृत अनुभव करती है। रहस्यवादी किसी आप्त वचन में विश्वास न कर स्वय अपनी प्रत्यक्ष और असन्दिग्ध अनुभूति मे विश्वास करता है। वह अपनी साधना के साध्य परमतत्त्व को पूर्ण स्वतन्त्र मानता है तथा उसके साक्षात्कार का दावा रखता है। वह परमतत्त्व परम सुन्दर और अद्वितीय है, वह मन, वाणी, इन्द्रियो और बुद्धि से प्राप्य नहीं है, वह अनिर्वचनीय है। मनुष्य की आत्मा भी ठीक इसी तरह की है, इस प्रकार वह परमतत्त्व ब्रह्म तथा आत्मा से अभिन्न है। 'तत्त्वमसि' वही तू है, 'सोऽहम्' वही मैं हूँ 'अहं

१- कबीर का रहस्यवाद, डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, पंचम संस्करण, सन् १९४४, पृ० ७

2- Introduction of Samayasar, Edited by A, Chakrawarii, Bharatiya gnanapith, Kashi, Page XIV.

ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ आदि उपनिषद् वाक्य, सूफियों का अनलहक़ तथा ईसाइयों का क्राइस्ट इसी सत्य को व्यक्त करनेवाले चिरन्तन वाक्य हैं। अतः जो बाहर है, वही भीतर है, दोनो में पूर्ण तादात्म्य है, इस ज्ञान की उपलब्धि ही मनुष्य के जीवन का परमतम निःश्रेयस है, इसका पथ बाह्याडम्बर नहीं, अपितु नैतिक तथा आध्यात्मिक साधना है।

६. रहस्यवाद की परम्परा

कुछ विद्वान् रहस्यवाद को पश्चिम की वस्तु मानते हैं। उनके मत से रहस्यवाद का मूल उद्‌गम सेमेटिक धर्म भावना है, अतः वह भारत से बाहर की वस्तु है। किन्तु, हम देखते हैं कि भारतीय वाङ्‌मय में वेदो, उपनिषदों, जैन वाङ्‌मयो और बौद्ध वाङ्‌मयों में सच्चिदानन्द आत्मा की मूलभूत प्रवृत्तियों का विवेचन उपलब्ध होता है। आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं के साथ सम्बन्ध स्थापित करना रहस्यवादी प्रवृत्ति है और यह प्राचीनकाल से ही भारतीय वाङ्‌मय में समाहित है। जैन रहस्यवाद तथा कबीर के रहस्यवाद पर भारतीय रहस्यवाद की प्राचीन परम्परा का प्रभूत प्रभाव पड़ा है। अतः सर्वप्रथम हम भारतीय साहित्य में रहस्यवाद की परम्परा का अध्ययन करेंगे। कबीर पर फारस के सूफी कवियों का भी कुछ प्रभाव है। अतः प्राचीन भारतीय साहित्य मे रहस्यवाद की परम्परा का उल्लेख करने के उपरान्त फारस के सूफी कवियों के रहस्यवाद का भी संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

७. भारतीय साहित्य में रहस्यवाद

७.१. वैदिक साहित्य में रहस्यवाद

भारतीय रहस्यात्मक भावधारा की प्राचीनतम परम्परा ऋग्वेद से सम्बद्ध है। वैदिक चिन्तन की धारा जागतिक आश्चर्य, कुतूहल एवं जिज्ञासामय रूपों को देखकर विकसित हुई है। रहस्यात्मक प्रत्यक्ष का वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में उपलब्ध होता है। इस सूक्त मे इन्द्रिय गोचर समस्त सृष्टि के अस्तित्व तथा सर्जन के विषय मे रहस्यात्मक अनुभूतियाँ वर्णित है। इस सूक्त के अनुसार आदि मे न सत् था न असत्। अन्तरिक्ष नहीं था, न आकाश ही था, किसने आवरण डाला, किसके सुख के लिए। उस समय गहन जल भी नही था।[1] न मृत्यु थी, न अमृत, रात दिन का भेद समझने के लिए भी कोई साधन न था, वह अकेला ही अपनी शक्ति के द्वारा प्रश्वास लेता रहा। इसके अतिरिक्त इसके परे कुछ नहीं

१- नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्। —ऋग्वेद, १०।१२९।१

था ।[1] आरम्भ में यह सब अन्धकार से व्याप्त था, भेद अभेद रहित जल था, सर्वव्यापी ब्रह्म असत्य माया से आच्छादित था, मूल में एक ब्रह्म ही तप की महिमा से प्रकट हुआ, उसके मन से जो बीज निकला, वही काम हुआ तथा उसी काम से सब सृष्टि का सर्जन हुआ ।[2] पुरुष सूक्त में जो सहस्र मस्तक, सहस्रशीर्ष, सहस्र नेत्र और सहस्र-पाद वाले पुरुष का वर्णन हुआ है, वह पुरुष भी ब्रह्म से भिन्न नहीं प्रतीत होता ।[3] ऋग्वेद मे एक स्थान पर लिखा है—'मनुष्यों की मधुरवाणी में वही बोलता है, पक्षियों के कलख में वही चहकता है, विकसित पुष्पों के रूप में वही हँसता है, प्रचण्ड गर्जन या तूफान मे वही क्रोध भाव को प्रकट करता है, नभोमण्डल में चन्द्र, सूर्य तथा तारों को वही अपने-अपने स्थान पर स्थिर कर देता है ।[4]

७.२. उपनिषद् साहित्य एवं दर्शन में वर्णित रहस्यवाद

संहिता ग्रन्थों के अनन्तर रहस्यात्मक तथ्यों की अभिव्यक्ति औपनिषदिक साहित्य में हुई है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् तो रहस्यवादी अनुभूतियों एवं उपकरणों का कोष ही है । ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप एवं उस स्वरूप को प्राप्त करने के लिए रहस्यात्मक साधना का कथन भी इस उपनिषद् में पाया जाता है । इसमें आत्मा के लिए गुह्य तथा अध्यात्म ज्ञान के लिए 'गुह्यतमा' शब्द का प्रयोग किया गया है ।[5] एक स्थल पर ज्ञानात्मक रहस्यवाद के समान ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा प्रकट की गयी है । ब्रह्मवादी प्रश्न करता है—'किं कारणं कुतः स्म जाताः जीवाम् केन क्व च सप्रतिष्ठाः । अनिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्'' ।[6] इस उपनिषद् मे प्रति-पादित रहस्यवाद से यह भी निश्चित हो जाता है कि ब्रह्म की शक्ति अपरिमित होकर साधक की शक्ति से उच्चतर है । ब्रह्म सर्वोच्च है, वह पाणिपाद रहित होने पर भी गतिशील है, चक्षु और कर्णरहित होने पर भी देखता और सुनता है, वह संसार को जानता है, पर उसे कोई नहीं जानता, वह अणु से भी अणु और महान्

१— न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्नः आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पर. किंचनास । —ऋग्वेद, १०।१२९।२

२- तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदं ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयोमनीषा । —ऋग्वेद, १०।१२९।३,४

३— सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ —ऋग्वेद, १०।९०।१

४— ऋग्वेद, १०।१२१

५- श्वेताश्वतरोपनिषद्, गायत्री प्रकाशन मथुरा, अध्याय ६, मन्त्र २२

६- वही, प्रथम अध्याय, प्रथम मन्त्र

से भी महान् है ।[1]

इस उपनिषद् में ब्रह्म को कार्य और कारण दोनों ही माना है, वह न तो अन्य किसी का कारण है, न किसी का कार्य है, वह स्वयं कारण कार्यरूप है ।[2] जिस प्रकार मकड़ी अपने मुख से तन्तुओं को निकाल कर जाला बनाती है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अपना स्वयं विस्तार कर जगत् का निर्माण करता है,[3] जो इस ब्रह्म को बीजरूप अनुभव करते हैं और अपनी आत्मा को ब्रह्मस्वरूप समझते है, उन्हें किसी प्रकार का सन्ताप नहीं होता और वे शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं ।[4] यह ब्रह्म निष्कल है, निष्क्रिय है, शान्त, निरवद्य और निरञ्जन है, अमृत का परम सेतु है। जिस प्रकार अग्नि ईंधन में व्याप्त है[5] उसी प्रकार यह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, यह ब्रह्मविद्या परम गुप्त है, इसके रहस्य को साधारणतः अवगत करना कठिन है ।

इसी उपनिषद् में साधना—मार्ग का भी प्रतिपादन हुआ है । इसमें हठयौगिक[6] प्रक्रियाओं के साथ-साथ ध्यानयोग[7] का भी निरूपण हुआ है । ध्यान-योग द्वारा साधक ब्रह्म शक्ति का साक्षात्कार करता है और स्वयं को ब्रह्म में समाविष्ट कर लेता है । इस उपनिषद् में गुरु का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया है । जिस प्रकार परमेश्वर में भक्ति की जाती है, उसी प्रकार गुरु मे भी करनी चाहिए । क्योंकि गुरु के उपदेश से ही परमेश्वर या परमपद की प्राप्ति होती है ।[8]

माण्डूक्योपनिषद्[9], कठोपनिषद्[10], छान्दोग्योपनिषद्[11], ऐतरेयोपनिषद्[12],

---

१— अपाणिपादो जवनो गृहीता: पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।
अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।।
श्वेताश्वतरोपनिषद्, तृतीय अध्याय, मन्त्र, १६, २०

२— न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ।।
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय ६, मन्त्र ८

३— यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः ।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम् ।।
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय ६, मन्त्र १०

४— श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय ६, मन्त्र १२

५— वही, अध्याय ६ मन्त्र १६

६— वही, २/८ से २/१३ तक

७— वही, ११११

८— वही, ६।२३

९— माण्डूक्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, अद्वैत प्रकरण, मन्त्र, ३,४,५

१०— कठोपनिषद्—१।२।६ से १।२।२२ तक तथा २।६।७ और २।६।८

११— छान्दोग्योपनिषद्—८।१।१३

१२— ऐतरेयोपनिषद्—३।१।२ तथा ३।१।४

तैत्तरेयोपनिषद्[1], बृहदारण्यकोपनिषद्[2] तथा तेजोबिन्दूपनिषद्[3] में उक्त ब्रह्मविद्या का वर्णन विस्तार से हुआ है, जिनमें रहस्यवाद के बीजसूत्रों का बाहुल्य है।

उक्त औपनिषदिक ब्रह्मवाद या रहस्यवाद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह गुह्य ज्ञान या रहस्यवाद उस साधना के लिए प्रयुक्त होता था, जो समस्त बाह्य आडम्बरों का विरोधकर यज्ञ, बलि, जप आदि क्रियाकाण्डमयी पाखण्डों को निस्सार बताता था। उपनिषदों में सच्चे आत्मस्वरूप की प्राप्ति और पहिचान के लिए चित्तशुद्धि पर विशेष जोर दिया गया है। इस ज्ञान का नाम सहजानुभूति या स्व-सवेद्यज्ञान है। उपनिषदों के अनुसार आत्मतत्त्व निर्लिप्त, निर्विकार तथा शुद्ध है, वह सर्वव्यापी है। यह परमब्रह्म पद्मपत्रमिवाम्भसा निर्लिप्त है, अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। प्रत्येक जीवधारी में उसका निवास है। शरीर में ही उसकी अवस्थिति होने के कारण अन्यत्र उसका अन्वेषण करना व्यर्थ है। वह सर्वभूत अन्तरात्मा एक होकर भी अपने को अनेक रूपों वाली कर लेती है। इस प्रकार उपनिषदों में विराट् ब्रह्म का रहस्यागुह्य वर्णन हुआ है। उपनिषद् की इस अध्यात्म विचारधारा का प्रभाव भारतीय धर्म साधना पर व्यापक रूप से पड़ा है।

८. संस्कृत साहित्य में रहस्यवाद

८.१ गीता

गीता में भी ब्रह्म सम्बन्धी गुह्यता का प्रतिपादन हुआ है। महाभारत के युद्ध में अर्जुन का विवेक कुण्ठित हो जाने पर श्रीकृष्ण आत्मा की अमरता पर सरस प्रकाश डालते हुए उनके कुण्ठित विवेक को जाग्रत करते हैं। वे कहते हैं—यह आत्मा न जन्म लेती है, न मृत्यु को प्राप्त होती है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह अजन्मा, नित्य और शाश्वत है।[4]

गीता के ग्यारहवें अध्याय में रहस्यात्मक अनुभूति सर्वोत्कृष्ट रूप में दृष्टि-गोचर होती है। जिज्ञासु अर्जुन अपने उपदेशक से पर्याप्त सुन लेने के पश्चात् उसके प्रत्यक्ष दर्शन की आकांक्षा प्रकट करते हैं।[5] भगवान् उन्हें दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से वह द्रष्टव्य नहीं था।[6] दिव्य दृष्टि से अर्जुन कृष्ण के उस विराट् अलौकिक रूप का साक्षात्कार कर आश्चर्य तथा श्रद्धा से गद्‌गद होकर उसका वर्णन करते हैं—'उस विराट् स्वरूप का न आदि है, न मध्य, न अन्त।[7]

१– तैत्तरेयोपनिषद्–प्रथम अनुवाक्, ब्रह्मानन्द बल्ली १
२– बृहदारण्यकोपनिषद् –२।४।५
३– तेजोपनिषद्–अध्याय ५, मन्त्र ३७-३८ तथा अध्याय ६, मन्त्र ३२
४– गीता २।२०
५– गीता ११।३
६– गीता ११।८
७– गीता ११।१६

वह कहते हैं—किरीट, गदा और चक्र धारण किये हुए, चारों ओर प्रभा विकीर्ण किये हुए प्रचण्ड अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान, तेजपुंज, दुर्निरीक्ष्य और अपरम्पार तुम्हीं मुझे सर्वत्र दीख पड़ते हो ।[1] सम्पूर्ण धरती, आकाश पाताल तथा सभी दिशाओं को तुमने अकेले ही व्याप्त कर लिया है, त्रैलोक्य तुम्हारे उस अद्भुत और उग्ररूप को देखकर व्यथित हो रहा है ।[2] देवताओं के समूह तुममें प्रवेश कर रहे हैं, कुछ भय से हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे हैं ।[3] रुद्र आदि सब विस्मय विमूढ होकर तुम्हारी ओर निहार रहे हैं, महर्षियों और सिद्धों के समुदाय अनेक प्रकार के स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति कर रहे है ।[4] तुम्हारे इस अनेक हाथ, पैर, मुंह दाढ़ वाले विकराल स्वरूप को देखकर सब लोको को तथा मुझे भी विस्मय हो रहा है ।[5]

गीता में ब्रह्म के सर्वव्यापक रूप के वर्णन के साथ-साथ साधनामार्ग का भी प्रतिपादन हुआ है । श्रीकृष्ण अर्जुन को अनासक्त होकर लोक संग्रह के लिए उचित कार्य करने की प्रेरणा देते हैं ।[6] वे कहते हैं—केवल कर्म करने मे ही मनुष्य का अधिकार है, फल में कदापि नही । अतः निष्काम कर्म करना ही श्रेयस्कर है ।[7]

८.२. भागवत

प्रो० राणाडे ने भागवत को भारत के रहस्यवादियों के वर्णन एवं भावोद्गारो का भाण्डार कहा है ।[1] श्रीमद्भागवत मे कृष्ण की लीलाओं का वर्णन भी रहस्यवादी है । विश्वमोहिनी रूप का चित्रण तथा शंकर का उसके प्रति अनुधावन प्रेममूलक सरस रहस्यवाद है । इसमें प्रतिपादित भक्तिमूलक साधना पद्धति मे प्रेम, अन्तर्द्वन्द्व एव मिलन की अवस्थाएँ रहस्यानुभूतिपरक हैं । भागवत् के दशम् स्कन्ध के अष्टम् अध्याय में शुकदेव जी की वे शिक्षाएँ भी निहित हैं, जिनमे रहस्यवादी जीवन के लिए अपेक्षित भक्ति, नामस्मरण, गुरु का महत्त्व, सत्संग की आवश्यकता तथा कुसग के दुष्परिणाम का भी प्रतिपादन हुआ है ।[2]

८.३. भक्तिसूत्र

भागवत् के पश्चात् शाण्डिल्य भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र रहस्यवादी प्रगति की विशिष्ट कड़ियाँ हैं । शाण्डिल्य भक्तिसूत्र ब्रह्म और जीव की

१- गीता ११।१७
२- गीता ११।२०
३- गीता ११।२१
४- वही ११।२२
५- वही ११।२३
६- वही ३।१६
७- वही २।४७
8- Mysticism in Maharashtra. P. 88
९- भागवत्, स्कन्ध १०, अध्याय ८

प्रकृति उनके पारस्परिक सम्बन्ध और सृष्टि के प्रश्नों को प्रस्तुत करता है।[1] नारदीय भक्तिसूत्र में भी भक्ति सम्बन्धी तथ्यों की अभिव्यञ्जना हेतु ब्रह्म का व्यापक और विराट् रूप वर्णित है।[2] यह भक्ति ईश्वर के प्रति प्रेमरूपा है[3], अमृतरूपा है[4], इसको पाकर साधक सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है।[5] यही रहस्यात्मक अनुभूति की उत्कृष्ट भावभूमि है।

८.४. संस्कृत के ललित साहित्य में वर्णित रहस्यवाद

ललित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जो अपने सौन्दर्यबोध के कारण चित्त का अनुरञ्जन करता है। इस साहित्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्ड-काव्य, नाटक, गीतिकाव्य प्रभृति की गणना की जाती है। हम यहाँ कालिदास, भवभूति, जयदेव आदि उन कवियों की रचनाओं मे समाहित रहस्यवादी तत्वों का विश्लेषण करेंगे, जिनके काव्यों मे कल्पना, अनुभूति, संवेग, भावना, स्थायीभाव, संचारीभाव, रसानुभूति आदि का समावेश तथा हृदय को रञ्जित या द्रवित करने की क्षमता पायी जाती है —

कालिदास

महाकवि कालिदास ने रघुवंश काव्य मे समुद्र और सरिता के प्रणय व्यापार का जो रूप अंकित किया है, वह वस्तुतः प्रकृति और पुरुष के प्रणय-व्यापार का ही रूप है।[6] इस प्रकार यहाँ भी रहस्यवाद की झलक मिलती है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने मेघदूत मे विराट् पुरुष के दर्शन कर कालिदास के रहस्यवाद की ओर संकेत किया है, उन्होंने लिखा है—'प्राण जलरूप से मेघों मे है, अग्नि रूप मे सूर्य की रश्मियों में है, सोमात्मक चन्द्रमा में, इन्द्रियों में, पशुओं में, मनुष्यों मे तथा अन्न से समुद्भूत वीर्य में सर्वत्र व्याप्त है। इसी आधार पर प्रकृति अपने नियमो को पूर्ण करके सृष्टि का कार्य चला रही है। वर्षा ऋतु प्राणो की एक बहिया है, इसी के संक्षोभ का वर्णन मेघदूत मे हुआ है। व्यक्तिगत प्राण और विराट् प्राण दोनों एक ही हैं। इसीलिए मेघदूत के यक्ष को अचेतन मे भी चेतन के दर्शन होते हैं। वह चेतन अचेतन के कल्पनानिर्मित भेदों को बिल्कुल भूल गया है।[7]

मेघदूत मे कालिदास ने योगसाधना के अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होने 'हंसद्वारं भृगुपति यशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्' से योगसाधना की ओर संकेत किया है। योगसाधना में प्राणायाम की पराकाष्ठा होने पर प्राण षट्चक्र का भेदन

१– शाण्डिल्य भक्तिसूत्र
२– नारदीय भक्तिसूत्र
३– वही, २, ४– वही, ३
५– वही, ४
६– कालिदास ग्रन्थावली के अन्तर्गत रघुवंश महाकाव्य, त्रयोदश सर्ग श्लोक, ९
७– मेघदूत एक अध्ययन, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृष्ठ २६

करते हुए कपालस्थ जिस रन्ध्र से निकल कर शिव में विलीन हो जाता है, कवि ने उस रन्ध्रद्वार को क्रौञ्चरन्ध्र कहा है।

भवभूति

महाकवि भवभूति ने अपने नाटक उत्तररामचरित में अद्वैतवादी और रहस्यवादी तत्वों का समावेश किया है। इस नाटक के तृतीय अंक में छाया सीता की कल्पना नाट्यकला की दृष्टि से जितनी महत्त्वपूर्ण है उससे कहीं अधिक रहस्यवाद की दृष्टि से है। एक ही करुण रस को समस्त रसों का मूल मानना भी ब्रह्मवाद की ओर सकेत करता है। जिस प्रकार माया के कारण एक होते हुए भी ब्रह्म के विभिन्न परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार रससामग्री की विभिन्नता से भिन्न होता हुआ करुण रस भिन्न-भिन्न परिणामों को धारण करता है। परन्तु है वह एक ही। एक ही जल कभी भँवर के रूप को, कभी बुद् बुदो और तरङ्गों के रूप को धारण करता है, परन्तु वास्तव में वह सब जल ही है। इसी प्रकार ससार में सर्वत्र ब्रह्म ही परिव्याप्त है।[1]

भवभूति ने अद्वैत के रूप मे ही दाम्पत्य प्रेम का भी चित्रण किया है।[2] इसी अद्वैत के कारण उनके नाटक में रहस्यवाद की गध मिलती है।

जयदेव

युगप्रवर्तक कवि जयदेव के गीत गोविन्द में भी रहस्यात्मक विचारधारा के दर्शन होते है। जयदेव के ऊपर तन्त्र हठयोग और वज्रयान का पूर्ण प्रभाव है। अत: उनकी रचनाओं में रहस्यभावना पूर्णतया समाहित है। कवि ने अपने गीत गोविन्द मे राधाकृष्ण की रासलीला के रूप में ब्रह्म और माया की लीला का ही वर्णन किया है। कवि का मूल उद्देश्य राधाकृष्ण के शृगारी भाव का विवेचन होते हुए भी भागवत् की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का वे त्याग नही कर सके हैं। यही कारण है कि गीतगोविन्द में भी रससिक्त रहस्यभावना उपलब्ध होती है। जहाँ राधा का उत्कंठिता, प्रोषितपतिका, वासकसज्जा और विप्रलब्धा के रूप मे चित्रण किया गया है, वहाँ विरह की स्थिति रहस्यवादी है।[3] एक सच्चे वैष्णव के लिए राधाकृष्ण की परम लीलाओं का चित्रण आत्मा और परमात्मा का लीलाचित्रण ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ललित साहित्य में भी शृंगार के रूप में रहस्यवाद वर्णित है।

९. तन्त्र–साहित्य में रहस्यवाद

भारतीय साहित्य में वेद उपनिषद् आदि के माध्यम से होते हुए रहस्यवाद का प्रस्फुटन तान्त्रिक साधनाओं में हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने

१– उत्तर रामचरित, भवभूति ३।४७

२– वही, १।३६

३- हरिरिति हरिरिति जपति सकामम्, गीतगोविन्द, जयदेव

'मध्यकालीन धर्मसाधना' नामक ग्रन्थ में छठीं शताब्दी के अनन्तर प्रादुर्भूत हुए तान्त्रिक रहस्यवाद का उल्लेख करते हुए लिखा है— 'विक्रम की छठी शताब्दी के बाद भारतीय धर्मसाधना के क्षेत्र में उस नये प्रभाव का प्रमाण मिलने लगता है, जिसे संक्षेप में तान्त्रिक प्रभाव कह सकते हैं। केवल ब्राह्मण ही नहीं जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी यह प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।[1]

शैव एवं शाक्त तन्त्र—तान्त्रिक साधना में रहस्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। विश्वसार तन्त्र में लिखा है—

प्रकाशात्सिद्धिहानिः स्याद्वामाचार गतौ प्रिये।
अतो वामपथेदेवि गोपयेत्मातृजारवत् ।।[2]

अर्थात् वामाचार मार्ग में साधना को प्रकाशित करने से सिद्धि की हानि होती है। अतः वामाचार को माता के व्यभिचार के समान गुप्त रखना चाहिए। तान्त्रिकों ने न केवल साधना की गुह्यता पर जोर दिया है अपितु, सिद्धान्तों को भी गुप्त रखने की चेष्टा की है। साधना मार्ग की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक शैली को अपनाया गया। फलतः यौगिक और अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद का विकास हुआ।

तान्त्रिक रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता उसकी सक्रियता है। इसके द्वारा पारमार्थिक सत्ता तक पहुँचने एवं आत्म रहस्यों को समझने की चेष्टा की गयी है। डा० डी० एन० बोस ने रहस्यवाद के साधनात्मक पक्ष का उद्घाटन करते हुए लिखा है— 'रहस्यवाद अपनी उच्चातिउच्च अवस्था मे एक विस्तृत विधान का रूप धारण करता है और उसके लिए कठोर संयम की आवश्यकता होती है, बिना वैराग्य धारण किये हुए रहस्य लोक में प्रवेश पाना ठीक उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार बिना व्यायाम के किसी का पहलवान होना।[1]

पंच तत्त्व की साधना तथा संयम से अपने को शुद्ध करके तान्त्रिक योग की ओर अग्रसर होता है। तान्त्रिक की योग साधना का आधार कुण्डलिनी योग या नादविन्दु साधना है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को व्यष्टिरूप जीवशक्ति कहा गया है यह कुण्डलिनी या जीवशक्ति चलित होकर सहस्रार में स्थित शिव से मिली जाती है। यही शिव शक्ति का मिलन स्थल है। जीव शक्ति को शिव तक पहुँचने मे एक लम्बे मार्ग को पार करना पड़ता है। इस मार्ग मे षट्चक्र या नवचक्र आते हैं। इन चक्रों का भेदन कर पराशिव या पराशक्ति को प्राप्त किया जा सकता है।

बिन्दु शक्ति का अव्यक्त रूप है और नाद उसका व्यक्त रूप है। समष्टिरूप में वह विश्व का कारण है और व्यष्टिरूप में संसार का। कुण्डलिनी शक्ति बिन्दु

१. मध्यकालीन धर्मसाधना, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद द्वि सं० पृ० १७।
२. विश्वसार तन्त्र १/४/२।
1. Tantras, their philosophy and occult secrets, Page 109

और महाबिन्दु को पार कर अकुल शिव तक पहुँचती है । यही कुल कुण्डलिनी योग या नादबिन्द साधना है, जो सम्पूर्ण तान्त्रिक रहस्यवाद की पृष्ठ भूमि है ।[1]

१०. हठयोग में समाहित रहस्यवाद

हठयोग प्रदीपिका में हठयोग की व्याख्या करते हुए लिखा है— हश्च ठश्च हठौ सूर्यचन्द्रौ तयोर्योग: हठयोग: एतेन हठशब्दवाच्यो सूर्याचन्द्राख्ययो: प्राणापानयो- रैक्यलक्षण: प्राणायामो हठयोग: ।[2] अर्थात् ह का अर्थ है सूर्य और ठ का अर्थ है चन्द्र इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के योग को हठयोग कहा गया है ।

हठयोग का प्रमुख विषय नाड़ीजय है, इसका विकसित रूप कुण्डलिनी शक्ति है । नाड़ी जय और कुण्डलिनी शक्ति का निरूपण आलङ्कारिक और चित्रात्मक होने के कारण रहस्यवाद है । कुण्डलिनी शक्ति योग में सबसे महत्वपूर्ण वर्णन चक्रों के हैं । हठयोगी छह चक्र मानते हैं ।[3] १ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणिपूर, ४ अनाहत, ५. विशुद्धि और ६ आज्ञा । चक्रो से सम्बन्धित इडा पिंगला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ है ।[4] इडा बायीं ओर होती है, इसका शुभ्र वर्ण है, पिंगला सुषुम्ना के दाहिनी ओर होती है, इसका रक्तवर्ण है । इड़ा को सूर्यनाड़ी पिंगला को चन्द्रनाड़ी और सुषुम्ना को अग्निनाडी कहा जाता है । सुषुम्ना के मध्यभाग में वज्रा नाड़ी है, वज्रा में चित्रानाडी अन्तर्निहित है, सुषुम्ना नाड़ी अग्नि स्वरूप और वज्रा सूर्य स्वरूप मानी जाती है, चित्रा पूर्ण चन्द्र मण्डल स्वरूप है, चित्रा नाडी ब्रह्मद्वार कहलाती है । क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति इसी में से होकर ऊर्ध्व- गामिनी होती है । सुषुम्ना में कुण्डलिनी तब प्रवेश करती है, जब इड़ा और पिंगला समगति से चलती हैं । योगी का लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना के बीच के चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार कमल तक ले जाना है । कुण्डलिनी के सहस्रार मे पहुँचते ही साधक को समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है और वह अमर हो जाता है ।

सहस्रार दल कन्ददेश में एक पश्चिमोन्मुखत्रिकोण है, इस त्रिकोण में ब्रह्म- विवर सहित सुषुम्नामूल है । इस स्थान मे मूलाधार पर्यन्त जो विवर है, वही ब्रह्मरन्ध्र है । यह ब्रह्मरन्ध्र दशमद्वार कहलाता है, इसकी साधना करने वाला ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । हठयोग की यह चक्रभेदन प्रक्रिया और कुण्डलिनी उत्था- पन प्रक्रिया रहस्यात्मक है ।

---

१. कबीर और जायसी का रहस्यवाद और तुलनात्मक विवेचन डा॰ गोविन्द त्रिगुणायत पृ॰ ४१ से ४३ तक ।
२. हठयोग प्रदीपिका सं॰ श्री निवास आयंगर, पृ॰ ३ ।
३. मालतीमाधव ५/२ तथा षट्चक्र निरूपण ।
४. सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, सं॰ महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ, सन् १९२५, १-६१

११. सूफी कवियों का रहस्यवाद और उसका हिन्दी पर प्रभाव

रहस्यवाद के मूल सिद्धान्त इस्लाम धर्म में प्रारम्भ से ही विद्यमान् थे। किन्तु पारस देश से आने पर सूफी रहस्यवाद पर बौद्ध प्रभाव पड़ा। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य विचारों के सम्मिश्रण से विदेशी होने पर भी सूफी रहस्य-वाद भारतीय बन गया। फलतः फारसी नामों के अतिरिक्त इसके अन्य सिद्धान्तों में कोई मौलिक अन्तर नहीं रहा।

सूफी रहस्यवादी कवियों ने कहा है कि परमात्मा जात (सत्ता) सिफत (गुण) और कर्म में अद्वितीय तथा निरपेक्ष है। वह अनन्त -विभूति है, परम प्रियतम और परम सौन्दर्य है। साधक आत्मा उस परम प्रियतम को पाने के लिए आकुल रहती है। आत्मा परमात्मा के इस प्रेम सम्बन्ध का वर्णन सूफी कवियों ने आत्मा विभोर होकर किया है। उनके विचार से इस आध्यात्मिक प्रेम की प्राप्ति में लौकिक प्रेम सहायक है। अपने आध्यामिक एवं अलौकिक प्रेम को व्यक्त करने के लिए सूफी कवियों ने विशेष साकेतिक अर्थ के साथ सांकी, शराब, मासूक, जुल्फ आदि शब्दों का भी प्रयोग है।[1]

सूफी साधना का प्रारम्भ भी प्रेम से होता है और परिणति भी प्रेम में ही होता है। परमात्मा रूपी प्रियतम का प्रेम पाने के लिए साधक सभी कठिनाइयों का स्वागत करता है और अपने प्रेम के द्वारा उन पर विजय प्राप्त कर परम प्रियतम आत्मा के तादात्म्य स्थापित करता है। अहं ही सब दु:खों का मूल है। सूफी साधकों की सबसे बड़ी साधना है अहं पर विजय प्राप्त करना।

सूफी साहित्य मे साधना मार्ग की चार अवस्थाओं तथा मंजिलों का भी वर्णन मिलता है, जिनमे साधक क्रमशः विशुद्धि की ओर अग्रसर होता हुआ अन्तिम अवस्था में राग विराग से अतीत होकर विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है और परमात्मा के साथ एकमेक होकर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[2]

१२. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में रहस्यवाद

भारतीय साहित्य में रहस्यवाद की उक्त परम्परा प्राचीनकाल से अब तक अविच्छिन्न चली आ रही है। हिन्दी साहित्य में यह रहस्यानुभूति विविध रूपों में परिलक्षित होती है। मध्यकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्णकाल माना जाता है। मध्यकाल के दोनों वर्गों—भक्तिकाल और रीतिकाल के साहित्य में हमें किसी न किसी रूप में रहस्य भावना के दर्शन होते हैं। भक्तिकाल के कबीर, जायसी आदि निर्गुण कवियों के काव्यों में ही नहीं सूर, तुलसी, मीरा आदि सगुण कवियों के काव्यों में भी यह रहस्य भावना पूर्णतः समाहित है।

---

१. हिन्दी साहित्यकोश, ज्ञानमंडल वाराणसी पृ० ६३७।

२. वही, पृ० ६३८, ६३९

१.२. कबीर

कबीर हिन्दी साहित्य के महान् रहस्यवादी कवि हैं। कुमारी अण्डरहिल ने उन्हें भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में बड़ा रोचक व्यक्तित्वपूर्ण रहस्यवादी कहा है।[1] उनमें हमें रहस्यवाद के समस्त प्रकार और प्रक्रियाएँ मिलती हैं। उनके व्यक्तित्व का यह महान् वैशिष्ट्य है कि उन्होंने अध्यात्मचिन्तन को मथकर रामरस-रूपी मधुमय दिव्य नवनीत निकाल लिया है, जिसकी प्राप्ति होने पर संसार के अन्य सभी रस विस्मृत हो जाते हैं।

'राम रस पाइया रे तार्थे विसरि गये रस और।[2]

इस राम रस को पीकर शिव शनकादि भी आनन्दमग्न हो जाते हैं, किन्तु इस रस से कभी तृप्ति नहीं होती—

इहि रस शिव शनकादिक माते पीवत अजहुं न अघाय।[3]

इस अद्भुत रस की अनुभूति आत्मचिन्तन से ही सम्भव है। अतः वे कहते हैं—

आपहि आप बिचारिए तब केता होइ अनन्द रे।[4]

कबीर का यह राम निर्गुण, निराकार, अगम, अगोचर, और अनिर्वचनीय है। जैसे गूँगा व्यक्ति गुड़ के स्वाद का अनुभव तो करता है किन्तु उसका वर्णन नहीं कर सकता, ऐसे ही राम रस का स्वादी भी उसका अनुभव कर सकता है, पर वाणी द्वारा वर्णन नहीं कर सकता। वे कहते हैं—

जो दीसै सो तो है नाहीं है सो कह्या न जाई।
सैनी बैनी कहि समुझाऊँ गूँगे का गुड़ भाई॥[5]

कबीर ने आत्मा और परमात्मा के मिलन का दाम्पत्य सम्बन्धी प्रतीकों के माध्यम से सरस विवेचन किया है। जिस प्रकार प्रेयसी को अभिलषित पति मिल जाने पर वह आनन्द विभोर होकर सखियों से गाने के लिए कहने लगती है, उसी प्रकार जीव अपने भीतर निःसीम की उपलब्धि कर आनन्द विह्वलता में अन्य साधकों पर अपना उल्लास प्रकट करने लगता है—

दुलहिन गावहु मंगलचार।
हम घर आए हो राजा राम भरतार।

कबीर ने आध्यात्मिक विरह का भी विस्तृत विवेचन किया है। भावात्मक रहस्यवाद के अतिरिक्त कबीर ने साधनात्मक रहस्यवाद का निरूपण किया है।

---

1. The most interesting personality of the history of Indian Mysticism, Km Underhill.
२. कबीर ग्र० श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी पत्रिका सप्तम् सं० पृ० ३८२ पद, ७५।
३. वही, पृ० ८८।
४. वही, पृ० ७६, पद ५।
५. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १२६।

साधना मार्ग में हठयौगिक प्रक्रियाओं के साथ-साथ चित्तशुद्धि पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने बाह्याडम्बर की भर्त्सना करते हुए अपने घर में ही उसे ढूंढने का आदेश दिया है।

१२ २. मध्यकाल के अन्य कवियों की रहस्यानुभूति

प्रेमाश्रयी शाखा के सूफी कवि जायसी ने पद्मावती के केशों, दन्तावलियों आदि का वर्णन करते हुए अलौकिक सौन्दर्य की ओर संकेत किया है। उन्होंने आध्यात्मिक विरह का भी वर्णन किया है। उनका कथन है कि प्रिय के हृदय में स्थित होने पर भी साधना अधूरी होने के कारण उससे मिलन नहीं हो पाता। उनका रहस्यवाद भावात्मक है, जिसमें सूफी रहस्यवाद की सभी विशेषताएँ निहित हैं। सगुण भक्त तुलसी भी उस निराकार को साकार से अभिन्न मानकर रहस्य व्यञ्जना करते हैं। सूरदास भी उस विराट् निर्गुण निराकार के साथ ऐक्यानुभूति के आनन्द का वर्णन करते दिखाई देते हैं। यही नहीं मीरा परमात्मा को प्रियतम मानकर विरह वेदना व्यक्त करती हैं। रीतिकाल के बिहारी कवि ने भी कृष्ण को ब्रह्म तथा राधा को शक्ति मानकर उनकी लीला का रहस्यात्मक वर्णन किया है।

१३. आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद

हिन्दी के आधुनिक कवियों में जयशकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा तथा डा० रामकुमार वर्मा प्रमुख रहस्यवादी कवि हैं। जयशकर प्रसाद कहीं उस अज्ञात, असीम, अनन्त सत्ता के प्रति जिज्ञासा तथा आस्था प्रकट करते दिखाई देते हैं[1] तो कहीं समरसता की स्थिति में उसे अखण्ड आनन्द का कारण मानकर उस आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रेरित करते पाए जाते हैं।[2] कवि निराला ने 'तुम और मे' शीर्षक कविता के द्वारा आत्मा परमात्मा के अविच्छिन्न सम्बन्धो का विश्लेषण किया है[3] तो महादेवी वर्मा ने 'बीन भी हूँ मैं' 'तुम्हारी रागिनी भी हूँ'[4] पक्तियों के द्वारा जीव और ब्रह्म का अद्वैत तथा उनका अशांशिभाव व्यक्त किया है। अज्ञात प्रियतम के प्रति वेदना की तीव्र अनुभूति भी

१- हे अनन्त रमणीय कौन तुम, यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो क्या हो इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट् हे विश्वदेव तुम कुछ हो ऐसा होता भान। —कामायनी, आशा सर्ग

२- समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखंड घना था॥ —कामायनी, पृ० ३०२

३- आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, विश्वनाथ गौड़, पृ० १५१ से १६१ तक

४- यामा, पृ० ३९

महादेवी वर्मा तथा रामकुमार वर्मा के काव्यों में उपलब्ध होती है ।[1]

१४. रहस्यवादी अवधारणाएँ

उपर्युक्त रहस्यवादी साहित्य के अनुशीलन से अवगत होता है कि रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से अब तक निम्न धारणाएँ प्रचलित हैं—

१- एक सर्वोच्च सत्ता की प्रतीति, २- उसकी मूकता एवं अनिर्वचनीयता, ३- घट में ही उसकी स्थिति, ४- जीव और ब्रह्म की ऐक्यानुभूति, ५- अनुभूति की तीव्रता, ६- समरसता की दशा में अलौकिक रसास्वादन, ७- सर्वोच्च सत्ता के साथ विभिन्न सम्बन्धों की स्थापना, ८- विरहानुभूति, ६- सांसारिक प्रलोभनों की हेयता, १०- सर्व जीव समभाव, ११- साधना मार्ग का निरूपण, १२- चित्तशुद्धि की अनिवार्यता, १३- शील एवं सदाचार की उपादेयता, १४- बाह्याडम्बर का त्याग, १५- गुरु का महत्त्व, १६- प्रतीकों एवं पारिभाषिक शब्दावलियों का प्रयोग, १७- अभिव्यक्ति की सरसता, १८- प्रकृति के कण-कण में परसत्ता की छायानुभूति ।

□

१- देव मैं अब भी हूँ अज्ञात ।
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम मिलन की रात ।
तुमसे परिचित होकर भी मैं तुमसे इतनी दूर ।
बढ़ना सीख सीखकर मेरी आयु बन गई क्रूर ।। —चित्ररेखा, पृ० १

द्वितीय अध्याय

२. जैन रहस्यवाद

१. उत्थापना
२. जैन रहस्यवाद का स्वरूप
३. सामान्य रहस्यवाद और जैन रहस्यवाद में अन्तर
४. जैन रहस्यवाद का विकास
५. प्राकृत वाङ्मय में समाहित रहस्यवाद
  ५.१. कुन्दकुन्द का रहस्यवाद
  ५.२. आचार्य शिवार्य के ग्रन्थों में रहस्यवाद
  ५.३. स्वामि कार्तिकेय और उनका रहस्यवाद
  ५.४. आचार्य नेमिचन्द्र का साधनामार्ग
६. संस्कृत वाङ्मय में निहित जैन रहस्यवाद
  ६.१. आचार्य पूज्यपाद का रहस्यवाद
  ६.२. आचार्य उमास्वाति
  ६.३. आचार्य हरिभद्र का साधनामार्ग
  ६.४. आचार्य शुभचन्द्र का रहस्यवाद
७. अपभ्रंश भाषा में जैन रहस्यवाद
८. हिन्दी जैन वाङ्मय में प्रतिपादित रहस्यवाद
९. जैन रहस्यवाद के तत्त्व

का अनुभव करता हुआ द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्मों का विनाश कर परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।[1] इस दर्शन में आत्मा एक नही अनेक हैं, सभी आत्माएँ परमात्मा बनने की क्षमता रखते हैं।[2] परमात्मा बनने की प्रक्रिया साधनामार्ग है, इस साधना को योगमार्ग कहा जा सकता है। जैन मान्यता के अनुसार आत्मानुभूति दिव्य और अलौकिक होती है। इसकी तुलना संसार की किसी वस्तु से नही की जा सकती।

संक्षेप में रहस्यवाद कर्मबद्ध जीवात्मा की वह आत्मानुभूति मूलक प्रवृत्ति है, जिसमें वह भेद ज्ञान के द्वारा दिव्य और अलौकिक शक्ति–सम्पन्न परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। आत्मा में परमात्मा की दिव्यशक्ति पूर्णतया प्रादुर्भूत हो जाती है और परमात्मा के समस्त गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य प्रकट हो जाते हैं। केवलज्ञान ज्योति के प्रकाशित होते ही अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है और समस्त पदार्थों का साक्षात्कार होने लगता है।

३. सामान्य रहस्यवाद और जैन रहस्यवाद में अन्तर

जैन रहस्यवाद और अन्य धर्म एवं सम्प्रदायों में प्रचलित सामान्य रहस्यवाद में मौलिक एवं तात्त्विक अन्तर है।

औपनिषदिक रहस्यवाद में परमात्मा और जीवात्मा में अंश–अंशी का सम्बन्ध है। जब जीवात्मा और परमात्मा का एकीकरण होता है, उस समय जीवात्मा का अस्तित्व परमात्मा मे विलीन हो जाता है। पर जैनदर्शन मे आत्मा और परमात्मा में अंश–अंशी का सम्बन्ध नहीं है। आत्मा और परमात्मा दोनों में शक्ति की अपेक्षा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्त-चतुष्टय पाये जाते हैं। कर्मबद्ध आत्मा में अनन्त चतुष्टय प्रकट नही होते, कर्ममुक्त होते ही अनन्तचतुष्टय प्रकट हो जाते हैं और आत्मा परमात्मा बन जाता है।[3] आत्मा की शुद्धतम स्थिति ही परमात्मा है। अतः आत्मा और परमात्मा मे मिलन या एकीकरण की वैसी प्रक्रिया सम्भव नही है जैसी जीव और ब्रह्म मे। जीव और ब्रह्म मे दो पृथक् शक्तियाँ है, पर आत्मा और परमात्मा मे पृथक्त्व नहीं है।

सामान्य रहस्यवाद और जैन रहस्यवाद का साधनामार्ग भी भिन्न है। यद्यपि मध्यकालीन जैन कवियों ने सामान्य रहस्यवाद की शब्दावली का प्रयोग किया है, प्रतीकों द्वारा अपनी रहस्यमूलक भावनाओं की अभिव्यञ्जना भी की है, दाम्पत्य सम्बन्ध भी स्थापित किया है। किन्तु परमात्मा बनने के लिए आत्मा का गुणस्थान

१- परमात्मप्रकाश, पृ० २२, दोहा १५

२- परमात्म प्रकाश, पृ० ८६, दोहा २,३

३- परमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ७५

२. जैन रहस्यवाद

१. उत्थापना

जैन वाङ्मय में सामरस्य भाव, बाह्याचार का निरसन, प्रतीक एवं रहस्यवादी शब्दावली के द्वारा चित्तशुद्धि का निरूपण और परमात्मपद की प्राप्ति आदि रहस्यवादी तत्त्व प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी जैन साधकों को रहस्यवादी स्वीकार किया है।[1] अतः सर्वप्रथम हम जैन दृष्टिकोण से रहस्यवाद की परिभाषा कर उसके मुख्य तत्त्वों और सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

२. जैन रहस्यवाद का स्वरूप

आत्मानुभूति द्वारा स्व को शुद्ध, बुद्ध और ज्ञानरूप अनुभव करते हुए श्रद्धा, ज्ञान एव चरित्र द्वारा परमशुद्ध परमात्मतत्त्व मे मिलन की क्रिया रहस्यवाद या रहस्य मार्ग है।

जैन दृष्टि से विशुद्ध चेतनस्वरूप की उपलब्धि ही रहस्यवाद का साध्य है। शुद्ध परमात्मतत्त्व के साथ अपनी एकता का स्पष्ट सवेदन रहस्यवाद है। इस सवेदन मे रत्नत्रय की उत्तरोत्तर विशुद्धि बढती जाती है और आत्मा स्वयं ही परमात्मा बन जाता है।[2] जैन रहस्यवाद मे उपनिषद् के समान ही गुह्यातिगुह्य परमतत्त्व की खोज और प्रत्यक्षीकरण का प्रयास दिखलाई देता है। किन्तु जैनों का परमात्मा न तो अद्वैत है न सृष्टिकर्ता।[3]

जैनाचार्यों ने प्रत्येक आत्मा को शक्ति की अपेक्षा परमात्मस्वरूप स्वीकार किया है। इनके मत से परमात्मा जीवात्मा से भिन्न नहीं है। कर्मबद्ध आत्मा आत्मा कहलाता है और कर्ममुक्त परमात्मा। रहस्यवाद की प्रक्रिया में आत्मा स्वानुभूति

१- मध्यकालीन धर्मसाधना, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, द्वि० सं० पृ० ५२

२- परमात्म प्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, भूमिका, पृ० १०६

३- जैनधर्म पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय दि० जैनसंघ, पृ० १११

आरोहण आवश्यक है।[1] आठ प्रकार की योगदृष्टियों का अवलम्बन लेकर ही आत्मा अपने शुद्धस्वरूप परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है।[2] आत्मा की साधना द्वारा शक्ति उत्पन्न नहीं करनी है अपितु अपने अन्दर निहित शक्ति को ही अभिव्यक्त करना है।

जैन दर्शन में रत्नत्रय को साधना मार्ग[3] कहा है। इस मार्ग की तीन कड़ियाँ हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। सम्यक् दर्शन आत्मसत्ता की आस्था है। मैं कौन हूँ? क्या हूँ? कैसा हूँ? इसका निश्चय ही सम्यक् दर्शन है। संसार में अनन्त पदार्थ हैं, अनन्त चेतन और अनन्त जड़। जड़ और चेतन के भेद की प्रतीति ही सम्यक् दर्शन का वास्तविक उद्देश्य है। आत्मा की अप्रतीति मिथ्यात्व है और प्रतीति सम्यक्त्व। अप्रतीति से स्व और पर का भेद लुप्त हो जाता है। और जीवात्मा पर को भी स्व समझने लगती है, यही अज्ञान और दुःख का कारण है। जब आत्मा की प्रतीति हो जाती है तो वीतराग भाव एवं स्वरूपरमणता प्राप्त हो जाती है।[4]

स्वप्रतीति के पश्चात् स्वज्ञान या सम्यक् ज्ञान होता है। सम्यक् ज्ञान के उत्पन्न होते ही साधक सोचने लगता है कि अनन्त अतीत मे भी जब पुद्गल का एक कण मेरा अपना नही हो सका, तब अनन्त अनागत में वह मेरा कैसे हो सकेगा? मैं मैं हूँ और पुद्गल पुद्गल है, आत्मा कभी पुद्गल रूप नही हो सकता और पुद्गल कभी आत्मरूप नही हो सकता। इस प्रकार का बोधज्ञान ही सम्यक्ज्ञान है। इस विश्व के कण-कण में अनन्त काल से पुद्गल की सत्ता रही है और भविष्य में भी अनन्त काल तक रहेगी। साधक पुद्गल के अभाव की चिन्ता नही करता अपितु आत्मा में पुद्गल के प्रति होनेवाली ममता का त्याग करता है। जब पुद्गल की ममता दूर हो जाती है, तब एक पुद्गल तो क्या अनन्तानन्त पुद्गल भी आत्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

सम्यक् ज्ञान का अर्थ है—आत्मा के विशुद्ध रूप का ज्ञान। सम्यक् ज्ञान थोड़ा भी हो तो वह अधिक अज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ है। अतः आत्मसाधना में ज्ञान की लोलुपता अपेक्षित नही, ज्ञान की विशुद्धता अपेक्षित है।[5]

आत्मसत्ता की सम्यक् प्रतीति और आत्मस्वरूप की सम्यक् गति हो जाने पर भी जब तक उस प्रतीति और ज्ञप्ति के अनुसार आचरण नहीं किया जाएगा, तब तक साधक की साधना परिपूर्ण नही हो सकेगी। प्रतीति और ज्ञप्ति के साथ आचार

१- गोम्मटसार, जीवकाण्ड, आचार्य नेमिचन्द्र

२- योगदृष्टि समुच्चय, हरिभद्र आचार्य

३- सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः—मोक्षशास्त्र, उमास्वामी, १।१

४- पंचास्तिकायसंग्रह, कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत हिन्दी, मगनलाल जैन, दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनागढ़ (सौराष्ट्र) पृ० २४० गाथा १६२

५- जैन दर्शन डा० महेन्द्र कुमार एम० ए० न्यायाचार्य, पृ० २४४

आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। आत्मा का विश्वास और ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी जब तक उसे परपदार्थों से पृथक् करने का प्रयत्न नहीं किया जाएगा, तब तक अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। अतः सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के होने पर भी सम्यक् चारित्र के बिना स्व स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती।[1]

आत्मा का अपने संकल्प, विकल्प और विकारों को छोड़कर स्वस्वरूप में ही लीन होने की प्रक्रिया का नाम ही सम्यक् चारित्र है। यही सर्वोत्कृष्ट शील और विशुद्ध संयम है। चारित्र, आचार, संयम और शील आत्मा की ही शुद्ध शक्ति विशेष हैं।[2] जैन दृष्टि से प्रतीति को विचार में और विचार को आचार मे परिवर्तित करना ही पूर्ण साधना है। चारित्र अथवा आचार का अर्थ बाह्यक्रियाकाण्ड नही है[3] आत्मस्थिति रूप सम्यक् चारित्र ही उपादेय है। चारित्र वस्तुतः आत्मा का गुण है, इसी की साधना से वीतराग भावरूप आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। वीतराग भाव के उत्पन्न होते ही साधक राग और द्वेष से रहित हो जाता है। जितने अंश में राग या द्वेष हैं, उतने अंश में चारित्र नहीं है। अतः साधक अपनी साधना द्वारा आत्मा को काम, क्रोध, मोह आदि विकारों से पृथक् कर परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।[4]

जैन रहस्यवाद चिन्तन और अनुभव प्रधान है। आत्मा में अनुभूति की सहज शक्ति विद्यमान् है, इस अनुभूति के द्वारा ही साधक विकार या विकल्पों को पररूप मानता हुआ अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर स्वातन्त्र्य लाभ करता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए जैन रहस्यवादी प्रणाली के अनुसार दो मार्ग है—सवर और निर्जरा।[5] संवर द्वारा साधक नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है[6] और निर्जरा द्वारा संचित कर्मों को क्षय करता है। निर्जरा दो प्रकार की है—सविपाक और अविपाक। कर्मों के उदयकाल मे कर्म के शुभ एव अशुभ वेदन को विपाक कहा गया है। इस विपाक के द्वारा जो कर्मक्षय होता है, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह सविपाक निर्जरा बिना साधना के होती है। अतः इसके द्वारा कर्मों का अन्त सम्भव नहीं है।[7] अविपाक निर्जरा द्वारा साधक ध्यान, योग एवं अन्य आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा कर्मफल को भोगे बिना ही उदयकाल से पूर्व ही क्षय कर देता है।[8]

१– पञ्चास्तिकाय सग्रह, आचार्य कुन्दकुन्द, हिन्दी अनुवाद श्री मगनलाल जैन सेठी, पृष्ठ १६३, गाथा १०६

२– द्रव्यसंग्रह, नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, सं० डा० दरबारीलाल कोठिया, पृ० ४५, ४६

३– जैन दर्शन, डा० महेन्द्र कुमार, एम०ए० न्यायाचार्य, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, पृ० २४४

४– प्रवचनसार, श्रीमत्कुन्द कुन्दाचार्य, टीकाकार, ब्र० शीतलप्रसाद जी, पृष्ठ ५४

५– वही, पृष्ठ ४१

६– जैन दर्शन, डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पृष्ठ २३८ से २४२ तक

७– वही, पृष्ठ २४२

८– वही, पृष्ठ २४२

इस प्रकार साधक विभाव भावों का त्याग कर निर्विकल्प समाधि[1] में पहुँच जाता है और अपने पूर्वसंचित कर्मों को क्षय कर डालता है।

इस प्रकार जैन ग्रन्थों में विवेचित रहस्यवाद अन्य दर्शनों में निरूपित रहस्यवाद की अपेक्षा मौलिक और भिन्न है। संक्षेप में साधारण रहस्यवाद और जैन रहस्यवाद में निम्नलिखित अन्तर है—

१- आत्मा और परमात्मा के स्वरूप की भिन्नता
२- साधन भिन्नता
३- गुरु के स्वरूप की भिन्नता
४- अनुभूति भिन्नता
५- आस्तिक्य भिन्नता
६- निर्गुण और सगुण मान्यता सम्बन्धी भिन्नता
७- आध्यात्मिक साधनामार्ग की भिन्नता

४. जैन रहस्यवाद का विकास;

विकासक्रम अवगत करने के लिए भाषा के आधार पर जैन रहस्यवाद को निम्नलिखित चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जैन मान्यताओं के अनुसार प्राकृत का स्थान संस्कृत से पूर्व है। अतः हम यहाँ उसी क्रम से उनका विवेचन करेंगे—

१- प्राकृत वाङ्मय में समाहित रहस्यवाद
२- संस्कृत वाङ्मय मे समाहित रहस्यवाद
३- अपभ्रंश वाङ्मय में उपलब्ध रहस्यवाद
४- हिन्दी ग्रन्थों मे उपलब्ध रहस्यवाद

५. प्राकृत वाङ्मय में समाहित रहस्यवाद

जैन रहस्यवाद के बीजसूत्र आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलते हैं। जैन साहित्य मे सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने ही अध्यात्म साधना का सांगोपांग विवेचन किया है। अनेक पदार्थों को अपने-अपने लक्षणों से पृथक् कर देना और उनमें से उपादेय पदार्थों को लक्षित और उससे अन्य समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेद विज्ञान कहते हैं। भेद विज्ञान के लिए आत्म–अनात्म स्वरूप को जानना आवश्यक है।[2] स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पुद्गल के गुण हैं, आत्मा के नहीं। व्यवहारनय की अपेक्षा इस आत्मा मे सयोगी पर्यायें हो सकती हैं, पर निश्चयनय

१– परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय दोहा १८६ से १९५ तक
२– समयसार, जीवाजीवाधिकार, गाथा ३५ से ६४ तक

की अपेक्षा तो यह आत्मा शुद्ध ज्ञान, दर्शन और आनन्दमय है।[1]

आत्मा मोहवश ही परपदार्थों को अपना मानता है, संसार में जितने रम्य पदार्थ हैं, वे परभावों के कारण ही मुझे अपने प्रतीत होते हैं, निश्चयतः वे मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ। मैं तो टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव हूँ। विभिन्न द्रव्यों के एक क्षेत्रावगाह होने से आत्मा का जड़ पुद्गल के साथ सम्बद्ध है। जिस प्रकार दही और चीनी के मिलने से श्रीखण्ड बनता है और इस श्रीखण्ड मे मिश्रित दधि एवं चीनी का एकरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक क्षेत्रावगाह होने पर भी भिन्न-भिन्न लक्षण वाले पुद्गल और आत्मा एकरूप प्रतीत होते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से रागद्वेष रूप परिणति होती है, जिससे जीव का उपयोग विकारी हो जाता है। जब भेद ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तो चैतन्य की शक्ति पुद्गल की शक्ति से भिन्न प्रतीत होने लगती है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल तथा अन्य जीव ये सब साधक के लिए परद्रव्य हैं, ये आत्मा में निमित्तनैमित्तिक भाव से प्रकाशमान हैं। जब आत्मा मे निजरस प्रकट हो जाता है और भेदबुद्धि का प्रकाश व्याप्त हो जाता है, तो धर्म, अधर्म आदि द्रव्य भी पर प्रतीत होने लगते हैं, ज्ञेय ज्ञायक भाव से उत्पन्न परद्रव्य परस्पर मिलित रहने पर भी स्वभावतः वे पृथक्-पृथक् है। जो आत्मद्रष्टा परपदार्थों को पररूप और निजात्मतत्त्वों को निजरूप अनुभव करता है, वह स्वयं को एक, शुद्ध, परद्रव्यों से भिन्न और निर्लिप्त मानता है, पर जब इसे अपनी सर्वशक्तिमत्ता का बोध हो जाता है तो यह अपने आत्माराम में विचरण करता है, न नवपदार्थ इससे सम्बन्धित हैं और न सप्ततत्त्व ही। यह तो टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव सच्चिदानन्दमय है। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

जब तक जीव निज सहजस्वरूप और क्रोधादि औपाधिक भावों मे अन्तर नहीं जानता है तब तक क्रोधादि भावों को ही निजस्वरूप जानने के कारण उनमे जीव की प्रवृत्ति होती है और इस प्रवृत्ति से पुद्गल कर्म का आश्रव होता है, आश्रव से बन्ध और बन्ध से संसार परम्परा चलती है। इस कर्म चक्रवाल का वर्णन कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में विस्तारपूर्वक किया है—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदि सु गदी॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इन्दियाणि जायते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥

१— समयसार, पृष्ठ २८–२९, गाथा ३६, ३७, ३८

जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।[1]

अर्थात् संसार स्थित जीव के बन्धनरूप उपाधि के कारण स्निग्ध आदि परिणाम उत्पन्न होते हैं और परिणाम से पुद्गल कर्मवर्गणाएँ कर्मरूप में परिणत हो जाती हैं, कर्म से नरकादि गतियों में गमन, गति की प्राप्ति से देह, देह से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषयग्रहण, विषयग्रहण से रागद्वेष, रागद्वेष से फिर स्निग्ध परिणाम, स्निग्ध परिणाम से फिर पुद्गलपरिणामात्मक कर्म आदि अन्योन्य कार्यकारणभूत जीव परिणामात्मक और पुद्गलपरिणामात्मक कर्मजाल संसार चक्र मे जीव को अनाद्यनन्त रूप से अथवा अनादि सान्त रूप से चक्र की तरह पुन:-पुन: भ्रमण कराता रहता है ।

५.१. कुन्दकुन्द का रहस्यवाद

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा–अनात्मा को समझने के लिए निश्चय और व्यवहारनय का कथन किया है । निश्चयनय से जीव पुद्गल कर्म का कर्ता नही हैं, पर व्यवहारनय से पुद्गल कर्म का कर्ता है, निश्चयनय से जीव पुद्गल फल का भोक्ता नहीं है, पर व्यवहारनय से कर्मफल का भोक्ता हैं, निश्चयनय से जीव कर्म-बद्ध नही हैं, पर व्यवहारनय से कर्मबद्ध है, निश्चयनय से जीव में रागद्वेषादि नहीं हैं, पर व्यवहारनय से जीव में रागद्वेषादि हैं, निश्चयनय से जीव पुद्गल के परिण-मन का निमित्त नहीं है, पर व्यवहारनय से पुद्गल के परिणमन का निमित्त हैं ।[2] इस प्रकार निश्चय और व्यवहार इन दोनों दृष्टियों से आत्मा, कर्मबन्धन, पुण्य-पाप आश्रव, बंध, संवर और निर्जरा आदि को अवगत कर लेने पर ही जीव परमात्मपद, को प्राप्त कर सकता है ।[3]

व्यवहारनय से यह शरीर और आत्मा एक प्रतीत होते हैं, पर निश्चयनय से शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, पृथक्-पृथक् हैं । क्योंकि दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं । इसी तथ्य का विवेचन करते हुए कुन्दकुन्द ने लिखा है—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवर खलु इक्को ।
ण उ णिच्छयस्य जीवो देहो य कयावि एकट्ठो ।।[4]

व्यवहार नय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है । अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से जानी गयी वस्तु यथार्थ नहीं होती । निश्चयनय ही वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निरूपण करता है । कुन्दकुन्द ने लिखा है—

१– पञ्चास्तिकाय संग्रह–श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य देव: प्रणीत, हिन्दी अनुवादक–श्री मगनलाल जैन, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर, ट्रस्ट सोनागढ़, पंचम संस्करण, सन् १९५९, गाथा १२८ १२९, १३०

२– समयसार—कुन्दकुन्दाचार्य विरचित, पृ० २१, गाथा २७ की व्याख्या ।

३– वही

४– समयसार—कुन्दकुन्दाचार्य विरचित, निजानन्द जैन ग्रन्थमाला, सहारनपुर, प्रथम संस्करण, सन् १९५१, गाथा २७ ।

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिओ उ सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिओ खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥[1]

कुन्द-कुन्द की दृष्टि में इन्द्रियज्ञान हेय है। क्योंकि यह क्षायोपशमिक, मूर्त और उपयोग शक्ति से उत्पन्न होने के कारण पराधीन है। अतः इन्द्रिय ज्ञान सुख का कारण नहीं है, सुख का कारण अतीन्द्रिय ज्ञान है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान मूर्त्तरूप, चैतन्यानुविधायी, एकाकी, आत्मपरिणाम शक्तियों से युक्त और स्वाभाविक चिदाकार परिणामों के द्वारा उत्पन्न होने के कारण निष्प्रतिपक्ष है। इसमें हानि वृद्धि नही होती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन्द्रिय-सुख की भर्त्सना करते हुए लिखा है—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकरणं विसमं।
जं इन्दियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥[2]

आचार्य कुन्द-कुन्द ने अध्यात्मवेत्ता को रागद्वेष से रहित होने के कारण स्वसंवेद्य सुख का अधिकारी माना है।

पुण्य और पाप दोनों ही दुःख के कारण हैं। जीव जब तक शुभ और अशुभ भावों में संलग्न रहता है, तब तक उसे 'स्व' और 'पर' का भेद प्रतीत नही होता। पर जब शुभ और अशुभ को छोड़कर शुद्ध रूप में परिणति करता है, तब उसे आत्मा की अनुभूति होने लगती है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने इसी तथ्य की व्यञ्जना निम्न प्रकार की है—

चत्ता पावारम्भं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादी, ण लहदि सो अप्पग सुद्धम् ॥[3]

पापारम्भ को छोड़कर शुभ चारित्र में उद्यत हुआ साधक यदि मोहादि का त्याग नही करता तो उसे शुद्ध आत्मा की प्रतीति नहीं हो पाती। आचार्य जयसेन ने उपर्युक्त गाथा की टीका में लिखा है कि कोई भी मोक्षार्थी साधक विषय-सुख के साधनभूत शुभोपयोग की परिणति का त्याग किये बिना निर्विकल्प समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता और निर्विकल्प समाधि ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति का हेतु है।[4]

१— समयसार, गाथा नं० ११।

२— प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, सं० स्व० श्री पं० अजित कुमार जी शास्त्री एवं श्री प० रतनचन्द्र जी मुख्तार, सहारनपुर, प्र० ब्र-लाडमल जैन, शान्तिवीर दि० जैन संस्थान, श्री शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी (राज०) वीर सं० २४९५ गाथा न० ७६।

३— प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, सं० स्व० श्री प० अजितकुमार जी शास्त्री एवं श्री पं ब्र० रतनचंद जी मुख्तार सहारनपुर, प्र० ब्र० लाडमल जैन, शांतिवीर, दिगम्बर जैन संस्थान, श्री शान्तिवीर नगर, महावीर जी, (राज०) वी० सं० २४९५ गाथा नं० ७९।

४— कोऽपि मोक्षार्थी परमोपेक्षालक्षण परमसामायिक पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्विषय सुखसाधक शुभोपयोग परिणत्या, मोहितान्तरङ्ग सन् निर्विकल्प समाधिलक्षण पूर्वोक्त सामायिक चारित्राभावे सति निर्मोह शुद्धात्मतत्त्व प्रतिपक्षभूतान् मोहादीन्न त्यजति यदि चेत्तर्हि जिन्-सिद्धांत सदृशं निजशुद्धात्मानं न लभत इति सूत्रार्थः।
वही, टीका, श्लोक ७९।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के अज्ञान भाव को मोह कहा है। मोह के कारण जीव रागद्वेष रूप परिणति करता है और रागद्वेष ही विविध कर्मबन्ध के कारण हैं। यथा—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥[1]

अतः साधक रागद्वेष, मोह का त्याग कर भेदानुभूति द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करने का प्रयास करता है। आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा, कर्त्ता और भोक्ता है। यह चेतना गुण के कारण चेतन है, कर्मबन्ध भी चेतन भाव में ही होता है, जड़भाव में नहीं और मोक्ष भी चेतन भाव में ही होता है, जड़भाव में नहीं। चेतन से बाहर न बन्ध है, न मोक्ष। जिस प्रकार पवन स्वयं मेघों को उत्पन्न करता है और स्वयं नष्ट कर देता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपनी चेतन शक्ति से कर्मों को उत्पन्न करता है और नष्ट भी कर देता है। चेतना आत्मा का एक विशिष्ट गुण है, इस गुण से ही आत्मा संसार के विविध भावों को देख सकता है, जान सकता है।

चेतना के तीन भेद हैं— कर्म चेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञान चेतना। सर्वप्रथम कर्म चेतना पर विचार करने से प्रतीत होता है कि कर्म केवल कर्म नहीं, उसके साथ चेतना भी जुड़ी हुई है, इसी कारण बन्ध होता है। यदि कर्म के साथ चेतना न हो तो बन्ध नहीं हो सकता। क्रिया तो जड़ में भी होती है, पर क्रिया मात्र बन्ध का हेतु नहीं है। कर्म चेतना का रहस्य चेतनापूर्वक, कर्म है, इसी से बन्ध होता है। रागद्वेष रूप स्फुरित्त होने वाली क्रिया भी कर्म चेतना का ही परिणाम है। यह कर्म चेतना हमारे भीतर में विद्यमान है।

जैन दर्शन के अनुसार इस विशाल और विराट् विश्व में सर्वत्र कार्माण वर्गणाओं का अक्षय भांडार भरा हुआ है। लोकाकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ अनन्तानन्त कार्माण वर्गणाओं की सत्ता न हो, जब चेतना में विविध विकल्प उत्पन्न होते हैं, तब कार्माण वर्गणाएँ कर्मरूप धारण कर लेती हैं और आत्मा से बद्ध हो जाती।

आचार्य कुन्द-कुन्द ने इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

कत्ताकरणं कम्मं फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्ण जदि अप्पाण लहदि सुद्धम् ॥[2]

अर्थात् साधक कर्त्ता, करण और कर्मफल रूप आत्मा है, ऐसा निश्चय करता हुआ अन्य रूप परिणमित न होने वाले आत्म तत्त्व को प्राप्त करता है। इस गाथा की टीका मे आचार्य अमृत चन्द्र सूरि ने स्पष्ट रूप से बतलाया है कि आत्मा अनादि-

१– प्रवचनसार गाथा ८१।
२– पञ्चास्तिकाय संग्रह, पं० महेन्द्र कुमार सेठी, सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पृ० ७१, गाथा ३८।
३– प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा १२६।

कालीन पौद्गलिक कर्मबन्ध के कारण उपाधि को प्राप्त करता है, यह उपाधि उपराग है। जिस प्रकार स्फटिक मणि जपाकुसुम आदि के सम्पर्क से रक्त, रूप आदि आरोपित विकारों को धारण करती है, उसी प्रकार उपाधि युक्त आत्मा चैतन्यरूप परिणित में विकारी प्रतीत होता है जपाकुसुम की निकप्ता के नष्ट होते ही आरोपित विकार स्वयं ही लुप्त हो जाते हैं और स्फटिक मणि निर्मल प्रतीत होने लगती है, उसी प्रकार अपने उपाधि रूप को अवगत कर लेने पर मैं अकेला ही कर्त्ता हूँ, अकेला ही करण हूँ अकेला सुविशुद्ध चैतन्य रूप परिणत हूँ, की प्रतीति होने लगती है।[1]

उक्त कर्म चेतना के दो भेद हैं— पुण्य कर्म चेतना और पाप कर्म चेतना। किसी दुःखी व्यक्ति को देखकर उसके दुःख को दूर करने की भावना से उसे दान देना या उसकी सेवा करना पुण्य कर्म चेतना है। इसी प्रकार राग भाव से गुरु की उपासना करना, भक्ति करना पुण्य कर्मचेतना है। पुण्य कर्म चेतना में दूसरे को सुख देने की अनुराग भावना मुख्य रहती है। किन्तु कुन्द-कुन्द के विचार से पुण्यकर्म चेतना शुभ विकल्प रूप होने पर भी कर्मबन्ध का कारण होने से त्याज्य है। पापकर्म चेतना अशुभ विकल्प रुप है, इसमें पाप की धारा प्रवाहित रहती है, यह काम, क्रोध मोह आदि विकारनय होती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि शुभोपयोग होने पर पुण्य का बाहुल्य और पाप की अल्पता होती है और अशुभोपयोग होने पर पाप का बाहुल्य और पुण्य की अल्पता होती। सम्यक् दृष्टि साधक पुण्य और पाप दोनो को बन्धरूप मानता है और दोनों के बन्धनों से मुक्त होकर शुद्ध लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। वस्तुतः आत्म साधक पुण्य पाप रूप क्रियाओ के करने पर भी उससे बन्धता नहीं है। पक्षी के पंखो पर तभी तक धूलि के कण रहते हैं, जब तक वह पखों को फडफडाता नही, पख फडफाड़ते ही धूलि साफ हो जाती है, इसी प्रकार साधक के सजग होते ही पुण्य और पाप की क्रियाएँ होने पर भी बन्ध द्वारा आत्मा को अशुद्ध नही करती। शुद्धोयोग की धारा सभी विकारो को स्वच्छ कर देती है।[2]

दूसरी चेतना कर्मफल चेतना है। कर्मफल चेतना का अर्थ है, कर्मफल को प्राप्त कर जीव का हर्ष और विषाद युक्त होना। कर्मफल चेतना मे जीव अपने स्वरूप का अनुभव नही कर पाता। वह कर्मों के भार से इतना दबा रहता है,

---

१- तथाहि यदानानादि प्रसिद्ध पौद्गलिक कर्मब-धनोपाधिसनिधिप्रधावितो परागरजितात्म-वृत्तिर्जपापुष्पसनिधिप्रधाविनोपरागरंजितात्मवृत्ति .... कर्तृकरणकर्म कर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न सकीर्यते, ततः पर्याया-संकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति।

प्रवचनासार—श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत, अमृतचन्द्राचार्य विरचित, संस्कृत टीका, श्लोक १२६, पृष्ठ संख्या १६४, १६५, हिन्दी अनुवादक पं० परमेष्ठीदास जैन, प्रथम संस्करण सन् १९५०।

२- पञ्चास्तिकाय सग्रह, हिन्दी अनुवाद मगनलाल सेठी, सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाल, ६२, ६४ धनजी स्ट्रीट मुम्बई नं० ३ पृ० ७२, गाथा ३८ की संस्कृत व्याख्या।

जिससे शुद्ध आत्मतत्त्व की ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती है। वह आत्मतत्त्व को भूलकर प्रभाव में ही मग्न रहता है, उसकी इन्द्रियजन्य विषय भोगों में अत्यधिक आसक्ति रहती है और वह अपने आन्तरिक आनन्द और सुख को भूला रहता है। कर्मफल चेतना वाले व्यक्ति का पुरुषार्थ अवरुद्ध रहता है और वह आत्म विकास में अग्रसर नही हो सकता।

तीसरी चेतना ज्ञान चेतना[1] है। ज्ञान चेतना में साधक संसार से पराङ्मुख होकर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। ज्ञान चेतना वीतराग भाव की एक पवित्र धारा है। यहाँ साधक बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी बन जाता है और अपने स्व-स्वरूप का अनुभव करने लगता है। ज्ञान चेतना की अखण्ड धारा सम्यक्दर्शन की साधना से विकसित हो सिद्धदशा तक पहुँच जाती है। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक साधनामार्ग का बहुत स्पष्ट और सुन्दर विवेचन किया है। इस साधना मार्ग में दो ही तत्त्व ऐसे हैं, जो कुन्दकुन्द के अध्यात्म मार्ग को रहस्यवादी सिद्ध करते हैं। वे तत्त्व हैं—भेदविज्ञान और स्वानुभूति या आत्मानुभूति। आचार्य कुन्दकुन्द ने भेदविज्ञानी के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥[2]

स्पष्ट है कि राग के द्वारा जीव कर्मबन्ध करता है और वैराग्य के द्वारा कर्मनिर्जरा।

स्वानुभूति को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसी के द्वारा जीव अपने स्वरूप को अवगत करता है और रागद्वेष मोह का त्याग कर परमात्मपद का अधिकारी बनता है।

मोक्षप्राभृत मे आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के तीन भेद बताए हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमे बहिरात्मा को छोडकर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान किया जाता है। आचार्य ने तीनो का स्वरूप निर्धारित करते हुए लिखा है कि इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं, आत्मा का सकल्प अन्तरात्मा है और कर्म-रूपी कलंक से रहित परमात्मा है—

अक्खाणि बहिरप्पा अन्तरअप्पा हु अप्पसकप्पो।
कम्मकलक विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥[3]

इस गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि आत्मा और परमात्मा मे कोई तात्त्विक अन्तर नही है। कर्म सम्बन्ध के कारण ही आत्मा अपने स्वरूप से अनभिज्ञ

१— वही पृ० ७३, गाथा ३८ की सस्कृत व्याख्या।
२- समयसार — आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत, निजानन्द जैन ग्रन्थमाला, सहारनपुर प्रथम सस्करण।
३- मोक्षपाहुड़ — अष्टपाहुड — श्रीमत्कुन्द कुन्दाचार्य, श्री श्रुतसागर सूरिकृत संस्कृत टीका, श्री शांतिवीर दि० जैन सस्थान, राजस्थान, पृ० ४८९, गाथा ५।

है। अतः प्रत्येक आत्मा कर्मादि से मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य।
कालाई लद्धी ए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥[1]

जिस प्रकार अत्यंत शोधन सामग्री से शुद्ध किया गया सुवर्ण पत्थर शुद्ध सुवर्ण बन जाता है, उसी प्रकार तप, उपवास, आत्मध्यान और आत्मानुभूति आदि के द्वारा यह आत्मा भी परमात्मपद को प्राप्त हो जाता है।[2]

आचार्य कुन्दकुन्द ने बाह्याचार का विरोध किया है और भावशुद्धि को विशेष महत्त्व दिया है। उनके विचार से अन्तर्मुखी साधना के बिना बाह्यमुद्रा का धारण करना महत्त्वहीन है।[3]

भावपाहुड़ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य की अपेक्षा भाव की महत्ता पर विशेष जोर दिया है। उनका मत है कि भावरहित साधक करोड़ों वर्ष तक तपस्या करने पर भी अपने कर्मों की निर्जरा नही कर सकता है, उपसर्ग और परीषहो का सहन भावशुद्धि के बिना संभव नहीं है। अनादिकाल से यह जीव द्रव्य का अवलम्बन करता चला आ रहा है, पर उसने कभी भाव का अवलम्बन नही किया। भावशुद्धि के प्राप्त होते ही अजर अमर परमात्मपद की प्राप्ति हो जाती है—

भावरहिओ न सिज्झइ जइ वि तव चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मतराइं बहुसो लम्बियहत्थो गलियवत्थो ।[4]
भाउरहिएण स उरिस अणाइकाल अणत संसारे।
गहि उज्झियाइ बहुसो बाहिरनिग्गथ रूवाइं ॥[5]

कुन्दकुन्द समयसार और प्रवचनसार में ज्ञान प्रधान हैं, पर भावपाहुड, मोक्ष-पाहुड़ और बोधपाहुड मे उनका बौद्धिक ज्ञान हृदयपक्ष मे परिवर्तित होता हुआ प्रतीत होता है। यहाँ उनकी भावपूर्ण शैली रहस्यवाद के समान सरस प्रतीत होती है। उनका मत है कि जिसे आत्मानुभूति हो गयी है, वह अल्पज्ञान द्वारा भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है। किन्तु, आत्मानुभूति शून्यज्ञान निरर्थक है। मोक्षपाहुड में वे कहते हैं—

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहेय चरित्ते।
त बालसुदं चरण हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥[6]

१– वही, पृ० ५०८।
२– वही, पृ० ५०८।
३– बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहित परियम्मो।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥
वही, पृ ५५४, गाथा ६।
४– भावपाहुड़-अष्टपाहुड, पृ० २१०, गाथा ४।
५– वही, पृ० २११, गाथा ७।
६– अष्टपाहुड़ के अतर्गत मोक्ष पाहुड़,।

आचार्य कुन्दकुन्द के विचार उक्त पाहुड़ ग्रन्थों में भावुकतापूर्ण रहस्यवादी शैली में व्यक्त हुए हैं।

५.२. आचार्य शिवारि के ग्रन्थों में रहस्यवाद

आचार्य शिवारि ने अपने ग्रन्थ मूलाराधना या भगवती आराधना में आत्म-साधना का सांगोपांग प्रतिपादन किया है। इनकी आराधना सम्बन्धी अनेक विशेषताओं मे प्रमुख विशेषता ध्यान की है। आत्मचिन्तन में संलग्न साधक शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझकर शरीर के सुख और दुःख से सुखी तथा दुःखी नहीं होता।[1] जैसे अभेद्य कवच से युक्त योद्धा सग्राम में युद्ध करता हुआ भी शत्रुओं द्वारा अलध्य रहता है, उसी प्रकार कर्मक्षय में प्रवृत्त साधक धैर्यरूपी कवच से सुमज्जित होकर परीषह रूपी शत्रुओं के लिए अलंघ्य हो जाता है और ध्यान क्रिया द्वारा कर्म शत्रुओं को पराजित कर देता है। रागद्वेष, इन्द्रियासक्ति, भय एवं कषाय-जन्य विभिन्न विकारों को ध्यान प्रक्रिया द्वारा ही साधक नष्ट कर सकता है।[2] ध्यान के चार भेद हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आर्त्त और रौद्र अशुभ ध्यान हैं, ये ससार के कारण हैं, पर धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभ ध्यान हैं, इनके द्वारा विकारों को दूर कर परमात्मपद को प्राप्त किया जा सकता है।

यद्यपि शिवारि की यह क्रिया बुद्धिवादी है, इसमें हृदय का संयोग नही है। पर, जो साधक आत्मशुद्धि के लिए आध्यात्मिक मार्ग का अवलम्बन करना चाहता है, उसके लिए ध्यान का अवलम्बन आवश्यक है।

५.३. स्वामि कार्तिकेय और उनका रहस्यवाद

स्वामि कार्तिकेय ने अपने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भावना और विचार का समन्वित रूप उपस्थित करने के लिए द्वादश अनुप्रेक्षाओं का विवेचन किया है। अनुप्रेक्षा शब्द का अर्थ है--बार-बार चिन्तन करना। संसार के मोह, माया आदि प्रपचों से विरक्त होने के लिए आत्मा, परमात्मा एवं भौतिक जगत् के स्वरूप का चिन्तन करना आवश्यक है। कवि ने अनुप्रेक्षाओं को माता के समान हितकारी बताया है। इनके चिन्तन से वैराग्य की वृद्धि होती है। अनुप्रेक्षाएँ बारह हैं—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।

इस द्वादशानुप्रेक्षा की शैली भावात्मक है। आचार्य ने प्रायः सर्वत्र किसी न किसी द्रष्टान्त का प्रयोग कर विषय वस्तु को रमणीय एव प्रेषणीय बनाया है।

इस ग्रन्थ में साधक के साधनामार्ग का आचारात्मक वर्णन भी है, व्रत, समिति, गुप्ति, तप, सयम आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न करनेवालों का खण्डन कर आत्मा और परमात्मा के प्रति निष्ठा

१- मूलाराधना, सोलापुर सस्करण, वीर निर्वाण स० २४६२, पृष्ठ १०५१

२- वही पृ० १०२७, गाथा १६८१, १६८२, १६८३

भी व्यक्त की गयी है ।

५.४. आचार्य नेमिचन्द्र का साधनामार्ग

आचार्य नेमिचन्द्र ने कषाय और विकारों के स्पष्टीकरण के लिए गोम्मटसार जीवकाण्ड में साधक की साधना भूमियों का सुन्दर चित्रण किया है । इन्होंने आत्मिक गुणों के क्रमिक विकास की अवस्थाओं को गुणस्थान कहा है । गुणस्थान मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि के कारण होते हैं । आत्मा की चार प्रधान शक्तियों—अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य को आवरण करनेवाले दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराग ये चार कर्म हैं । मोह की तीव्रता और मन्दता पर अन्य कर्मों की तीव्रता और मन्दता निर्भर है । दर्शन मोहनीय आत्मा के सम्यक्त्व गुण का आवरण करता है और चारित्रमोहनीय चारित्र या सयम का । मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली इन चौदह भूमिकाओं को पार करने के पश्चात् साधक मोक्ष लाभ करता है । ये ही चौदह गुणस्थान हैं ।[1]

प्रथम गुणस्थान में आत्मा की आत्मिक शक्ति का अल्पतम आविर्भाव होता है । मोह का प्रबलतम उदय रहने के कारण व्यक्ति की आध्यात्मिक स्थिति अत्यन्त हीन रहती है । इस स्थिति में आस्था या श्रद्धा भी विपरीत होती है । रागद्वेष के वशीभूत होने के कारण जीव तात्त्विक सुख से वंचित रहता है । उत्तरोत्तर विशुद्धि की ओर अग्रसर साधक के मोह का क्षय हो जाने पर ज्ञानादि निरोधक अन्य कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, आत्मा में विशुद्ध ज्ञान ज्योति प्रकट हो जाती है । आत्मा की इस अवस्था का नाम सयोगकेवली है । त्रयोदश गुणस्थान में स्थित सयोगकेवली जब अपनी देह से मुक्ति प्राप्त करने के लिए विशुद्ध ध्यान का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक एव कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है, तब वह आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, इस अवस्था का नाम अयोगकेवली है । यह आत्म-विकास की चरम अवस्था है । इसमें साधक उत्कृष्टतम शुक्लध्यान द्वारा देह त्याग कर सिद्धावस्था को प्राप्त करता है, इसी का नाम परमात्मपद, स्वरूपसिद्धि, मुक्ति, निर्वाण, निर्गुण ब्रह्मस्थिति, अपुनरावृत्तिस्थान या मोक्ष है । यह आत्मा की सर्वाङ्गीण पूर्णता, कृतकृत्यता अथवा परमपुरुषार्थ सिद्धि है ।

इस प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र ने रहस्यवादमूलक साधनाओं का वर्णन किया है । यद्यपि उनकी प्रतिपादन शैली ज्ञानमूलक है, पर साधना प्रक्रिया रहस्यवादी है ।

प्राकृत वाङ्मय में बाह्याडम्बरों की तीव्र भर्त्सना की गयी है । जातिमात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता । क्रोधादि कषायों को वश करनेवाला, परिग्रह रहित, पंच पाप का त्यागी और परमब्रह्म का ध्यान करनेवाला व्यक्ति ही ब्राह्मण होता

१– गोम्मटसार, जीवकाण्ड, नेमिचन्द्राचार्य, परमश्रुत प्रभावकमंडल, बम्बई रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, ई० सन् १९२७, गाथा १७ से ६४, ६५ तक

है।[1] अहिंसामय आत्मशुद्धि ही यज्ञ है। जो व्यक्ति इस यज्ञ की साधना करता है, वही अपने को शुद्ध कर लेता है।[2]

६. संस्कृत वाङ्मय में निहित जैन रहस्यवाद

प्राकृत के समान संस्कृत साहित्य में भी जैन रहस्यवाद तथा अध्यात्मज्ञान का सुन्दर निरूपण हुआ है। संस्कृत के वाङ्मय मे आचार्य पूज्यपाद, आचार्य हरिभद्र तथा आचार्य शुभचन्द्र ने साधनामार्ग का सुन्दर निरूपण किया है।

६.१. आचार्य पूज्यपाद का रहस्यवाद

आचार्य पूज्यपाद ने आत्मा के तीन भेदों—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का उल्लेख करते हुए लिखा है—

अविद्या का अभ्यास और भेदज्ञान का अभाव ही परमात्मोपलब्धि में बाधक है, यही दुःख का कारण है और यही रागद्वेष, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कुभावों का कारण है। भेद ज्ञान न होने से ही मनोविकार चित्त की निश्चल वृत्ति को चचल कर देते है। कुभावों के विनाश का एकमात्र कारण आत्मस्वरूप का चिन्तन है। परमात्मा और आत्मा मे कोई भेद नहीं है। जब अन्तरात्मा अपने को सिद्धसमान शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, द्रष्टा, अनुभव करता हुआ अभेद भावना के बल पर शुद्ध आत्मस्वरूप मे तन्मय हो जाता है, तभी वह कर्मबन्धन को नष्ट कर परमात्मा बन जाता है। जैसे दीपक से भिन्न वर्तिका दीपक की आराधना कर-सामीप्यलाभ कर दीपक स्वरूप हो जाती है, उसी प्रकार अर्हंत और सिद्ध की उपासना से कर्मबद्ध आत्मा परमात्मा बन जाता है।[3]

६.२. आचार्य उमास्वाति

प्रशमरतिप्रकरण मे आचार्य उमास्वाति ने कषायों के प्रशमनरूप आत्मशक्ति की बहुत प्रशंसा की है। वे कहते हैं—सांसारिक प्रपंचों से रहित प्रशान्तकषाय साधक को जो सुख मिलता है, वह सुख न तो चक्रवर्ती को प्राप्त होता है, न अर्धचक्री को और न देवराज इन्द्र को। वास्तव में सुख का साधन प्रशम गुण है और इस प्रशम गुण की प्राप्ति शान्तभाव की अनुभूति से होती है।[4]

१— उत्तराध्ययन सूत्र द्वादशाध्ययन, पृ० ४६०, ४६१, गाथा १४, १५

२— वही, पृ० ५२७, गाथा ४४

३- समाधितन्त्र, आचार्य पूज्यपाद, अ० परमानन्द शास्त्री, वीर सेवा मंदिर पृ० ३५, ३६, ३७

४— नैवास्ति राजराजस्य तत्सुख नैव देवराजस्य।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य॥
प्रशमरतिप्रकरण—सं० पं० राजकुमारजी, साहित्याचार्य, रायचंद जैन शास्त्रमाला पृ० ८६, श्लोक १२८

६.३. आचार्य हरिभद्र का साधनामार्ग

आचार्य हरिभद्र ने अपने योगदृष्टि समुच्चय में आठ योगदृष्टियाँ बतायी हैं—मित्रा, तारा, बला, दिप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा ।[1] मित्रादृष्टि योग के प्रथम अंग यम के समकक्ष है । इस दृष्टि में बोध शीघ्र ही उत्पन्न होकर शीघ्र समाप्त हो जाता है । तारा दृष्टि में बोध कुछ क्षण रहता है, इस दृष्टि में साधक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है । बलादृष्टि में प्राप्त बोध अधिक स्थिर होता है, साधक साधनामार्ग में होनेवाले विविध विघ्नों का निराकरण करता है । दिप्रा नामक चतुर्थदृष्टि में प्राप्त होनेवाला बोध दीपप्रभा के समान होता है । इसमे साधक शरीर को महत्त्व न देकर धर्म या चरित्र को महत्त्व देता है । स्थिरादृष्टि में तत्त्वा-तत्त्व का निश्चित ज्ञान हो जाता है, क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और साधक के पतन का भय समाप्त हो जाता है । इस दृष्टि मे विषय विकार त्याग रूप प्रत्याहार नामक पंचम योगाङ्ग की उपलब्धि होती है । कान्ता दृष्टि धारणा नामक योगाङ्ग के समकक्ष है । इस दृष्टि के प्राप्त होते ही साधक का मन स्थिर होने लगता है, संसार सम्बन्धी राग नष्ट प्राय हो जाते हैं और माया ममता से विरक्ति हो जाती है । प्रभादृष्टि में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होनेवाले चित्त की एकाग्रतारूप ध्यान नामक योगाङ्ग की प्राप्ति होती है और अपूर्व शान्ति की उपलब्धि होती है । परा-दृष्टि को समाधि के समकक्ष माना जा सकता है । इसमें ध्यान मे विक्षेप करनेवाले कारणों का अभाव हो जाने से स्थायी एकाग्रता होती है और आत्मा को अखण्ड आनन्दरूप अनन्तसुख की प्राप्ति होती है ।

६.४. आचार्य शुभचन्द्र का रहस्यवाद

साधनामार्ग का निरूपण करनेवालों में आचार्य शुभचन्द्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है । आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव में मन के विभिन्न व्यापारों को केन्द्रित करने के लिए प्रशम–कषायों का अभाव, यम त्याग, समाधि, ध्यान और भेदविज्ञान का निरूपण किया है । मन को केन्द्रित करने से ही ध्यान की सिद्धि होती है ।[2] प्रसंग वश यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन अष्ट योगाङ्गों का भी निरूपण किया है । आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान, ध्येय, ध्याता एवं ध्यान विधि का विस्तृत वर्णन किया है । इस ग्रन्थ में धर्मध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार भेदो का भी निरूपण किया गया है । आचार्य शुभचन्द्र का यह साधनामार्ग आत्मा को परमात्मस्वरूप में परिणत करने-वाला है ।

रामसेन

आचार्य रामसेन ने भी अपने तत्त्वानुशासन में ध्येय के भेद प्रभेदों का वर्णन

१– योगदृष्टि समुच्चय, आचार्य हरिभद्र

२– ज्ञानार्णव, आचार्य शुभचंद्र, रायचंद जैन शास्त्रमाला, २२वां सर्ग, श्लोक ३५

कर साधनामार्ग का निरूपण किया है—

७. अपभ्रंश भाषा में प्रतिपादित जैन रहस्यवाद

अपभ्रंश के जैन कवियों की रचनाएँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं में शास्त्रज्ञान, मन्त्र, मन्दिर, तीर्थाटन आदि बाह्याचारों का खण्डन किया गया है तथा परमात्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय सरस साधनामार्ग को बताया है। अपभ्रंश साहित्य में समाहित रहस्यवाद का विस्तृत विवेचन हम तृतीय अध्याय में विस्तार से करेंगे।

८. हिन्दी जैन वाङ्मय में प्रतिपादित रहस्यवादी प्रवृत्तियां

बनारसीदास, भैया भगवतीदास तथा आनन्द घन आदि हिन्दी में उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि हैं।

बनारसीदास ने अपने नाटक समयसार की रचना आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार के आधार पर ही की है, किन्तु उन्होंने इसका नाम नाटक रखा है और इसमें जीव तथा पुद्गल के नृत्य का सुन्दर रूप सरस तथा नाटकीय ढंग से प्रस्तुत कर रहस्यवादी प्रणाली अपनायी है। अज्ञान के कारण जीव अनादिकाल से पुद्गल के साथ जगत् मे नाना प्रकार के नृत्य करता है और इसी में सुख का अनुभव करता है। किन्तु भेदविज्ञान होने पर यह नृत्य समाप्त हो जाता है, आत्मा पररूप को छोड़कर स्वरूप में विचरण करने लगता है और असीम आनन्द का अनुभव करता है।

हिन्दी में हठयोग सम्बन्धी साधनात्मक रहस्यवाद नही पाया जाता। आत्मा रहस्यमय, सूक्ष्म, अमूर्त, ज्ञान, दर्शन आदि गुणों का भाण्डार है, उसमे अनन्त सौन्दर्य और तेज है, जिसकी उपलब्धि भेदानुभूति से होती है। इस शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए जैन काव्यस्रष्टाओं ने रहस्यवाद की चार स्थितियो का निरूपण किया है—

प्रथमावस्था में साधक ऐन्द्रिय विषयों की उपेक्षा कर संसार और शरीर से पूर्ण विरक्त हो स्वानुभव की ओर अग्रसर होता है। यहाँ उसे आत्मा परमात्मा की एकता का अनुभव होता है और वह विचारता है कि यह आत्मा ही देव है, गुरु है, शिव है, त्रिभुवन का मुकुट है, अतः तू उसी का ध्यान कर और अपने को परख।[1]

कवि भगवतीदास उसे घट में ढूंढने का उपदेश देते हुए कहते हैं—हे मूर्ख, तू

१- देव वहै गुरु वहै, शिव वहै वसइया।
त्रिभुवन मुकुट वहै, सदा चेतो चितवइया।।
ब्रह्मविलास, भैया भगवतीदास, पृष्ठ ११०

इस शरीर रूपी मन्दिर में स्थित आत्म देवता की सेवा क्यों नहीं करता, इधर-उधर कहाँ भागता है ।[1]

रहस्यवाद की द्वितीय अवस्था मे साधक का मन ऐन्द्रिय विषयों से मुक्त हो मुक्ति की ओर दौड़ना प्रारम्भ कर देता है । साधना के क्षेत्र में विकार और कषायों को दूर करने के लिए संयम, इन्द्रिय निग्रह और भेदविज्ञान या स्वानुभूति को महत्त्व दिया गया है । यह साधना भी भावात्मक ही है ।

कवि रूपचन्द ने विषयों की असारता तथा क्षणभंगुरता का वर्णन करने के उपरान्त उम परम सुख का वर्णन किया है, जिसके प्राप्त होने पर सभी अभाव दूर हो जाते हैं और आत्मा परमसुख का अनुभव करता है ।[2]

कविवर बनारसीदास भेदविज्ञान के बिना आत्मानुभूति को असम्भव बताते हुए कहते हैं—हे भाई! तूने वनवासी बनकर मकान तथा कुटुम्ब भी छोड़ दिया, किन्तु स्वपर का भेदविज्ञान न होने से तेरी ये क्रियाएँ निरर्थक हैं । जिस प्रकार रक्त से रञ्जित वसा रक्त द्वारा प्रक्षालन करने पर भी स्वच्छ नहीं हो सकता है, उसी प्रकार ममत्व भाव से संसार नहीं छूट सकता है । अतः तू अपने धनी को समझ, उसीसे प्रेम कर और उसीमें रमण कर ।[3]

तीसरी अवस्था में भेदविज्ञान को प्राप्त कर साधक का आत्मा अपने प्रियतम रूपी शुद्ध दशा के साथ विचरण करने लगता है । हर्ष के झूले मे चेतन झूलने लगता है, धर्म और कर्म के सयोग से स्वभाव और विभावरूप रस पैदा होता है । मन के सुन्दर महल में सुरुचिरूपी सुन्दर भूमि है, उसमें ज्ञान और दर्शन के अचल खम्भे और चरित्र की मजबूत रस्सी लगी है । यहाँ गुण और पर्याय की सुगन्धित वायु बहती है और निर्मल विवेकरूपी भौंरे गुंजार करते हैं । व्यवहार और निश्चयनय की डंडी लगी है—सुमति की पटली बिछी है तथा छह द्रव्य की कीलें लगी हैं, कर्मों का उदय और पुरुषार्थ दोनों मिलकर झोटे देते हैं, जिससे शुभ और अशुभ की किलोलें उठती हैं । सवेग और संवर दोनो सेवक सेवा करते हैं और व्रत ताम्बूल के बीड़े देते हैं । इस अवस्था में आनन्दरूप चेतन अपने आत्मसुख की समाधि में विराजमान है । धारणा, समता, क्षमा और करुणा ये चारों सखियाँ चारों ओर खड़ी हैं, सकाम और अकाम निर्जरारूपी दासियाँ सेवा कर रही हैं ।[4]

प्रथम अवस्था से तृतीय अवस्था तक पहुँचने में साधक के आत्मा की तड़पन

१- याही देह देवल मे केवलिस्वरूप देव ।
ताकर सेव मन कहा दौरे जात है ।।
वही, पृष्ठ २१५, पद्य १७

२- परमार्थ दोहा शतक, (रूपचन्द शतक नाम से प्रकाशित) जैनहितैषी में जैनहितैषी अंक, ५, ६ पृष्ठ १२ से २१ तक

३- बनारसी विलास, कविवर बनारसीदास, जैन ग्रन्थ रत्नाकर निर्णय सागर प्रेस, पृ० १३६

४- वही, पृष्ठ २४७, २४८

तथा उसकी बेचैनी का चित्रण भी कविवर बनारसीदास ने बड़े मार्मिक शब्दों में किया है—

"मैं विरहिन पिय के अधीन, यों तलफों ज्यों जल बिन मीन"।[1]

आनन्दघन बहोत्तरी में आनन्दघन ने भी आत्मा की तड़पन को भी दिखाया है।

आत्मानुभूति के दिव्य होने पर जब बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं तो अन्तर्जगत् में दिव्यानुभूति होने लगती है। इस चतुर्थ अवस्था में जब मोक्ष रमा से रमण होने ही वाला होता है कि आत्मानुभूति की पुकार होने लगती है।

इस प्रकार शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए हिन्दी के जैन कवियो ने अनेक भावात्मक दशाओं का चित्रण किया है।

९. जैन रहस्यवाद के तत्त्व

यद्यपि जैन रहस्यवाद का स्पष्टीकरण अद्यावधि नहीं हो सका है। पर जैन रहस्यवादी ग्रन्थों के अध्ययन के फलस्वरूप हमारी दृष्टि से जैन रहस्यवाद मे निम्न तत्त्वों का समावेश पाया जाता है—

१- आध्यात्मिक अनुभूति की क्षमता

२- आत्मा और परमात्मा मे ऐक्य की भावना

३- कर्मबद्ध आत्मा का कर्मरहित आत्मा के प्रति समर्पण

४- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शनमय आत्मा के अस्तित्व का दृढ निश्चय और उसके शुद्धिकरण पर विश्वास।

५- सांसारिक प्रलोभनों का त्याग

६- आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए गुरूपदेश और गुरु का महत्त्व

७- बाह्य आडम्बर का त्याग

८- चित्तशुद्धि या आत्मनिर्मलता का सर्वोपरि स्थान

९- विकास के सोपानमार्ग का अवलम्बन

१०- पाप—पुण्य का त्याग

११- योगमार्ग का निरूपण

१२- प्रतीकों एवं पारिभाषिक शब्दावलियो का प्रयोग

१३- अभिव्यक्ति की सरसता

१४- आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति का विश्वास

१५- आत्मा और परमात्मा में तात्त्विक अन्तर न होने पर भी व्यवहारनय की दृष्टि से पृथकता का विवेचन एवं परमात्मपद की प्राप्ति के लिए दाम्पत्य भाव का समारोह।

१- वही, पृष्ठ १६४

जैन वाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राकृत और संस्कृत के कवियों ने ज्ञानमूलक अध्यात्मवाद का निरूपण किया है तो अपभ्रंश–कवियों ने साधनात्मक अध्यात्मवाद का और हिन्दी के जैन कवियों ने इसी अध्यात्मवाद में प्रेम और दाम्पत्य का नियोजन कर इसे सरस और हृदयावर्जक बनाने का प्रयास किया है। □

तृतीय अध्याय

३. अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवि और उनके काव्य

१. अपभ्रंश कालीन परिस्थितियां
२. अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों की परम्परा
  २.१. कवि जोइन्दु और उनकी रचनाएँ
  २.२. महयोदिण कवि और उनकी रचनाएं
  २.३. मुनि रामसिंह और उनकी रचनाएं
  २.४. कवि सुप्रभ और उनका वैराग्यसार
  २.५. महानन्द और उनकी रचना
  २.६. लक्ष्मीचन्द्र और उनकी रचना
  २.७. हेमचन्द्र और उनकी रहस्यवादी रचनाएं
  २.८. जिनदत्तसूरि तथा उनकी रचनाएं
  २.९. कवि हरदेव और उनकी रचना 'मयणपराजय चरिउ'
  २.१०. कवि रइधू और उनकी रचनाएं
  २.११. अपभ्रंश के अन्य काव्य
  २.१२. अपभ्रंश के जैन काव्यों में उपलब्ध रहस्यवादी तत्त्व

३. अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवि और उनके काव्य

१. अपभ्रंशकालीन परिस्थितियाँ

मध्यकाल में देश की राजनीतिक अवस्था बहुत अस्तव्यस्त थी। सम्राट् हर्षवर्द्धन के उपरान्त कोई एक ऐसा राजा नहीं हुआ, जो अखण्ड भारत में एकछत्र राज्य स्थापित कर सके।

सामाजिक स्थिति में भी परिवर्तन हो रहा था। जातीय धर्म बढ गया था, ब्राह्मण और किसान भी सेना मे प्रविष्ट होने लगे थे। विवाह बन्धन शिथिल हो गये थे। विदेशी आक्रान्ताओं को समाज में समाविष्ट कर लेने की चेष्टा हो रही थी। दक्षिण में स्त्रियाँ साहित्य, संगीत और नृत्य की शिक्षा प्राप्त करती थीं। उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में स्त्रियों का स्थान अधिक सम्माननीय था। राजन्यवर्ग और साधारण जनता के जीवन में पर्याप्त अन्तर था।

पाँचवी छठी शताब्दी में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय मिल-जुलकर रहते थे। वैदिक यज्ञ, देवी देवताओं की उपासना, गृहकर्म, मूर्तिपूजा आदि कार्य भी सम्पन्न होते थे। पर सातवीं आठवी सदी में शकराचार्य का एक तूफान आया, जिसने जैन और बौद्धधर्मावलम्बियो को त्रस्त किया। आलवर सन्तो का भी प्रभाव बढा और उन्होने भक्ति का प्रचार किया। दक्षिण में शैवधर्म ने विशेष जोर पकड़ा और पाशुपत, कापालिक, कालमुख आदि शैव उपसम्प्रदायों का प्रचार हुआ।

शकराचार्य के प्रयत्नो के फलस्वरूप अद्वैत भावात्मक भक्ति, आत्मसमर्पण एवं औपनिषदिक विचारधारा का प्रचार हुआ। देव दासी प्रथा का सूत्रपात भी हुआ, जिसका प्रभाव शैव और वैष्णव मन्दिर तथा मठों पर तो पड़ा ही, जैन मन्दिर भी इससे अछूते न रहे। इन मन्दिरों में भी नर्तकियाँ दीप लेकर वीतरागी मूर्तियो के सम्मुख नृत्य करती थी। फलतः भक्ति के क्षेत्र में अध्यात्मवाद की कई प्रवृत्तियाँ सरस लौकिक रूप मे परिणत हो गयी। यही कारण है कि रहस्यवादी जैन कवियों की रचनाओं में सरसता पायी जाती है।

२. अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी काव्यों की परम्परा

अपभ्रंश भाषा का अस्तित्व पतञ्जलि के महाभाष्य से ही उपलब्ध होने लगता है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से इस साहित्य का युग छठी सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है] दण्डी ने अपने साहित्य में अपभ्रंश भाषा के प्रयोग की चर्चा की है। बाणभट्ट ने भाषा कवि वायुकुमार और ईशान कवि का उल्लेख किया है। पुष्पदन्त ने भी ईशान कवि का नाम स्मरण किया है। स्वयंभू ने अपने छन्दग्रन्थ में अपभ्रंश के आठ नौ कवियों के नाम गिनाये हैं। इससे प्रतीत होता है कि अपभ्रंश काव्य की परम्परा छठी शदी से ही प्रारम्भ हो गयी थी। अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक विचारधारा का प्रारम्भ भी छठी, सातवी शदी से ही हो चुका था। उग्र अध्यात्मवाद की रचनाएँ भी तत्कालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप प्रादुर्भूत हो चुकी थी।

रहस्यवादी रचनाओं का प्रारम्भ अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि जोइन्दु से होता है। जोइन्दु ने आत्मा–परमात्मा के स्वरूप विवेचन के साथ साधना–मार्ग का भी प्रतिपादन किया है। अतः सर्वप्रथम जोइन्दु के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

२.१. कवि जोइन्दु और उनकी रचनाएँ

कवि जोइन्दु ने अपभ्रंश भाषा में अध्यात्मशास्त्र का प्रणयन कर एक नई विचारधाराओं को प्रस्तुत किया है। कवि जोइन्दु के जीवन के सम्बंध मे निर्णयात्मक सामग्री उपलब्ध नहीं है। योगसार के अन्तिम दोहे में कवि ने अपना नाम जोगचन्द अंकित किया है।[1] परमात्मप्रकाश में कवि ने अपना नाम जोइन्दु बताया है।[2] परमात्मप्रकाश के सस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव ने अपनी टीका मे इन्हें योगीन्दु लिखा है। श्रुतसार ने 'योगीन्द्रदेव नाम्ना भट्टारकेण'[3] लिखकर इनका नाम योगीन्द्र माना है।

स्पष्ट है कि कवि का नाम जोइन्दु या जोगचन्द है। इन्दु और चन्द ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। भारतीय परम्परा मे व्यक्तिवाचक सज्ञा के पर्यायवाची रूपों का प्रयोग पाया जाता है। ब्रह्मदेव ने अपनी सस्कृत टीका में जोइन्दु का संस्कृत रूपांतर योगीन्दु कर दिया है जिसका प्रचार परवर्ती परम्परा में हुआ है। अतः परमात्म-

---

१— ससारह भयभीयएण जोगिचन्द मुणिएण।
अप्पासंबोहणकया दोहा इक्कमणेण॥
—योगसार, रायचन्द जैन शास्त्रमाला, दोहा १०८

२— भाविं पणविवि पचगुरु सिरि जोइन्दु जिणाउ।
भट्टपहायरि विण्णविउ, विमलु करेविणु भाउ॥
—परमात्म प्रकाश, दोहा ८

३— परमात्म प्रकाश, दोहा ८ की टीका

प्रकाश और योगसार के रचयिता कवि जोइन्दु ही है।

काल निर्णय—रहस्यवादी कवि जोइन्दु के समय के सम्बन्ध में भी मतभेद है। विचारक विद्वान् इस कवि का समय ईस्वी सन् की छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक मानते हैं। अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका में लालचन्द भगवानदास गांधी ने लिखा है—

'काल लहेविणु जोइया इदं पद्यं उदाहृरित रम चण्ड: प्राकृतलक्षणे।(प० ४७) इति योगीन्द्रदेवस्य चण्डात् प्राचीनता प्रतिभाति।'[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जोइन्दु पर योग तथा तन्त्र का प्रभाव होने के कारण इनका समय आठवीं नवीं शताब्दी मानते हैं।[2]

श्री मधुसूदन मोदी ने जोइन्दु का समय दसवी शती माना है।[3]

उदयसिंह भटनागर ने जोइन्दु का समय विक्रम की दसवीं शती माना है और लिखा है कि यह प्रसिद्ध वैयाकरण और कवि था। सम्भवत: यह चित्तौड़ का निवासी था।[4]

हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास मे जोइन्दु का काल ११वीं शती से पूर्व माना गया है और इन्हें अपभ्रंश का रहस्यवादी कवि लिखा है।[5]

डा० ए० एन० उपाध्ये ने जोइन्दु के काल के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार किया है और अनेक तर्कों के आधार पर इनका समय छठी शताब्दी निर्धारित किया है।[6]

पर इस समय-सीमा में विप्रतिपत्ति उठानेवाले विद्वानों का अभिमत है कि जोइन्दु पर सिद्धों और नाथों के विचारों का प्रभाव है। वही शब्दावली, वे ही बातें, वे ही भाव और प्रयोग घूम फिर कर उनकी रचनाओं में समाविष्ट हो गये है, जो सिद्धों और नाथों में मिलते हैं। अतः जोइन्दु का समय आठवी नवी शताब्दी होना चाहिए। पर, यह कथन तर्कसंगत नही प्रतीत होता क्योंकि जोइन्दु के उग्र अध्यात्मवाद का प्रभाव वज्रयान, नाथ, योग और तन्त्रो पर पडा हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? भाषा की दृष्टि से भी जोइन्दु के ग्रन्थों की भाषा पर्याप्त प्राचीन है। यह अपभ्रंश का ऐसा मान्य रूप है जिसका प्रयोग उदाहरण के रूप मे अपभ्रंश के वैयाकरणों ने किया है। जोइन्दु की भाषा परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश भाषा है। भाषा का यह नियम है कि वह संयोगात्मक अवस्था से वियोगात्मक अवस्था

१- अपभ्रंश काव्यत्रयी-प्रकाशक—ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, सन् १९२७, पृ० १०२।
२- मध्यकालीन धर्म साधना, हजारी प्रसाद द्विवेदी, तृतीय संस्करण, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, पृष्ठ ५२
३- अपभ्रंश पाठावली, टिप्पणी, पृष्ठ ७७, ७९
४- राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज तृतीय भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ३
५- हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पष्ठ ३४६
६- विशेष जानने के लिए देखिए परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना, परमश्रुतप्रभावकमंडल, आगास, द्वितीय संस्करण, सन् १९६० (In the date of Joinder) पृष्ठ ६३ से ६७ तक

और वियोगात्मक अवस्था से संयोगात्मक अवस्था में विकसित होती रहती है। संस्कृत संश्लिष्ट भाषा थी, उसके बाद पालि, प्राकृत और अपभ्रंश क्रमशः अधिकाधिक अश्लिष्ट होती गयीं, उनमें सरलीकरण की प्रवृत्ति आती गयी, धातुरूप और कारक रूपों में कमी होती गयी। अपभ्रंश तक आते आते भाषा का अश्लिष्ट रूप अधिक स्पष्ट हो गया। वास्तव में अपभ्रंश संस्कृत, प्राकृत, पालि के अश्लिष्ट भाषा-कुल से उत्पन्न पर अश्लिष्ट होने से एक नये प्रकार की भाषा है और हिन्दी के बहुत निकट है। योगसार और परमात्मप्रकाश की भाषा योगात्मक और सरल है। अतः भाषा विकास की दृष्टि से भी जोइन्दु का समय आठवीं शताब्दी से पूर्व ही है।

जोइन्दु की कृतियाँ—डा० ए० एन० उपाध्ये ने जोइन्दु की नव रचनाओं का उल्लेख किया है—

१. परमात्म प्रकाश
२. योगसार
३. णवकार श्रावकाचार या सावयधम्मदोहा
४. अध्यात्मसंदोह
५. सुभाषित तन्त्र
६. तत्त्वार्थटीका
७. दोहापाहुड़
८. अमृताशीति
९. निजात्माष्टक

उक्त रचनाओं में अध्यात्मसन्दोह, सुभाषित तन्त्र और तत्त्वार्थ टीका के विषय में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं होता। अमृताशीति एक उपदेश प्रधान रचना है। यह संस्कृत में लिखी गयी है। किन्तु अमृताशीति का अन्तरंग परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि इस कृति के रचयिता कवि जोइन्दु नहीं हैं क्योंकि इसमें कवि ने विद्या नन्दिस्वामी की स्तुति की है। जयसिंह नन्दि और अकलंक देव का भी उल्लेख हुआ है। जोइन्दु द्वारा संस्कृत मे कोई रचना लिखी गयी हो, इसका अभी तक कोई प्रमाण भी नहीं मिला है।

निजात्माष्टक—निजात्माष्टक में आठ स्रग्धरापद्य हैं। कवि ने निजात्मा की स्तुति की है और प्रत्येक पद्य के अन्त में सोऽहं झायेमि णिच्चं परमपयगओ णिव्वियप्पो णियप्पो चरण को समाहित किया है। कवि ने आरम्भ में ही बताया है कि अरहन्त, सिद्ध, गणधर आचार्य, उपाध्याय और साधुओं ने शुद्ध परमात्मस्वरूप निजात्मा का अनुसरण कर मोक्ष को प्राप्त किया है। क्योंकि परमपद को प्राप्त निर्विकल्प निजात्मा मैं हूँ, इस ध्यान से निर्वाणपद की प्राप्ति सदा सम्भव है।[1]

१— णिच्च ते लोकवचवाहिव सयणमिया जे जिणिदा य सिद्धा।
अण्णे गंथत्थसत्था गणगमियमणा उवज्झाय सूरिसा हु॥
सव्वे सुद्धप्पियाइं अणुसरणमुआ मोक्खसंपत्ति तम्हा।
सोऽहं झायेमि णिच्चं परमपयगओ णिव्वियप्पो णियप्पो॥
—सिद्धांतसारादि संग्रह में निजात्माष्टक, माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई, पद १

निजात्मा निरुपम, निष्कलंक, अव्याबाध, अनन्त, अगुरुलघु गुण से युक्त स्वयम्भू, निर्मल और शाश्वत है। ध्यान से इसकी प्राप्ति सम्भव है।[1]

इस दार्शनिक स्तोत्र में कवि ने आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसे स्त्रीलिंग, पुंलिंग और नपुंसक लिंग से रहित, मन वचन काय के सम्बन्धों से रहित लोकालोक को प्रकाशित करनेवाली उर्ध्वगमन स्वभाव से युक्त, अलिप्त एवं समस्त पर सम्बन्धों से रहित बताया है। कवि का अभिमत है कि आत्मा रूप रस गन्ध से रहित निर्विकार, निर्विकल्प, इष्टानिष्ट और शुभाशुभ विकल्पों से मुक्त है। इस सन्दर्भ में अध्यात्म विषय का स्पष्ट वर्णन और शरीरादि पर सम्बन्धों से पृथकता का विवेचन रहस्यवाद सूचक है। कवि के आत्मस्वरूप का विवेचन ज्ञानात्मक रहस्यवाद है। भले ही इसमें सरसता की प्रतीति न हो पर आत्म रहस्य का विवेचन कवि की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है।[2]

रचना शैली और विषय विवेचन की दृष्टि से यह स्तोत्र कवि जोइन्दु का ही प्रतीत होता है। अन्त में पद्य ८ में जोयविन्द का प्रयोग भी किया गया है, जो जोइन्दु का ही रूपान्तर है। जोइन्दु आत्मतत्त्व के व्याख्याता हैं। अतः स्तोत्र रूप में भी उन्होंने निजात्मा के शुद्ध रूप की स्तुति की है।

श्रवकारश्रावकाचार या सावयधम्मदोहा—सावयधम्मदोहा के रचयिता जोइन्दु नहीं हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ के रचयिताओं में तीन व्यक्तियों के नामों का उल्लेख आता है—योगीन्दु, लक्ष्मीधर और देवसेन। डा० हीरालाल जी द्वारा सम्पादित सावयधम्मदोहा की प्रस्तावना में देवसेन को ही इस ग्रन्थ का रचयिता बताया गया है। इसका समय वि० संवत् दसवीं शती है।

दोहापाहुड़—दोहापाहुड़ के रचयिताओं में दो व्यक्तियों के नामों का उल्लेख मिलता है—मुनि रामसिंह और योगीन्दु। डा० हीरालाल जी ने इस ग्रन्थ का हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सम्पादन किया है और उन्होंने इसका रचयिता मुनि रामसिंह को माना है। अत: हमारी दृष्टि में जोइन्दु की तीन ही रचनाएँ हैं—निजात्माष्टक, परमात्मप्रकाश और योगसार।

परमात्मप्रकाश—परमात्मप्रकाश में दो महाधिकार हैं। प्रथम महाधिकार

१- णिस्सो णिव्वाणगओ णिरुविणिरुविमो णिक्कलोणिक्कलंको
अव्वाबाहो अणंतो अगुरुलहुगो णायिमज्झावसाणो।
सब्भावत्थो स्वयम्भू गयपयदिमलो सासओ सव्वकालं,
सोऽहं झायेमि पच्चं परमपयगओ णिव्वियप्पो णियप्पो॥
वही, पद्य २

२- सवण्णवण्णगंधाऽयरसविरहियो णिम्भमो णिव्वियारो।
रूवातीवस्सरूओ सयलविमलसद्दस्सणण्णाणवीओ।
इट्ठ ठाणिट्ठव्ययोगा सुहअसुहवियप्पा सयाभावभूओ।
सोऽहं झायेमि णिच्चं परमपयगओ णिव्वियप्पो णियप्पो॥
—सिद्धांत सारादि संग्रह में निजात्माष्टक, माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, पद्य ७

में १२३ दोहे और दूसरे में २१४ दोहे हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में भट्टप्रभाकर जोइन्दु गुरु से आत्मलाभ के लिए प्रश्न करता है। शिष्य पंच परमेष्ठी और गुरु की वन्दना करके निर्मल भावों से कहता है[1]—'मुझे संसार में रहते हुए अनन्तकाल व्यतीत हो गया पर सुख की उपलब्धि नहीं हुई, दुःख ही दुःख मिलता रहा। अतः हे गुरुदेव! चतुर्गति के दुःखों का निवारण करनेवाले परमात्मा का निरूपण कीजिए।[2]

भट्टप्रभाकर की इस विनीत प्रार्थना को सुनकर जोइन्दु मुनि ने परम तत्त्व की व्याख्या की। उन्होंने आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेदों का निरूपण एवं मोक्ष प्राप्ति के उपाय निश्चयनय, व्यवहारनय और सम्यक्दर्शन का वर्णन किया है।[3] मोक्ष के बाधक मिथ्यादर्शन का विस्तारपूर्वक निरूपण करते हुए जोइन्दु ने बताया है कि जिस प्रकार मद्य के सेवन से मनुष्य की बुद्धि विपरीत हो जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से मनुष्य की आस्थाबुद्धि भी विपरीत हो गयी है। उसे आत्मा अनात्मरूप में दिखलाई पड़ता है और संसार के परपदार्थ ही हितकारी प्रतीत होते हैं। इस मिथ्यात्व को त्यागकर सम्यक्त्व को ग्रहण करना ही आत्मा का उपादेय मार्ग है।[4]

कवि जोइन्दु ने शुद्धात्मा का निरूपण करते हुए बताया है कि यह अमूर्तिक है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है, अन्य द्रव्यों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं[5] यह शुद्ध है, इन्द्रिय अगोचर है, नित्य है, निरंजन है, ज्ञानमय और परमानन्दमय है।[6] वीतराग स्वसंवेदन द्वारा इसका ग्रहण होता है, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होने पर ही शुद्धात्मा का ध्यान किया जा सकता है।[7] इसी ध्यान के द्वारा संसार

१— भाविं पणविवि पंचगुरु सिरिजोइन्दु जिणाउ।
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ।।
—परमात्मप्रकाश, दोहा ८

२— गउ संसारि वसंताहं सामिय कालु अणंतु।
पर मइं किंपि ण पुत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ।।
—परमात्मप्रकाश, दोहा ९

३— अप्पा तिविहु मुणेवि लहु मूढ़ उ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणें णाणमउ जो परमप्प सहाउ ।।
—परमात्मप्रकाश, १२

४— मूढु वियक्खणु बंभु पर अप्पा तिविहु-हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ।।
—परमात्मप्रकाश, १३

५— जासु ण वण्णु ण गंधु रसु, जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरण णवि, णाउं णिरंजणु तासु।।
—परमात्मप्रकाश १९

६— णिच्चु णिरंजणु णाणमउ, परमाणंदसहाउ
—परमात्मप्रकाश १७

७— अप्पासच्चउ णाणमउ कम्मविमुक्कें जेण।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु पर सो पर मुणहि मणेण ।।
—परमात्मप्रकाश १५

रूपी बेल का नाश होता है। वीतराग परमानन्द सुखामृत के आस्वाद से रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं और शुद्ध आत्मसुख में अनुराग उत्पन्न हो जाता है, साधक द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है।

आनन्द स्वरूप निज शुद्धात्मा को निर्विकल्पक समाधि में स्थिर करने पर अन्य परमात्म स्वभाव से विपरीत 'इन्द्रियादि–विषय–सुखों के विकार दूर हो जाते हैं और साधक वीतरागता को प्राप्त कर लेता है। यह परमात्मा व्यवहार नय से तो शरीर में रहता है, पर निश्चय नय से यह अपने स्वरूप में अवस्थित है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की दृष्टि से अपने से भिन्न जड शरीर से आत्मा का निवास है और शुद्ध निश्चनय से यह अपने आत्मस्वरूप में स्थित है।[1] आचार्य कहते हैं कि देह रूपी देवालय में जो निवास करता है, वही शुद्ध निश्चय नय से परमात्मा है। व्यवहार नय के द्वारा देह रूपी देवालय में यह निवास करता है, पर निश्चयनय की दृष्टि से यह देह से भिन्न है, न तो देह की तरह मूर्तिक है, न अशुचि है, यह महापवित्र है, आराधना करने योग्य है, पूज्य है और अनादि अनन्त है, केवल ज्ञान स्वरूप है।[2] यह परमात्मा देह में रहता हुआ भी देह से भिन्न है, देह का स्पर्श नहीं करता है और देह भी उसका स्पर्श नहीं करता है।[3] आशय यह है कि शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत क्रोध, मान, माया लोभ रूप विभाव परिणाम दूर होते हैं तथा वीतराग निर्विकल्पक समाधि का चिंतन प्रारम्भ होता है। जो देहात्मबुद्धि वाला है उसे परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है। समभाव उसी योगी को उपलब्ध होता है, जो जीवन–मरण, सुख दु ख लाभ–अलाभ, शत्रु–मित्र आदि में समता को धारण करता है।[4] ससार से पराङ्मुख व्यक्ति को परमात्मा उपादेय प्रतीत होता है और देहात्म बुद्धि वाले को संसार के विषय–कषाय ही रुचि कर प्रतीत होते हैं। कवि जोइन्दु ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का बहुत सुन्दर और विस्तृत वर्णन किया है। बहिरात्म मिथ्यात्व रागदि रूप परिणत रहता है, उसे शरीर और इन्द्रियाँ ही आत्मा प्रतीत होती हैं, वह शरीर अन्य कष्टों को आत्मा का कष्ट मानता

१– देहादेहहिं जो वसइ भेयाभेयनयेण।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं कि अण्णें बहुएण ॥
—परमात्मप्रकाश, दोहा २६

२– देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ अणंतु।
केवलणाण फुरंत तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥
—परमात्मप्रकाश, दोहा ३३

३– देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमें देहु वि जोजि।
देहें छिप्पइ जो विणवि मुणि परमप्पउ सोजि ॥
—परमात्मप्रकाश, दोहा ३४

४– जो समभावपरिट्ठियहं जो इहं कोइ फुरेइ।
परमाणंदु–अणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥
परमात्मप्रकाश ३५

है तथा शरीर से उत्पन्न होने वाले सुखों को सुख समझता है। बहिरात्मा वीतराग निर्विकल्प समाधि से हुए परमानन्द सुखामृत को नहीं पाता, वह अज्ञानी है, आत्म-स्वरूप के परिज्ञान से रहित है।[1] जो परमसमाधि में स्थित देह से भिन्न ज्ञानमय आत्मा को जानता है, वह अन्तरात्मा है।[2] अन्तरात्मा विवेकी होता है और उसका अनादिकालीन मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। यह अन्तरात्मा ही साधक है और सहजानन्द रूप आत्मा को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। परमात्मप्रकाश के टीकाकार ब्रह्मदेव ने लिखा है—

"वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैक शुद्धात्मानुभूतिलक्षण परमसमाधिस्थितः सन् पण्डितोऽन्तरात्मा विवेकी स एव भवति"

परमात्मा कर्मों से रहित हो अपने केवल ज्ञान स्वरूप को प्राप्त करता है। परमात्मा के दो भेद हैं—सकल और विकल। सकल परमात्मा घातिया कर्मों से रहित अरहन्त है और विकल परमात्मा सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त सिद्ध है। यह परमात्मा नित्य, निरंजन, ज्ञानमय, परमानन्द स्वरूप, शांत और शिव है। कवि ने स्वयं बताया है—

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ।
जो एहउ सो सतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ॥[3]

द्वितीय अधिकार में मोक्ष का वर्णन है। प्रारम्भ में विषयक प्रश्न किया गया है कि हे श्री गुरुदेव, मुझे मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष का कारण और मोक्ष का फल समझाने की कृपा कीजिए। उत्तर स्वरूप गुरुदेव ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का सामान्यतः कथन करते हुए मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादित किया है। यह मोक्ष परमात्मस्वरूप या शिव रूप है, यही सुख का कारण है। मोह प्राप्त होने पर क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य की उपलब्धि होती है, पर द्रव्यों का संस्कार समाप्त हो जाता है और आत्मा शुद्ध बुद्ध अविनाशी सुख को प्राप्त करता है। मोक्ष परम अह्लादमय है, मन तथा इन्द्रियों से रहित है, केवल ज्ञान स्वरूप है। तीनों लोकों में मोक्ष के सिवाय अन्य कोई सुख का कारण नहीं है। वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित हो निजात्म स्वभाव का चिंतन किया जाता है। अतः व्याकुलतारहित, परमशान्त स्वरूप सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही

१— मूढ वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढ हवेइ॥
—परमात्मप्रकाश, दोहा १३

२— देह विभिन्नउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि परिट्ठियउ पंडिउ सोजि हवेइ॥
—परमात्मप्रकाश, १४

३— परमात्मप्रकाश, १७

होती है।[1]

मोक्ष का कारण सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, इसी को रत्नत्रय कहते हैं। जो अपने से आपको देखता है, जानता है, आचरण करता है, वह विवेकी दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमन करता हुआ मोक्ष का कारण होता है।[2] सम्यक् दृष्टि जीव अपनी आत्मा को निर्विकल्प रूप देखता है अथवा तत्त्वार्थ श्रद्धान द्वारा चंचलता, मलिनता और शिथिलता का त्याग कर शुद्धात्मा को उपादेय मानता है इसी में रुचि रखता है, वीतराग स्वयं वेदन लक्षण ज्ञान से जानता है और समस्त रागादि विकल्पों का त्याग कर निज स्वरूप में स्थिर जाता है। यह स्थिरता ही निश्चय रत्नत्रय है, जो मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष मार्ग के दो भेद हैं—व्यवहार मोक्ष मार्ग और निश्चय मोक्ष मार्ग है। व्यवहार की दृष्टि से तत्त्वार्थ का श्रद्धान, तत्त्वों का ज्ञान और अशुभ क्रियाओं का त्याग मोक्ष मार्ग है क्योंकि यह व्यवहार मोक्ष मार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है। व्यवहार मोक्ष मार्ग सविकल्प है और निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है। जो साधक तत्त्वों के श्रद्धान द्वारा आत्म रुचि को जाग्रत करता है और शास्त्राध्ययन द्वारा इसको पुष्ट करता है वह साधक निर्विकल्प रूप निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त हो जाता है।[3]

आचार्य ने मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है।[4] यहाँ पुद्गल द्रव्य के भेद प्रभेदों का विवेचन कर कर्मबन्ध का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। पर द्रव्यों का सम्बन्ध दुःख का कारण है, साधक पर द्रव्यों का सम्बन्ध त्याग कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है। आचार्य जोइन्दु ने इन्द्रिय लम्पटता के दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इन्होंने इन्द्रिय सुख की अनित्यता तथा अतीन्द्रिय सुख की नित्यता का भी निरूपण किया है। उन्होंने बताया है कि इन्द्रियों पर विजय पाने के लिए मन को

१– उत्तमु सुक्खुण देइ जइ उत्तमु मुक्खु ण होइ।
सो किं सयलु वि कालु जिय, सिद्ध वि सेवहिं सोइ॥
तिहुयणि जीवहँ अत्थि णवि सोक्खहँ कारणु कोइ।
मुक्खु मुएविणु एक्कु पर तेणवि चिंतहिं सोइ॥
जीवहँ मो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय लाहु।
कम्मकलंक विमुक्काहँ णाणिय बोल्लहिं साहु॥
दंसणु णाणु अणंत सुहु समउण तुट्टइ जासु।
सो पर सासउ मोक्खफलु, विज्जउ अत्थिण तासु॥
परमात्मप्रकाश ७, ९, १०, ११

२– पेक्खइ जाणइ अणुचरइ, अप्पि अप्पउ जोजि।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ, मोक्खहं कारणु सो जि॥
परमात्मप्रकाश १३

३– परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० दोहा १४

४– वही, १५ से २७ तक।

वश में करना आवश्यक है। मन की चंचलता ही इन्द्रियों के चापल्य का कारण है। अतः जो क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों को जीत लेता है वह सहज ही मोह पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस सन्दर्भ में आचार्य ने गृह-ममत्व, देह-ममत्व एवं सांसारिक विषयों के प्रति ममत्व के त्याग का भी उल्लेख किया है। ध्यान का निरूपण करते हुए एकाग्रतापूर्वक समस्त चिन्ताओं के त्याग को ही आत्म-सुख के लिए उपादेय बताया है। यह सत्य है कि परमात्म पदार्थ से पराङ्मुख चिन्ताओं का त्याग किये बिना संसार भ्रमण छूट नहीं सकता। जब तक चिन्ताओं का अस्तित्व है तब तक निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। रागद्वेष रूप विकल्पों से आत्मा में अशुद्धि उत्पन्न होती है। जो इस अशुद्धि का त्याग करना चाहता है उसे समस्त चिन्ताओं का त्याग करना आवश्यक है। आचार्य जोइन्दु ने चिन्तारहित ध्यान को मुक्ति का कारण प्रतिपादित करते हुए लिखा है—

> अन्धुम्मीलिय लोयणि जोउ कि झंपियएहिं
> एमुह लभइ परमगई णिच्चिंति ठियएहिं ॥
> जोइय मिल्लहि चिन्तजइ तो तुट्टइ ससारु।
> चिंतासत्तउ जिणवरुवि लहइ ण हंसाचारु ॥[1]

स्पष्ट है कि शुद्धात्मा का चिन्तन करने से परमात्मपद की प्राप्ति होती है। जोइन्दु ने परमसमाधि का उल्लेख करते हुए बताया है कि रागादिक समस्त विकल्पों के दूर करने पर आत्मा निर्विकल्प परिणामों में लीन हो जाता है। यही परम समाधि है।

> परमसमाहि महासरहिं जे बुड्डहिं पइसेवि।
> अप्पा थक्कइ विमुल तहं भवमल जंति वहेवि ॥[2]
> सयल वियप्पहं जो विलउ परमसमाहि भणंति।
> तेण सुहासुह भावडा मुणि सयलवि मेल्लंति ॥[3]

अर्थात् साधक परम समाधि रूप सरोवर में प्रविष्ट हो द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म के मल से रहित हो जाता है और शुद्धात्मस्वरूप जल का प्रवाह प्रवाहित होने लगता है। दुर्द्धर तपश्चरण करने पर भी परम समाधि के बिना साधक शान्तरूप शुद्धात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता।[4] जिसने विषय-कषाय रूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया है वही परम समाधि को प्राप्त करता है। इस प्रकार जोइन्दु ने परमात्मप्रकाश में परमात्मा या परमब्रह्म की प्राप्ति के लिए मोक्ष मार्ग का विवेचन किया है।

योगसार— योगसार में १०८ दोहे हैं। इसका विषय भी परमात्म प्रकाश के समान आत्म स्वरूप का विवेचन ही है। इसमें बताया है कि अनादिकाल से यह

१— परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय, दोहा १६९, १७०।

२— वही, दोहा १८९।

३— वही, दोहा १९०।

४— परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय, दोहा १९१।

जीव संसार समुद्र में भ्रमण कर रहा है, मिथ्यादर्शन से मोहित होने के कारण यह चतुर्गति में भ्रमण करता है और अनेक प्रकार के कष्टों को भोगता है।[1] मिथ्यात्व के कारण वह परभाव में आसक्त रहता है और परवस्तुओं को अपना समझता है।[2] आचार्य जोइन्दु ने मन-वचन की शुद्धि के साथ परिणामों की शुद्धि का भी विवेचन किया है। उनका अभिमत है कि यह आत्मा अज्ञान से आवृत है और यह अज्ञान कहीं बाहर से नहीं आया है, आत्मा के वैभाविक परिणामों का ही प्रतिफल है। यदि यह कहा जाए कि संसार के बाह्य पदार्थ बन्ध के कारण हैं तो यह भी यथार्थ नहीं है अत: रागद्वेष के उत्पन्न होने पर ही बाह्य पदार्थों में आसक्ति उत्पन्न होती है। रागद्वेष के अभाव में आत्मा बन्धनबद्ध नहीं हो सकता और जहाँ तक रागद्वेष का सम्बन्ध है वहाँ तक व्रत, तप, संयम आदि भी व्यर्थ हैं।[3]

योगसार में जोइन्दु मुनि ने आत्मबोध के लिए गुरु का महत्त्व भी स्वीकार किया है। उनका अभिमत है कि जब तक साधक गुरु प्रसाद से आत्मदेव को नही जानता तब तक कुतीर्थों में भ्रमण करता रहता है। गुरु ही एक ऐसा मार्ग दर्शक है जो साधक को अभीष्ट सिद्धि प्रदान करता है। इसीलिए भारतीय साहित्य मे गुरु का सर्वाधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। संयम, सहजता और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति गुरु के प्रसाद से ही उत्पन्न होती है।[4]

जोइन्दु ने इस काव्य में बाह्य आडम्बरों का खण्डन कर परमात्मानुभूति को उपादेय बताया है। उनका अभिमत है कि परमब्रह्म परमात्मा न किसी देवालय मे निवास करता है, न किसी मन्दिर में, न चित्रालय मे और न किसी तीर्थभूमि ही में। उसका अस्तित्व न पाषाण प्रतिमा मे है, न किसी चित्र में है और न किसी आकृति में है।[5] जो आत्मज्ञान से रहित हो तीर्थाटन करता है, मन्दिरो और मूर्तियों मे परमात्मा के दर्शन करता चलता है वह उनका यथार्थ अनुभव नहीं कर पाता और परमसमाधि को ही प्राप्त कर पाता है।[6] अत. बाह्य आडम्बर और पाखण्ड को छोडे बिना धर्म रसायन की प्राप्ति नही हो सकती। आचार्य का मत है कि

१– योगसार, ४

२– योगसार, ७

३– वय-तव-संजम-मूलगुण मूढह मोक्ख ण वुत्तु।
जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु॥
—योगसार, जोइन्दु, दोहा २९

४– ताम कुतित्थइं परिभमइ, धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहं पसाएं जाम णवि, अप्पा देउ मुणेइ॥
—योगसार, जोइन्दु, ४१

५– मूढा देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहादेवलि देउ जिणु सो बुज्झहिं समचित्ति॥
—वही, ४४

६– योगसार, जोइन्दु, ४५

धार्मिक ग्रन्थों का पढ़ लेना उपकारी नहीं है। जिन्होंने आत्मानुभूति प्राप्त नहीं की और मात्र शास्त्रों का अध्ययन कर अपने ज्ञान को प्रपुष्ट किया वे भी संसार परि-भ्रमण से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकते।[1]

जो पंडित मन और इन्द्रियों के वशीभूत हैं वे अपने राग के प्रवाह को नहीं रोक सकते। राग के प्रवाह को वही व्यक्ति रोक सकता है जिसने निजानुभूति प्राप्त कर ली है। निर्मल आत्मा की भावना से ही साधक भवभ्रमण से मुक्ति प्राप्त करता है। शास्त्रों का अध्ययन कर लेना धर्म नहीं. पुस्तकों का संग्रह कर लेना धर्म नहीं, पिच्छि और कमंडलु धारण करना धर्म नही, किसी मठ या मन्दिर मे निवास करना धर्म नहीं, केशलुंच करना धर्म नहीं, धर्म तो केवल सद्विवेक को छोड़ना है।[2] आयु समाप्त हो जाती है पर आशा नहीं गलती।[3] जो विषय कषायों में आसक्त है, सांससारिक प्रपंचों को हितकारी समझता है वह परमात्म तत्त्व को नही प्राप्त कर सकता। जो आत्मस्वभाव में लीन है वह कभी कर्मों से लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार कमल-पत्र जल में रहने पर भी जल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार समरस में स्थित आत्मा शरीर में रहते हुए भी शरीर से लिप्त नहीं होता।[4]

जोइन्दु शुद्ध आत्मा को अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनिरूप समझते हैं।[5] यही नहीं वे शुद्ध आत्मा को शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, जिन, ईश्वर, ब्रह्मा, अनन्त और सिद्ध भी बताते हैं। इनकी दृष्टि में शुद्ध आत्मा का नाम ही परमात्मा है और वह परमात्मा ही शिव, विष्णु आदि देवों के रूप में मान्य है।[6] जोइन्दु को सभी देवों मे समता बुद्धि है अत: वे किसी देवता में कोई अन्तर नही मानते। शुद्ध आत्म तत्त्व को किसी भी नाम से अभिहित किया जा सकता है।

समीक्षा :— जोइन्दु ने उच्चकोटि की साधना का वर्णन किया है जो रहस्य-वादी है। रहस्यवादी कवियों के समान ही उन्होंने बाह्याचार का खण्डन कर आत्म-

---

१— सत्थ पढंतह तेवि जड़ अप्पा जे ण मुणंति ।
तहि कारणि ए जीव फुडु णहु णिव्वाणु लहंति ॥
—वही, ५३

२— धम्मु ण पढियइं होइ धम्मु ण पोत्था पिच्छियइं ।
धम्मु ण मढियापएसि धम्मु ण मत्था लुंचियइं ॥
—योगसार, जोइन्दु ४७

३— आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ ।
मोहु फुरइ णवि अप्पहिउ इम संसार भमेइ ॥
—वही, दोहा ४९ ।

४— जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणिपत्त कयावि ।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ, जइ रइ अप्पसहावि ॥
—वही, ९२

५— योगसार, १०४

६— वही, १०५

शुद्धि या चित्त-शुद्धि का प्रतिपादन किया है। संकीर्ण विचारों की परिधि से हटकर आत्मानुभूति द्वारा उन्होंने जिस सत्य का अनुभव किया उसे निर्भीक और निर्द्वन्द्व वाणी में अभिव्यक्त किया है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा के एक होने पर भी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों का निरूपण किया है। मिथ्यात्व के कारण जीव शरीर को ही आत्मा समझने लगता है किन्तु सम्यक्त्व रूपी सूर्य के उदित होते ही यह मिथ्यात्व तिमिर छिन्न हो जाता है और निज की प्रतीति होने लगती है। इस निज की प्रतीति को ही पर-मात्मतत्त्व कहा गया है। वस्तुतः शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है और यही शिव, विष्णु रुद्र आदि है। जोइन्दु में अध्यात्म का जैसा सजीव वर्णन किया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जोइन्दु ने परमात्मा को निरंजन कहा है जो वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श से रहित है, जन्म मरण से परे है, न इसमें क्रोध है, न मान है, न मद है, न माया है, न लोभ है। यह पुण्य-पाप, राग-द्वेष और हर्ष विषादादि भावों से अयुक्त है।[1] निश्चयतः जोइन्दु ऐसे साधक हैं जिन्होंने मध्यकालीन धर्म-साधना के साथ रहस्य-वादी प्रवृत्तियों का निर्देश किया है। सामरस्य भाव ही इनकी महत्त्वपूर्ण साधना है। इसी साधना द्वारा आत्मा परमात्मपद की प्राप्त करता है। जोइन्दु ने बताया है कि जब मन परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर मन से, तो दोनों का समरसी भाव हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता। अतः पूज्य-पूजक का सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है।[2] जोइन्दु मुनि का कथन है कि जिस प्रकार घनरहित आकाश में सूर्य प्रकाशित होता है उसी प्रकार विकार रहित चित्त में परमात्मा का दर्शन होता है।[3] चित्तशुद्धि के बिना जीव चाहे कितने ही तीर्थों में स्नान करें, कितनी ही तपस्याएँ करे, कितने ही देवालयों मे मूर्तियों के दर्शन करे और चाहे कितनी ही चन्दनमालाएँ और तिलक लगाए, मोक्ष की प्राप्ति

१— जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउं णिरंजणु तासु॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ, जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सोजि णिरंजणु जाणु॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु, अत्थिण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु, सो जि णिरंजणु भाउ॥
—परमात्मप्रकाश, १९, २०, २१

२— मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु जि मणस्स।
बीहिं वि समरस हुआ, पुज्ज चडावउं कस्स॥
—परमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय १२३.२

३— जोइय णियमणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ सतु।
अंबरि णिम्मलि घण रहिए, भाणुजि जेम फुरंतु॥
परमात्मप्रकाश, ११९

नहीं हो सकती ।[1] संसार की विभूतियाँ पुण्य–कर्म करने से प्राप्त होती हैं, पर जन्म–जरा और मरण रहित निर्वाण पद की प्राप्ति तो इन्द्रिय दमन, संयम, आस्था, विवेक और आत्म–जागरण के द्वारा ही संभव है ।[2] मोक्ष प्राप्त हो जाने पर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है । शरीर में ही उस परमात्मा का वास है । जो शास्त्रों का अध्ययन करता हुआ भी इस आत्मतत्त्व को अवगत नहीं करता, वह मूढ़ है, जो सामरस्य अवस्था को प्राप्त कर आत्म सरोवर में निमग्न हो जाता है उसी को परम शांति प्राप्त हो जाती है ।

२. २. महयंदिण कवि और उनकी रचनाएँ

महयंदिण मुनि का एक काव्यग्रन्थ दोहापाहुड़ प्राप्त हुआ है । इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के बड़े मन्दिर के शास्त्रभडार मे विद्यमान है और दूसरी प्रति आमेर शास्त्रभडार जयपुर मे प्राप्य है । प्रथम प्रति का लिपिकाल पौष शुक्ल द्वादशी, बृहस्पतिवार, सं० १६५१ है । इसकी प्रतिलिपि साहुड़ सौगानी ने कर्मक्षय के हेतु लिखी थी । आमेर शास्त्रभंडार से प्राप्त प्रति में निम्न प्रकार पुष्पिका दी हुई है –

'संवत् १६०२ वर्षे बैसाख सुदि १० तिथौ रविवासरे नक्षत्रे उत्तरा फाल्गुन नक्षत्रे राजाधिराजसाहि आलमराजे नगरचंपावती मध्ये श्री पार्श्वनाथ चैत्यालये । श्री मूलसंघे नन्द्याम्नाये बलाकारगणे सरस्वतीगच्छे भट्टारक श्री कुन्दकुन्दाचार्यन्वये । भट्टारक श्री पद्मनन्दि देव । तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेव । तत्पट्टे भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेव । तत्पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेव । तच्छिष्य मडलाचार्य श्री धर्मचन्द्रदेव । तदाम्नाये खडेलवालन्वयेऽस्मस्त गोधिकउ शास्त्रकल्याणव्रतनिमित्ते अर्जिका विनयश्री जोग्यदत्त । ज्ञानवान्यादानेन निर्भयो । अभइट्ठनतः अवदानात् सुखीनित्य निव्वाधीभेषजाद्भवेत् ।।'

रचनातन्त्र और रचनाकाल–महयंदिण ने दोहापाहुड़ की रचना बारह खड़ी काव्यपद्धति मे की है । इसकी रचना नागरी वर्णमाला के आधार पर हुई है । नागरी लिपि मे स्वर तथा व्यजन मिलाकर ५२ अक्षर हैं । इन ५२ अक्षरो को नाद स्वरूप ब्रह्म की स्थिति का अंग मानकर प्रत्येक छन्द के प्रारम्भ में प्रयुक्त किया गया है । अपभ्रंश मे उपलब्ध यह प्रथम रहस्यवादी काव्य है, जो इस शैली मे लिखा गया है ।

१– जहिं भावहिं तहिं जाहि जिय, ज भावइ करि तं जि ।
केम्वइ मोक्खुण अत्थि पर, चित्तह सुद्धि ण जि ।।
—वही, द्वितीय अध्याय, ७०

२– ताणि लब्भइ भोउ पर, इन्दत्तणुवि तवेण ।
जम्मण मरण विवज्जियउ, पउ लब्भइ णाणेण ।।
—परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय ७२

इस काव्य के रचनाकाल का निर्देश करते हुए कवि ने सत्ताईस पद लिखा है। अतः इसका रचनाकाल ७२० विक्रम संवत् प्रतीत होता है।[1] डा० श्री वासुदेव सिंह ने 'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद' शीर्षक शोध प्रबन्ध में सत्तह बीस पाठ लिखा है। उन्होंने इस सत्तह सौ बीस को वीर निर्वाण संवत् मानकर इसका रचनाकाल वि० सं० १२५० सिद्ध किया है। पर सत्ताईस पाठ के अनुसार इसका रचनाकाल वि० सं० ७२० मानना अधिक तर्कसंगत है। कवि महयंदिण ने १२८वें दोहे में 'जोइन्दु जोयवयणवि' पद लिखा है जिससे सिद्ध होता है कि कवि ने जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार का अध्ययन कर इस दोहापाहुड़ की रचना की है। भाषा की दृष्टि से दोहापाहुड़ की भाषा अपभ्रंश की अपेक्षा प्राकृत के अधिक निकट है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्द तो प्रयुक्त हैं ही प्राकृत के कृदन्तपद और कारकपद भी प्रयुक्त हैं। अतः इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० ७२० में ही हुई होगी।

इस ग्रन्थ में १२ × ३० = ३६०−२४ = ३३६ दोहे प्रमाण हैं। आमेर की प्रति में दो श्लोक और ३३३ दोहे, इस प्रकार पद्य सख्या ३३५ है। संभवतः लिपिकार ने एक दोहा छोड़ दिया होगा। इसीलिए यह भूल चली आ रही है। वस्तुतः इस ग्रन्थ मे ३३४ दोहा होना चाहिए। क्योंकि कवि ने स्वयं लिखा है—

'चउतीस गल्लतिण्णिसय। विरइय वेल्लि।'

ग्रन्थकर्त्ता का परिचय—दोहापाहुड के कई दोहों में कवि ने महयंदिण मुनि का नाम लिखा है पर कोई विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। एक दोहे से केवल यह ज्ञात होता है कि इनके गुरु का नाम वीरचन्द था।[2]

विषय वर्णन—महयंदिण मुनि ने इन दोहों में आत्मसाधना का निरूपण किया है। कवि मन को मर्कट का रूपक देते हुए बतलाता है कि मन वानर के समान अधिक चंचल है। यह कामिनी रूपी वृक्ष के ऊपर चढकर गिरता है और लोह शृखलाओं में बद्ध हो जाता है। इसकी चचलता ही विषयों के प्रति आकर्षण का कारण है कवि का यह सरस वर्णन प्रत्येक पाठक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और इन्द्रिय एवं मन को अधीन करने के लिए प्रेरित करता है। यथा—

खल्लवलचवलसहाव जुव मणमक्कड दुस्सील।
कामिणी तरु को लवइहि पड़िसि करतउ कील।[3]

१– तेतीसह छह छड्डिया विरइय सत्तावीस।
बारह गुणिया तिण्णसत्त हुअ दोहा चउवीस॥
—दोहापाहुड़, महयंवणि, ५

२– भवहु: च हूं निव्वण एण वीरचन्दसिस्सेण।
भवियह पडिवोहणकया दोहाकव्वमिसेण॥
—दोहापाहुड़, महयंविण, ३

३– दोहापाहुड़, ३०

कवि ने एक दोहे में मन को कुंजर का रूप देते हुए बताया है कि यह प्रवर मनकुंजर विषयों से आकृष्ट होकर नारी रूपी उद्यान में भ्रमण करता है वह [illegible] तालाब की कीचड़ में फँस जाता है और वहाँ से इसका छुटकारा नहीं होता । वहाँ कवि ने मन को कुंजर का प्रतीक, नारी को उद्यान का प्रतीक और वासनाओं को सरोवर का प्रतीक मानकर भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति की है—

खंचहि मणु कुंजरु प्रवरु जिय उज्जाणि भमंतु ।
मयणमयं दहं कमि, पडिउ, कहि छुटिहइ जियंतु ।।[1]

जो मन के अधीन है उसे संसार में निमग्न होते विलम्ब नहीं लगता और मन जिसके अधीन है उसे संसार से छूटने में विलम्ब नहीं लगता । संयम ही ऐसा साधन है जिससे मन को वश में किया जा सकता है । अत: साधक को विषय कषायों का त्याग कर सच्चिदानन्दरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए । कवि ने बताया है कि जिस प्रकार दूध में घृत रहता है, तिल में तेल रहता है और काष्ठ में अग्नि निवास करती है उसी प्रकार परमात्मा का निवास शरीर मे है ।[2] यह परमात्मा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श लिंग और वर्ण आदि से रहित है । गौर वर्ण अथवा कृष्ण वर्ण और दुर्बलता या सबलता शरीर के धर्म हैं आत्मा के नहीं । आत्मा सभी विकारों से रहित अशरीरी है ।[3]

कवि बाह्याचार की भर्त्सना करता हुआ कहता है कि गंगास्नान और देवों की आराधना करने से आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती । यदि गंगास्नान करने से आत्मा की प्राप्ति होती तो नित्य गंगा मे स्नान करनेवाला मत्स्य या कच्छप क्यों नहीं निर्वाण प्राप्त कर लेता ? इसी प्रकार यदि आराधना करने से आत्मतत्त्व की प्राप्ति सम्भव होती तो मूर्ति के ऊपर भ्रमण करनेवाला चूहा भी निर्वाण प्राप्त कर लेता । अत: बाह्याचार आत्मतत्त्व की प्राप्ति में सहायक नहीं है ।[4]

घर, परिजन, सुख, धन–धान्य ये आत्मा के साथ जानेवाले नहीं हैं । ये तभी तक हैं जब तक यह शरीर जलकर राख नहीं होता है । पाप करने से समस्त वैभवादि नष्ट हो जाते हैं । इस संसार के परपदार्थ भी शरीर के साथी है आत्मा के नहीं । जिस प्रकार घुन लकड़ी को खा जाता है और लकड़ी की आकृति बनी रहती है उसी

१– दोहापाहुड़, २६

२– खीरहं मज्झहं जेम घिउ, तिलहं मज्झि जिम तिल्लु ।
कट्ठिहु वासणु जिमि वसइ, तिमि देहहिं देहल्लु ।।
—दोहापाहुड़, २२

३– गोरउ कालउ दुब्बलउ बलियउ एउ सरीरु ।
अप्पा पुणु कलिम रहिउ गुणयंतउ असरीरु ।।
—दोहापाहुड, ३६

४– गंगा णाइ आराह णाहि, जे वल्लहिं अप्पाणु ।
मच्छु, इति जुइ मणु भवइं, ते पावहिं णिव्वाणु ।।
—दोहापाहुड, ४१

प्रकार यह मिथ्यात्व आत्मा के रत्नत्रय गुण को विकृत कर देता है और चित्त को मलिन बना देता है—

घउ परियणु सुहि घणु घणु अंतहं सरिसु न थाइ ।
सो लों हुद्धिउ औषडउ पाउ करंतु ण ट्ठाइ ॥
घुणु जिम तिवहु लक्कडइ, उद्भउ अंगिण माइ ।
तिम मिछ उ विसहुयहं, चित्तिमलेरउ माइ ॥[1]

कवि ने मिथ्यात्व का विवेचन करते हुए बताया है कि गुरु का उपदेश भी मिथ्यादृष्टि को हितकर नहीं प्रतीत होता। जिस प्रकार कटुक वस्तु में घी और चीनी मिला देने पर भी उसका कटुक स्वाद बना ही रह जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व के कारण जिनोपदेश भी चित्त को रुचिकर नहीं होता। कवि महयंदिण ने इसी का वर्णन बहुत सुन्दर रूप में किया है—

घेउर सक्कर चूरियहु, जिम कडुवउ पडिहाइ ।
मिच्छाइट्ठिहिं जिणवयणु तिम चित्तडा इ ण ट्ठाइ ॥[2]

कवि ने सम्पत्ति, युवावस्था, जीवन आदि सभी वस्तुओं को चंचल बताया है। जो इस आत्माराम से प्रेम करता है वही परमात्मतत्त्व को प्राप्त करता है। कवि महयंदिण प्रतीक योजना में बहुत ही पटु है। बताया है कि हंस नीर क्षीर के विवेक द्वारा नीर क्षीर को पहिचान लेता है और उन दोनों को पृथक्-पृथक् कर देता है। इसी प्रकार जिस साधक हंस ने आत्मा और पुद्गल के स्वभाव तथा गुणों को समझ लिया है, उनका अनुभव कर लिया है, वह उन दोनों के भेद ज्ञान द्वारा शिवपुर को प्राप्त कर लेता है। कवि ने यहाँ भेद विज्ञान को महत्त्व दिया है। यह भेद विज्ञान ही समरसता का कारण है। जब साधक कर्म विशिष्ट आत्मा के कर्म और चेतन-स्वरूप को अनुभव से जान लेता है तो उसे आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होती। कवि ने लिखा है—

छीरहं नीरहं हंसु जिम जाणइ जुव जुव भाउ ।
तिम जोइय जिय पुग्गलहि, करहि त सिवपुरि ट्ठउ ॥[3]

अन्तरंग परिग्रह का त्याग कर बाह्य स्नेह बंधनों का तोड़ना और निजात्मा की अनुभूति करना यह गुरु के ही प्रसाद से सम्भव है। रहस्यवादी कवियों के समान गुरु का महत्त्व भी कवि ने प्रतिपादित किया है। कवि ने कई दोहों में इस तथ्य की अभिव्यंजना की है कि गुरु के प्रसाद से शिव तत्त्व की प्राप्ति होती है। गुरु की कृपा के बिना आत्मानुभूति का उदय नहीं हो सकता है। यथा—

छडु अंतरु परिजाणियइ, बाहरि तुट्टइ नेहु ।
गुरुह पसाइं परमपऊ, लब्भइ निस्सन्देहु ॥[4]

१– दोहापाहुड, दोहा ४७
२– दोहापाहुड, दोहा, ४६
३– वही, ७०
४– वही, दोहा, ७१

कवि समरस भाव की भी चर्चा करता है। बतलाता है कि जो मन की चारों ओर की प्रवृत्तियों को रोक कर उसे आत्मा के ध्यान में क्षण भर के लिए भी केन्द्रित कर लेता है वह समरस भाव के साथ क्रीड़ा करने लगता है। समस्त चिन्ताओं का निरोध कर आत्माभाव में केन्द्रित होना समरसता की प्राप्ति का कारण है। सभी जैन कवियों और आचार्यों ने ध्यान का महत्व प्रतिपादित किया है। ध्यान की सिद्धि से ही समरसता मिलती है। कवि ने बताया है—

झिणर्हि झाणकुट्टरिणि, मूलहो मायावेलि।
पइसिवि जिणवर वरहमइ, समरसहावहि खेल्लि ॥[1]

आत्मसिद्धि का साधन कवि की दृष्टि में न जप है, न तप है, न वेदाध्ययन है, न वेषकरण है और न अन्य कोई बाह्य कारण है। जो रत्नत्रय को धारण कर टंकोत्कीर्ण आत्मस्वभाव का चिन्तन करता है वही निर्वाण प्राप्त करता है। कवि बाह्य वेष-भूषा को आत्मसिद्धि के लिए उपादेय नहीं मानता। उपादेय चित्तशुद्धि है। जो दस धर्म और द्वादश अनुप्रेक्षाओं के द्वारा चित्त को शुद्ध कर लेता है वही आत्मशुद्धि को प्राप्त करता है—

जब तव वेर्यहि धरर्णहि, कारणु लहणं न जाइ।
देहप्पुवि गुरु विरहियहं, जोइण सउ पडिहाइ ॥[2]

कवि की दृष्टि मे रागद्वेष, माया, मोह, मात्सर्य, अहंकार, क्रोध आदि सभी परित्याज्य हैं क्योंकि इनके सेवन से संसार की वृद्धि होती है। जो प्रबुद्ध साधक लाभालाभ में समबुद्धि प्राप्त करता है वही समरसता को प्राप्त करता है। कवि महयंदिण ने बताया है कि जो इन विचारों से रहित है उसी का संसार नष्ट होता है—

तोसु रोमु माया मयणु, मउ मच्छरु अहंकारु।
कोहु लोहु जइ परिहरिहि, ता झिज्जइ संसारु ॥[3]

कवि का मत है कि जो आकण्ठ उपशम रूपी अमृत रस का पान करता है और बाहर के समस्त भावों का निरोध करता है, उसी को निर्वाण की प्राप्ति होती है। यदि मन चंचल है तो परीषहों का सहन करना केवल शरीर को कष्ट देना है। जो मरण समय में 'असि आ उ सा' मन्त्र का ध्यान करता है वह संसार परिभ्रमण का त्याग कर देता है। कवि ने इस सन्दर्भ में रहस्यवादी साधना का अच्छा चित्रण किया है। उसने निष्कर्ष रूप में मोक्ष का मार्ग निश्चय रत्नत्रय को बताया है—

'पिज्जइ उवसमु अमियरसु, जा कंठ्ठोइ पवाणु।
बाहिर भावहिं मुअहि जिय, तइ इच्छहि निव्वाणु ॥

१– दोहापाहुड़, दोहा, ९६
२– वही, दोहा, ९०
३– वही, दोहा, १५९

पीडहिं काउ परीसहहिं, जइ ण कियंभइ चित्तु ।
मरणयालि अमि आ उ सा, दिढ चिंतइइ धरतु ।।[1]

महयंदिण का साधनामार्ग वास्तव में रहस्यवादी है । यह परमात्मप्रकाश की अपेक्षा अधिक सरस और हृदयग्राही है । कवि ने संसार को एक बेलि बताया है और इस बेलि का विनाश ध्यान या समरसता के द्वारा होता है । आत्म साधना के लिए न जातिवाद अपेक्षित है न शरीर का कोई धर्म ही । ये तो कल्पित धर्म हैं जिनका अन्त यहीं होता है । आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है । आत्मा सच्चित्, आनन्द स्वरूप है, पुद्गल से भिन्न है, कर्म इस आत्मा के धर्म नहीं, गुण नहीं । यह त्रस स्थावर आदि पर्यायों के धारण करने पर भी उससे भिन्न है । कवि ने बताया है कि इस आत्मा को समझो और परवस्तुओं को पररूप में देखो । जो इस आत्मतत्त्व का अनुभव करता है वही शिवपंथ को प्राप्त होता है । यथा—

बंभणु खत्ति उ वइसु नरु जाइछि धवलु न होइ ।
वइभरु लेविणु जो चडइ, सो कालउ धन लेइ ।।[2]

कवि का विश्वास है कि परमात्मतत्त्व की प्राप्ति रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायामों द्वारा नहीं हो सकती, न इड़ा, पिंगला के अभ्यास से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । नाद, बिन्दु आदि के चक्कर मे पड़ना भी व्यर्थ है, जो अपने भीतर निरजन अवस्थित है उस निरंजन की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए--

रेचय पूरय कुभयहि इउ पिंगलहि म जोइ ।
नाद विंद कल वज्जियउ, संतु णिरंजणु जोइ ।।[3]

समीक्षा—कवि महयदिण का दोहापाहुड़ एक सरस रहस्यवादी काव्य है । कवि ने इसमे गुरु की महत्ता, गुरु का स्वरूप, आत्मा-परमात्मा की एकता, बाह्य आचार की व्यर्थता एव चित्त शुद्धि पर विशेष जोर दिया है । तत्व ज्ञान का चित्रण भी रहस्यवादी परिप्रेक्ष्य मे ही किया गया है । आचार और विचार की शुद्धि आत्मानुभव के लिए अपेक्षित है । कवि का अभिमत है कि निश्चय सम्यक्त्व ही मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र कारण है और यह निश्चय सम्यक्त्व तभी प्राप्त होता है जब आत्मा या साधक आठ भय और अष्ट भेदो को दूर कर देता है । ससार से पार होने का मार्ग नव प्रकारका ब्रह्मचर्य औरदश प्रकार का संयमधारण करना है । कवि ने लिखा है—

टालहि दूरि अट्टमय, णवविहु बंभु धरेहिं ।
दह सजम परिपालिमणि, जे समारु तरेहिं ।।[4]

महयंदिण कवि ने सच्चिदानन्द रूप आत्मा की अनुभूति के लिए योग

१- दोहापाहुड, २१३, २१४
२- वही, दोहा २४५
३- वही, दोहा २७७
४- दोहापाहुड, १०४

साधना का भी निर्देश किया है। योग का अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध है। जैन दृष्टि कोण से कायिक, मानसिक और वाचिक इन तीनों योगों के नियंत्रण को योग कहा गया है। महयंदिण कवि ने परमतत्त्व परमात्मा का अनुभव करने के लिए विकलरूपी प्रवृत्तियों के निरोध और अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के प्रवर्तन की ओर संकेत किया है। जब तक शारीरिक या मानसिक विकार दूर नहीं होते, तब तक साधक को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। सफलता प्राप्ति के लिए साधक को इन्द्रिय निग्रह, प्राणिरक्षा और अन्तरंग शुद्धि नाम तीन साधनाओं की साधना करनी पड़ती है।

इन्द्रियों का सबसे बड़ा आकर्षण सांसारिक विषय है और इन विषयों में कंचन तथा कामिनी प्रधान है। जो साधक इन दोनों प्रलोभनों का त्याग कर पंचेन्द्रियों का दमन करता है वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है—

झंपिय धरि पंचेन्दियहं णियणिय विसयहं जंत।
किन पेच्छहि झाणट्ठियउ जिण उवरास कहंत॥
झलकेरी इन्द्रिय सुहहं दुक्करु फिट्टइ ताम।
गुरु उवएसहिं लखियउ, सिद्धसरूवण जाम॥[1]

कवि ने आत्मसिद्धि के लिए प्राणिरक्षा को भी एक साधन माना है। प्राणि-रक्षा से तात्पर्य आचार की शुद्धि से है। जो पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक और त्रसकायिक इन छह काय के जीवों का पूर्ण संरक्षण करता है और किसी भी जीव को कभी भी मन, वचन, काय से कष्ट नही पहुँचाता वह साधक प्राणिरक्षा द्वारा महनीय बन जाता है।

साधना का तीसरा अंग अन्तरंग शुद्धि है। अन्तरंग शुद्धि से अभिप्राय है भीतरी विकारो का शुद्ध होना। जब तक विकारों का अस्तित्व रहता है तब तक सामरस्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

कवि ने यह धर्म, ग्यारह प्रतिमा और श्रावक के मूलगुण आदि व्यवहार धर्म का भी वर्णन किया है। पर, यह वर्णन केवल नाम निर्देश के ही रूप में हुआ है। कवि ने साधना को उद्‌बुद्ध करने के लिए द्वादश अनुप्रेक्षाओं का भी निरूपण किया है।

२.३. मुनि रामसिंह और उनकी रचनाएँ

मुनि रामसिंह एक रहस्यवादी जैन संत थे। इनकी एक कृति पाहुड़ दोहा का सम्पादन डा० हीरालाल जी ने किया है। यह सम्पादन दिल्ली और कोल्हापुर की प्रतियों के आधार पर हुआ है। आमेर शास्त्रभंडार में भी इसकी एक प्रति गुटका नं० ५४ में सबद्ध है। इस प्रति के एक दोहे में रचयिता का नाम रामसिंह

१— दोहापाहुड़ १०१, १०२

आया है ।[1] कवि का रामसिंह नाम यह सूचित करता है कि संभवतः कवि राजपूत रहा हो । जैन मुनियों के प्रभाव में आने पर उसके पूर्वजों ने दीक्षा ग्रहण कर ली होगी । जिस प्रकार हरिभद्र और विद्यानन्द जैसे विप्रवर जैन मुनियों के प्रभाव से जैन धर्मावलम्बी हो गये, उसी प्रकार रामसिंह भी क्षत्रिय या राजपूत होने पर भी जैन धर्मावलम्बी बन गये । जैन धर्म को धारण करने में किसी जाति का बन्धन रुकावट उत्पन्न नहीं करता । निष्पक्ष किसी भी जाति या सम्प्रदाय का व्यक्ति अनेकान्त से प्रभावित होकर धर्म को धारण कर सकता है ।

डा० हीरालाल जैन ने रामसिंह को अर्हद्‌बली आचार्य द्वारा स्थापित सिंह संघ का मुनि अनुमानित किया है । ग्रन्थ में करहा जैसी उपमाओं को देखकर उन्हें राजस्थान का निवासी बताया है ।

यद्यपि उक्त दोनों तथ्य तर्ककोटि में नहीं आते और न इससे किसी सबल प्रमाण की ही पुष्टि होती है क्योंकि मन को करहा की उपमा देना एक काव्य रूढ़ि है जिसका प्रयोग जोइन्दु से लेकर सभी जैन कवियों ने खुलकर किया है ।

ग्रन्थ का नाम—प्रस्तुत कृति का नाम पाहुड़दोहा या दोहापाहुड़ है । पाहुड़ शब्द संस्कृत के प्राभृत का अपभ्रंश है । गोम्मटसार जीवकांड में इस शब्द का प्रयोग अधिकार के अर्थ में हुआ है ।[2]

इसी ग्रन्थ में श्रुतज्ञान के अर्थ में भी पाहुड़ का प्रयोग हुआ है । अतः यह संभव है कि पाहुड़ शब्द धार्मिक सिद्धान्त संग्रह या संग्रह के अर्थ में भी प्रयुक्त होता रहा हो ।

पाइयसद्दमहण्णवो नामक प्राकृत कोष में पाहुड़ का अर्थ परिच्छेद और अध्ययन भी बताया है । इसी कोष में ग्रन्थांश विशेष को भी पाहुड़ कहा है । इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'पाहुड़' शब्द अधिकार, परिच्छेद और अध्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है । 'पाहुड़' का अर्थ भले ही अध्याय, अध्ययन, प्रकरण, परिच्छेद आदि हो पर पाहुड़दोहा या दोहापाहुड़ का अर्थ दोहों का संग्रह है ।[3]

इस ग्रन्थ का नाम पाहुड़दोहा या दोहापाहुड़ है, यह भी विचारणीय है । दिल्ली की हस्तलिखित प्रति में इसका नाम पाहुड़दोहा लिखा है और कोल्हापुर की प्रति में दोहापाहुड़ है । इस प्रकार दोनों प्रतियों में भिन्न-भिन्न नामों का उल्लेख होने से नाम की एकरूपता घटित नहीं होती ।

१- अणुपेहा बारहवि जिय भविभवि एकक मणेण ।
रामसीहु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि जेण ॥

२- अहियारो पाहुडयं एयट्ठो पाहुडस्स अहियारो ।
पाहुडपाहुडणामं होदित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥
—गोम्मटसार जीवकाण्ड, ३४०

३- पाइयसद्दमहण्णव – प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी–५, द्वितीय संस्करण, सन् १९६३, पृष्ठ ५६४

रचनाकाल—दोहापाहुड का रचनाकाल भी विचारणीय है। क्योंकि इस ग्रन्थ में कहीं भी इसके रचनाकाल का निर्देश नहीं किया है। डा० हीरालाल जी ने इस ग्रन्थ के रचनाकाल पर विस्तार से विचार किया है। उन्होंने जिन हस्त-लिखित प्रतियों के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है उनमें से दिल्ली वाली प्रति का काल सन् १७३७ है। आमेरशास्त्र भण्डार के गुटके में संकलित प्रति के अन्त में जो पुष्पिका दी हुई है उसके अनुसार इसकी रचना वि० सं० १७११ अर्थात् ई० सन् १६५४ के पूर्व ही हुई होगी।[1] डा० हीरालाल जी ने कुछ ऐसे दोहे भी खोज निकाले हैं जो परमात्मप्रकाश और देवसेन के सावयधम्मदोहा में पाये जाते हैं, उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि परमात्मप्रकाश और सावयधम्मदोहा पूर्ववर्ती ग्रन्थ हैं, उन्हीं में से कुछ दोहे ज्ञान अथवा अज्ञानवश दोहापाहुड़ में संगृहीत हो गये हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण ग्रन्थ में भी दोहापाहुड के चार दोहे उद्धृत मिलते हैं। अतः रामसिंह का समय जोइन्दु और देवसेन के पश्चात् तथा हेमचन्द्र के पूर्व होना चाहिए। जोइन्दु का समय छठी सातवी शताब्दी और देवसेन का समय विक्रम की दसवी शताब्दी है। हेमचन्द्र का समम वि० की ११वीं शताब्दी है। अतः मुनि रामसिंह का समय विक्रम की दसवी शताब्दी का अन्तिम अंश या ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक अश होना चाहिए।

विषय वर्णन—मुनि रामसिंह एक सच्चे साधक हैं; उन्होंने उसी बात को प्रामाणिकता प्रदान की है जो अनुभूति की कसौटी पर खरी उतरी है। वे जैन आगमों और सिद्धान्तो में आस्था रखने पर भी उनका अन्धानुकरण नही करते। यही कारण है कि उनकी शब्दावली में अनेक जैनेतर शब्द समाविष्ट हैं। दोहापाहुड़ में कवि ने जैन दर्शन मे प्रतिपादित आत्मा का स्वरूप, उसके पर्याय, भेद तथा सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र का वर्णन किया है। कवि ने सहजभाव और सामरस्य अवस्था की अनुभूति का भी वर्णन किया है।

इस ग्रन्थ का मूल वर्ण्यविषय आत्मा है। कवि ने आत्मा का वर्णन कुन्द-कुन्दाचार्य के समयसार और प्रवचनसार के धरातल पर स्थिर होकर किया है। उनका कथन है कि आत्मा न तो किसी का कारण है, न कार्य है, न स्वामी है, न भृत्य है, न सूर है, न कायर है, न उत्तम है, न नीच है।[2] वह न पण्डित है, न मूर्ख,

---

१- 'सं० १७११ वर्षे महामांगल्यप्रद आश्विनमासे शुक्लपक्षे द्वितीयाया तिथौ सोमवासरे सीमगल-गोत्रे सुश्रावकपुन्यप्रभावकशाह माधोदास तत् भ्राता साह जायो तत्पुत्र साह नराइनदास पुस्तिका लिखायितं पठनार्थं। शुभमस्तु।

—विशेष जानने के लिए देखिए पाहुड़दोहा, कारंजा सिरीज की प्रस्तावना पृ० २८ से ३५ तक तथा अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, समकालीन प्रकाशन वाराणसी, वि० सं० २०२२।

२- न वि तुहु कारणु कज्जुणवि णवि सामिउ ण भिच्चु।
सूरउ कायरु जीवणवि णवि उत्तमु ण वि णिच्चु॥

—रामसिंह, पाहुड़दोहा, २८

न ईश है, न अनीश, न गुरु है, न शिष्य है। आत्मा समस्त प्राणियों में एक रूप में है, केवल कर्मानुसार सब जीवों में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप में परिलक्षित होती है।[1] यह आत्मा चैतन्यस्वभाव वाली है, न इसमें पुण्य है, न पाप है, न काल है, न आकाश है, न धर्म है और न अधर्म है। आत्मा में चैतन्य स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई जड़ धर्म नहीं है। न यह गौर है, न कृष्ण है और न किसी अन्य वर्ण की है, न यह दुर्बलांग है, न स्थूल है अर्थात् चिदानन्द आत्मा के दुर्बलता या स्थूलता आदि धर्म नहीं हैं। शुद्धात्मा में न वर्ण भेद है, न लिंग भेद है। अतः साधक सोचता है कि न मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, न वैश्य हूँ, न क्षत्रिय हूँ न शूद्र हूँ, न पुरुष हूँ, न नपुंसक हूँ, न स्त्री हूँ। ये सब भेद कर्मजन्य हैं आत्मा के निजरूप नहीं हैं।

आत्मा मे न अवस्थाकृत भेद है और न पन्थ या सम्प्रदाय कृत ही। अतः साधक विचार करता है कि न मैं तरुण हूँ, न वृद्ध हूँ, न बालक हूँ, न सूर हूँ, न दिव्य पंडित हूँ, न मुनि हूँ, न श्वेताम्बर हूँ और न मन्दिरमार्गी हो। ये सब विकल्प निजरूप नही हैं, पर हैं, इनका त्याग ही उपादेय है।

मुनि रामसिंह ने बताया है कि इस आत्मा को समझो, यह ज्ञानमय है और शरीर से भिन्न है। जिसने इस आत्मतत्त्व का अनुभव कर लिया है वही मोक्ष को प्राप्त करता है।[2]

जरा और मरण दोनो शरीर के धर्म हैं। रोग, शोक आदि शरीर में ही उत्पन्न होते हैं, आत्मा मे नही। इस आत्मा में न जरा है, न राग है और न मरण है।[3]

निश्चय से आत्मा इन सबसे भिन्न है। ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त सभी परभाव हैं। जो वर्णहीन, ज्ञानमय, सद्भावस्वरूप, सन्त, निरजन और शिव आत्मा का ध्यान करता है, उसमें अनुराग करता है वही परमात्मपद को प्राप्त होता है।[4] जिसने त्रिभुवन में जिन का अनुभव किया है और जिनवर में त्रिभुवन का अनुभव

१– णवि सुहुं पंडिउ मुक्खुण वि णवि ईसरु ण वि णीसु।
णवि गुरु कोइवि सीसणवि सव्वइं कम्मविसेसु ॥
पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्मु अहम्मुण काउ।
एक्कु वि जीवण होहि तुहुं मल्लिवि चेयण भाउ ॥
णवि गोरउ णवि सामलउ णवि तुहुं एक्कुवि वण्णु।
णवि तणु अंगुउ थूलु णवि एहउ जाणि सवण्णु ॥
हउं वरु बभणु णवि वइसु ण उ खत्तिउ णवि सेसु।
पुरिसु णउंसउ इत्थि णवि एहउ जाणि विसेसु ॥
—पाहुड़दोहा, रामसिंह, दोहा २७, २६, ३०, ३१

२– वही, दोहा ३३

३– वही, दोहा ३५

४– दोहापाहुड़, ३८

किया है, त्रिभुवन और जिनवर में जो भेद नहीं करता है वह सच्चा साधक है। कवि उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ बतलाता है कि जब आत्मा की अनुभूति हो जाती है उस समय इस जीव को कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती, मुक्ति रमा से बढ़कर उसे कोई सुन्दरी प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार कमलवन को देखकर गज अपना बन्धन तुड़ाकर उसमें विचरण करने लगता है उसी प्रकार यह आत्मा मुक्ति रमा को देखते ही उसमें रति करने लगता है। इसके लिए मुक्ति से बढ़कर अन्य कोई प्राप्य पदार्थ नहीं है।

मुनि रामसिंह का अभिमत है कि जब शरीर आत्मा से भिन्न है तो शरीर के दुःख को आत्मा का दुःख नहीं कहा जा सकता है और न शरीर के सुख को आत्मा का सुख ही कहा जा सकता है। भेद-विज्ञान के उत्पन्न होने पर शरीर के प्रति अनुराग भी नहीं रह जाता और साधक यह समझ लेता है कि शरीर प्रसाधन व्यर्थ है, उसका सजाना, सँवारना निरर्थक है, उबटन, तेल, सुमिष्ट, आहार आदि का भी कोई परिणाम नहीं है। यह सब दुर्जन के प्रति किये गये उपकार के समान है—

उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि, देहि सुमिट्ठाहार।
सयलवि देह णिरत्थ गय, जिह दुज्जन उवयार ॥[1]

आत्मस्वरूप को अवगत करने के लिए किसी बाह्याचार की आवश्यकता नहीं है। देवालय में पूजन करने से अथवा तीर्थयात्रा करने से आत्मा की अनुभूति नहीं हो सकती। मन को निर्विकार बनाना ही आत्म प्राप्ति का साधन है। जो फल पुष्पों द्वारा पूजन कर आत्मा को प्राप्त कर लेना चाहता है, वह उसका भ्रम है। साधक न तो वृक्ष की पत्तियों को तोड़कर न फलों को चढ़ाकर ही आत्मा को प्राप्त कर सकता है। देवालय में पाषाण है, तीर्थों में जल है और पोथियों में काव्य है। जो इन साधनों के द्वारा आत्मतत्त्व को उपलब्ध करना चाहता है, वह बालू से रेत निकालने का प्रयास करता है। तीर्थों के जल से स्नान करने पर भी आत्मतत्त्व नहीं मिल सकता है। इसके लिए मन के मैल को धोना होगा। कवि ने बताया है—

देवलि पाहुण तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥
तित्थइ तित्थ भमंतयहं किण्णेहाफल हूव।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं, अब्भितरुकिम हूव ॥
तित्थइं तित्थ भमेहि वढ, धोयउ चम्मुजलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुं, मइलउ पावमलेण ॥[2]

मुनि रामसिंह वेषभूषा को भी आत्मप्राप्ति के लिए व्यर्थ बतलाते हैं। इनका मत है कि नग्न होकर घूमने से तथा दिगम्बर बन जाने मात्र से कोई परमात्मा को

१— दोहापाहुड़, १८
२— पाहुडदोहा, रामसिंह, १६१, १६२, १६३

नहीं जान सकता है ।

भोगासक्त द्रव्यलिंगी मुनि उस सर्प के समान है जिसने केंचुल का त्याग कर दिया है किन्तु विष का त्याग नहीं किया है । यथा—

'सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ ।।'[1]

आत्मा का बोध तो शरीर में ही है । निर्मल चित्त व्यक्ति उसका अपने में ही दर्शन करता है । यदि चित्तरूपी दर्पण मलिन है, विकारयुक्त है तो उसका दर्शन असम्भव है । सिर मुंडाने की अपेक्षा चित्त को मुड़ाना अधिक श्रेयस्कर है । चित्त या मन से विकारों के दूर होने पर ही आत्मबोध प्राप्त होता है । यथा—

मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिय चित्तुण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ, संसारहं खंडणु तिं कियउ ।।[2]

पुस्तकीय ज्ञान को मुनि रामसिंह व्यर्थ समझते हैं । केवल इस ज्ञान से परमात्मा की प्राप्ति नही हो सकती । षड्दर्शन के वाग्जाल में पड़ना व्यर्थ है, उससे केवल तर्कणा शक्ति की वृद्धि हो सकती है, आत्मतत्त्व की नहीं । सच्चा ज्ञान ब्रह्म-ज्ञान है, इसकी प्राप्ति दार्शनिक चर्चा से सम्भव नहीं और न अन्य किसी बाह्य-आडम्बर से । मन की भ्रांति जब तक दूर नहीं होती तब तक कोई भी व्यक्ति शांति-लाभ नहीं कर सकता है । यदि कोई अपने को शस्त्र ज्ञान से पंडित मान लेता है तो वह परमात्मा को नही जानता, वह उस व्यक्ति के समान मूर्ख है जो कण छोड़कर तुस को कूटता है—

छहदंसणधंधइ पड़िय मणह ण फिट्टिय भंति ।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खहं जंति ।।[3]

× ×

पंडिय पंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुसु कंडिया ।
अत्थे गंथे तुट्ठोसि परमत्थु ण जाणहि मूढोसि ।।[4]

मुनि रामसिंह के मत में सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति गुरु प्रसाद से होती है, जब तक गुरु प्रसाद से आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक वह अज्ञान दशा में रहता है और कुतीर्थों में भ्रमण करता रहता है । अतएव स्व और पर का भेद दिखलाने वाले गुरु की कृपा आत्मज्ञान के लिए अपेक्षित है । गुरु ही सूर्य है, गुरु ही चन्द्रमा है, गुरु ही देव है और गुरु ही सर्वस्व है क्योंकि गुरु की कृपा से ही आत्मा और परमात्मा का भेद अवगत होता है—

१- पाहुड़दोहा, रामसिंह, १५
२- वही, १३५
३- वही, दोहा, ११६
४- वही, दोहा, ८५

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु, गुरु दीवउ गुरु देउ ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ।।[1]

शैव और शाक्त साधना के अनुसार शिव और शक्ति के विषमीभाव से ही यह सृष्टि प्रपंच है । संसार का यह द्वन्द्व तभी तक है जब तक शिव शक्ति का मिलन नहीं होता है । यह विश्व विषमता की पीड़ा से स्पन्दित हो रहा है, सुख दुःख का भी यही कारण है । इतना ही नहीं शिव शक्ति का यह व्यापार ही विश्व की गति का कारण है । शिव शक्ति अभिन्न तत्त्व है, यह जान लेने से ही सपूर्ण संसार का ज्ञान हो जाता है और मोह विलीन हो जाता है ।[2] शिव शक्ति का मिलन होते ही समस्त द्वैतभाव तिरोहित हो जाता है और पूर्णता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । इसीको सामरस्य भाव कहा जाता है । व्यष्टि का समष्टि मे और जीवात्मा का परमात्मा में एकमेक हो जाना ही सामरस्य है । इसकी प्राप्ति हो जाने पर बाह्याचार की आवश्यकता नही रहती । आत्मा और परमात्मा के एकाकार हो जाने पर किसकी पूजा की जाए और कौन पूजा करे यह भी प्रतीत नही होता ।[3] शारीरिक दुःख तभी तक व्यक्ति को कष्ट देते हैं जब तक सामरस्य का उदय नही होता । सामरस्य अवस्था की प्राप्ति ही प्रत्येक साधक का चरमलक्ष्य है । इस अवस्था मे मन के संकल्प विकल्प समाप्त हो जाते हैं, बुद्धि के तर्क वितर्क शान्त हो जाते हैं और साधक स्वसंवेदन रस का अनुभव करने लगता है जिसकी समता विश्व का कोई भी आनन्द नहीं कर सकता ।[4]

मुनि रामसिंह ने रहस्यवादी रूप में विषय-कषायों के त्याग का उपदेश दिया है और बताया है कि चतुर्गति के दुःखों का विनाश विषय-कषायो के त्याग के बिना नही हो सकता । वे कहते हैं कि हे जीव, तू विषयों की चिन्ता न कर, विषय अच्छे नही होते । सेवन करते समय तो वे मधुर लगते हैं किन्तु इसके पश्चात् दुःख होता है ।[5]

१- पाहुड़ दोहा, १

२- सिवविणु सत्ति न वावरइ सिउ पुणु सत्तिविहीणु ।
दोहिं म जाणहिं सयलु जगु, बुज्झइ मोहविलीणु ।।
-पाहुड़ दोहा, रामसिंह, ५५

३- मणु मिलियउ परमेसरहो, परमेसरु जि मणस्स ।
बिण्णि वि समरस हुइ रहिय, पुज्ज चडावउं कस्स ।।
—वही, ४६

४- तुट्टइ बुद्धि तड़त्ति जहिं मणु अथवणहु जाइ ।
सो सामिय उवएसु कहि अण्णहिं देवहिं काइं ।।
—वही, १८३

५- विसया चिंति म जीव तुहुं विसयण भल्ला होंति ।
सेवंताहं वि महुर वढ़ पच्छइ दुक्खइं दिंति ।।
विसयकसायहं रंजियउ अप्पहिं चित्तुण देइ ।
बंधिवि दुक्कियकम्मड़ा चिरु संसारु भमेइ ।।
—वही, २००, २०१

प्रेय और श्रेय दोनों ही विरोधी तत्त्व हैं। जहाँ प्रेय निवास करता है, वहाँ श्रेय नहीं रह सकता और जो श्रेय में अपने मन को लगाता है वह प्रिय लगनेवाले विषय-सेवन का त्याग कर देता है। मन के व्यापार के नष्ट होते ही रागद्वेष विलीन हो जाते हैं और परमात्मपद की प्राप्ति होने लगती है। मन्त्र, तन्त्र, ध्येय, धारणा और प्राणायाम आदि क्रियाएँ स्वसंवेदन ज्ञान के बिना कार्यकारी नहीं हैं।[1] संवर जो कर्म निरोध का कारण है वह भी तभी सुखदायी हो सकता है जब भेद विज्ञान या स्वसंवेदनज्ञान उत्पन्न हो जाए।

साधक को एकाग्र मन से बारह अनुप्रेक्षाओं का भी चिन्तन करना चाहिए क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएँ शिवपुरी को ले जाने वाली हैं। विषय कषाय ही संसार का कारण है और विषयों को दूर करने का उपाय इन्द्रियनिग्रह तथा मनोनिग्रह है। इसके लिए साधक को सम्यक्-दर्शन के द्वारा आत्म आस्था को जाग्रत कर तपश्चरण, उपवास, दशविध धर्म एवं संयम को धारण करना चाहिए। इसीसे कर्मों की निर्जरा हो सकती है।[2]

समीक्षा—पाहुडदोहा एक रहस्यवादी रचना है। डा० हीरालालजी ने इसके रहस्यवाद का निरूपण करते हुए लिखा है— 'इन दोहों में जोगियों का आगम, अचित्त और चित्त, देहदेवलि, संकल्प और विकल्प, सगुण और निर्गुण, अक्षरबोध और विबोध वामदक्षिण और मध्य पथ, रवि, शशि, पवन और काल आदि ऐसे शब्द हैं और इनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उनसे हमें योग और तान्त्रिक ग्रन्थों का स्मरण आये बिना नहीं रहता। यथार्थतः बिना इन ग्रन्थों की सांकेतिक भाषा के अवलम्बन के उपर्युक्त दोहों के पूरे रहस्य का उद्घाटन नहीं होता'।[3]

स्पष्ट है कि डा० साहब पाहुडदोहा में शैव, शाक्त और बौद्ध तान्त्रिकों के समान रहस्यवाद का अवलोकन करते हैं।

मुनि रामसिंह ने साधक जीवन का आरम्भ सम्यक्त्व से माना है। क्योंकि जब मानव जीवन का कण-कण आस्था, श्रद्धा तथा जीवन से ओतप्रोत हो जाता है तो

१– मंतुण तंतुण धेउण धारणु, णवि उच्छासह किज्जइ कारणु।
एमइ परमें सुक्खु मुणि सुव्वइ, एही गलगल कासुण रुच्चइ॥
—वही, २०६

२– उववासविसेस करिवि बहु एहुवि संवरु होइ।
पुच्छइ कि बहु वित्थरिण, मा पुच्छिज्जइ कोइ॥
तउ करि दहविहु धम्मु करि जिणभासिउ सुपसिद्धु।
कहज्जिह किम्महं णिज्जर एह जिय फुडु अक्खिउ मइं तुज्झु॥
दहविहु जिणवरभासियउ, धम्मु अहिंसासारु।
अहो जिय भावहि एक्कमणु, जिम तोडहि संसारु॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, २०७, २०८, २०९

३– पाहुडदोहा की भूमिका, संपादक डा० हीरालाल जैन, अम्बादास चवरे, दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला, पृष्ठ १७

इसी चेतना शक्ति का दिव्य आभास होने लगता है। जीवन को सुन्दर, पवित्र और मधुर बनाने के लिए सहजबोध की आवश्यकता है। यह सहजबोध ही सत्यप्राप्ति का साधक है। जीवन में जब तक कुण्ठा, अनास्था और निराशा बनी रहती है तब तक साधक का कल्याण नहीं होता। भोगवादी जीवन इन्द्रधनुषी शोभा के समान अस्थिर है। सम्यक् दर्शन में अनन्त शक्ति है, जीवन के अन्धकार को प्रकाश में परिवर्तित करने की सामर्थ्य भी इसी में है। एक क्षण का सम्यक् दर्शन भी अनन्त जन्म मरण का नाश करने वाला है। सम्यक्त्व के बिना बाह्य समस्त साधन निरर्थक हैं, इसीलिए मुनि रामसिंह ने उनकी भर्त्सना की है।

साधक जब अध्यात्म साधना के मन्दिर में प्रविष्ट हो जाता है और आत्म देवता की पूजा एवं उपासना करने लगता है तो उसे सहज भाव की प्राप्ति हो जाती है, वह निर्भय हो जाता है और उसे दिव्य आलोक की प्राप्ति हो जाती है।

मुनि रामसिंह का अभिमत है कि आत्मा सदा से आत्मारूप है, वह कभी अनात्मा नहीं बनता। इसका एक भी अंश कभी बना और बिगड़ा नहीं है। इसकी अमरता पर विश्वास न होना ही संसार-भ्रमण का कारण है। आत्मा की सत्ता का ज्ञान और उसकी अनन्त शक्ति का भान सम्यक् दृष्टि को ही होता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही साधक आत्मरस का पान करने लगता है, उसका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है और परप्रवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। आत्मा अनन्त शक्ति का प्रभु है, इसमें अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख निहित हैं, सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही साधक को उसकी अक्षय निधि स्वयं ही मिल जाती है। शास्त्र-ज्ञान, गुरु-उपदेश आदि भी सम्यक्-दृष्टि के ही मार्गदर्शक होते हैं, अन्यथा शास्त्रों का ज्ञान कोरा ज्ञान बना रह जाता है और उससे आत्मा का ज्ञान नहीं हो पाता है। आत्मा के जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है और आत्मा को न जानकर समस्त विश्व को जानना भी व्यर्थ है।

मुनि रामसिंह ने साधना मार्ग का विस्तार से वर्णन किया है। वे कहते हैं कि देव की आराधना करने की कोई उपादेयता नहीं है। परमेश्वर सर्वांग में व्याप्त है, अतः उसका विस्मरण कैसे हो सकता है।[1] जो पर है वह पर ही है, पर आत्मा नहीं है। शरीर दग्ध हो जाता है, पर आत्मा दग्ध नहीं होता। यह आत्मतत्त्व ही उपादेय है।[2]

१— आराहिज्जइ देउ परमेसरु कहिं गयउ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, ५०

२— अम्मिए जो पर सो जि पर, पर अप्पाण ण होइ।
हउं डज्झउं सो उव्वरइ, वलिवि ण जोवइ तोइ॥
—वही, ५१

मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा में रहस्यवादी तत्वों का सुन्दर अंकन हुआ है। उन्होंने इन्द्रियों को बैलों का प्रतीक, आत्मानन्द को नन्दन वन का प्रतीक, शरीर को वन का प्रतीक एवं सांसारिक विषयों को तृण का प्रतीक बताया है। कवि कहता है कि पांचों इन्द्रियां बैलों के समान हैं। जिस प्रकार बैलों की रस्सी को ढीला कर देने से बैल मार्ग छोड़कर कुमार्ग में चले जाते हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियां भी नियंत्रण के अभाव में विषयों की ओर प्रवित होती हैं। जिस प्रकार स्वच्छन्द विहारी वृषभ नन्दन वन में प्रविष्ट हो उसे तहस नहस कर डालते हैं उसी प्रकार विषयासक्ति भी इन्द्रियों को उन्मत्त बनाती है जिससे आत्मा का सहजानन्द नष्ट हो जाता है। जो साधक इन इन्द्रियों का दमन करता है वही आत्मानन्द को प्राप्त करता है।[1]

कवि ने शरीर को वन और आत्मा को प्रियतम कहा है। जो कर्मबद्ध आत्मा पाँचों इन्द्रियों से नेह करता है और शरीर को ही सर्वस्व समझ उसी की आवश्यकताओं की पूर्ति में संलग्न रहता है वह आत्मा स्वस्वरूप को प्राप्त नहीं होता। जब मन निश्चल हो जाता है तब वह आत्मोत्थान कारक उपदेश को ग्रहण करता है, संकल्प विकल्पों में लगा हुआ मन आत्मबोध को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है।[2]

२. ४. कवि सुप्रभ और उनका वैराग्यसार

सुप्रभ कवि के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। पर इतना तथ्य है कि वैराग्यसार अपभ्रंश दोहाबन्ध का रचयिता सुप्रभ कवि है क्योंकि सुप्रभ कवि ने प्रत्येक दोहे में 'सुप्पउ भणइ' के द्वारा अपने नाम का निर्देश किया है। सुप्रभाचार्य निर्ग्रन्थ मुनि थे यह भी ध्वनित होता है क्योंकि ५९ वें दोहे में 'सुप्पउ भणइ मुणि सुणहु' पद से स्पष्ट है कि मुनियों को सम्बोधित करने वाला लेखक गृहस्थ नहीं हो सकता है मुनि ही होगा। अतएव यह निश्चित है कि सुप्रभाचार्य निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु हैं और उन्होंने वैराग्य जाग्रत करने के लिए इस वैराग्यसार की रचना की है। कवि ने अपने गण गच्छ के सम्बन्ध में कहीं कोई निर्देश नहीं किया है। अतः कवि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है।

रचनाकाल—वैराग्यसार के रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना प्राप्त नहीं है। जैन सिद्धान्त भवन आरा की जिस प्रति के आधार पर जैन सिद्धान्त भास्कर में इसका प्रकाशन किया गया है, वह विक्रम संवत् १८२७ की प्रति के आधार पर प्रतिलिपि की गयी है। पुष्पिका में बताया है—

'संवत् १८२७ वर्षे मिती पौषवदी ३ बुधवारे बसवानगरमध्ये श्रीचन्द्रप्रभ—

१— पंच बलद्दय रक्खियइ णंदणु वणु ण गओसि।
अप्पु ण जाणिउ ण वि पर वि एमइ पव्वइउ ओसि ॥
—वही, ४४

२— पंचहि बाहिर णेहडउ, हलि सहि लग्गु पियस्स।
तासु ण दीसइ आगमणु, जो खलु मिलिउपरस्स ॥
—पाहुडदोहा, ४५

चैत्यालये पं० श्री परसराम तच्छिष्य: पं० अनन्तराम, तच्छिष्य: श्रीचन्द्रस्य वाचनार्थं वा उपदेशार्थं लिपिकृतं लेखक पाठकयो: शुभमस्ति श्रीजिनराजसहाय: ।'

स्पष्ट है कि ग्रन्थ की प्रतिलिपि वि० सं० १८२७ की है। अत: इसका रचनाकाल इसके पूर्व होना चाहिए।

अब विचारणीय यह है कि इस वैराग्यसार का रचनाकाल कब है। जब हम वैराग्यसार की तुलना जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार से तथा मुनि रामसिंह के पाहुड़दोहा से करते हैं तो स्पष्ट होता है कि इन दोनों ग्रन्थों का प्रभाव वैराग्य-सार पर है। इसकी रचना शैली भी उक्त ग्रन्थों की रचना शैली से भिन्न है। जहाँ महयंदिण कवि ने बरहखड़ी पद्धति में अपने दोहापाहुड़ को रचा है वहाँ सुप्रभाचार्य ने कवि नाम का निर्देश करते हुए प्रत्येक दोहे मे सम्बोधन का भी प्रयोग किया है। अपभ्रंश में इस प्रकार की प्रणाली विद्यापति में तो पाई ही जाती है पर बौद्ध सिद्धों में भी कवि नाम निर्देश की प्रणाली उपलब्ध है। अत: इस रचनातन्त्र के आधार पर सरहप्पा और कण्हप्पा के समकालीन ही वैराग्यसार का रचनाकार प्रतीत होता है।

भाषा की दृष्टि से इस ग्रन्थ की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश है। यथा—

सुप्पउ पुत्तकलत्ताजिम दिव्व विहंजिविलति।
तिम जइ अंमणु अरमरणु हरहिन्न इट्ठुण्णभंति ॥[1]

इस दोहे मे विहं जिवि पद प्राकृत का है। पुत्त कलत्त भी प्राकृत के निकट है और जिम भी प्राकृत पद है। अतएव इसकी भाषा हेमचन्द्र के समकालीन होनी चाहिए। अत: अनुमानत: इसका रचनाकाल दसवी शताब्दी है।

विषय वर्णन—वैराग्यसार में कवि ने शरीर की अनित्यता, सांसारिक वैभव की क्षण भगुरता तथा स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि सासारिक सम्बन्धो की निरर्थकता सिद्ध करते हुए साधक को राग-द्वेष तथा विषय-वासनाओं से विरक्त होकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया है। कवि का विचार है कि मनुष्य सासारिक वैभव के आकर्षण से आकृष्ट होकर तथा स्त्री-पुत्र, बधु-बान्धव आदि के मोह में फँसकर उचित-अनुचित उपायों से धनार्जन करने का प्रयत्न करता है। किन्तु धन सदैव किसी एक व्यक्ति के पास स्थिर नही रहता। यथा—

णिच्चल सपय कस्स थीरजेइ केणविकहिं विट्टकर।
पसारी सुप्पउ भणइ तावोलतु वसिट्ठ ॥[2]

स्त्री-पुत्र कुटुम्बादि भी सर्वेव साथ रहने वाले नही है। जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, तभी तक कुटुम्बादि भी स्नेह करते हैं। मृत्यु के उपरान्त अपने घनिष्ठ

१— वैराग्यसार, सुप्रभाचार्य, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १६ किरण २, सैन्ट्रल जैन ओरियन्टल लाइब्रेरी जैन सिद्धान्त भवन-आरा, दिसम्बर, १९४९ तथा जून १९५० के अन्तर्गत प्रकाशित, १६।

२— वैराग्यसार, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १७ किरण १ के अन्तर्गत, सुप्रभाचार्य ६५।

से घनिष्ठ सम्बन्धी भी श्मशान भूमि में छोड़कर चल देते हैं। उन कुटुम्बियों से तो चिता पर रखी हुई लकड़ी भी अच्छी है, जो शरीर के साथ अन्तिम समय तक रहती है। यथा–

भुवउभसाणि ठवेवि बहुबंधवणिय घरजंति।
वरकलसु सुप्पउ भणइ जे सरिसाइ जलंति ॥[1]

कवि का कहना है कि यदि स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धी जिस प्रकार उपार्जित किये हुए द्रव्य का बँटवारा कर लेते हैं, उसी प्रकार जन्म, जरा, मरण, वियोग, दरिद्रता आदि दु.खो का बँटवारा करते होते तो इन्हें इष्ट मानना उपयुक्त हो सकता था, किन्तु ऐसा नही देखा जाता—

सुप्पउ पुत्तकलत्त जिम दिव्वु विहुंजिवि लंति।
तिम जइ जरमरणु हरहित इट्ठुपभत्ति ॥[2]

वे कहते हैं—'हे जीव तूने अनादिकाल से अनन्तान्त कुटुम्ब किए किन्तु कोई भी मृत्यु के उपरान्त तेरे साथ नहीं रहा। अत: तू इन्हे अपने समझकर इनमे अनुराग मतकर—

सुप्पइ भजइ रे जीव सुणि बबबकरहिं परत्तु।
परसिरिपिछिवि अण्ण भवि जिम्मण विसूरहि मित्तु।[3]

कवि का कहना है कि कुटुम्बादि के मोह मे फँसकर उनका भरण-पोषण करने के लिए जीव अनेक प्रकार के अनर्थ करता है, दूसरो को ठगकर धन एकत्र करता है, इन दुष्कृत्यो द्वारा उपार्जित धन का उपभोग तो सभी कुटुम्बी जन करते हैं किन्तु पाप का फल अकेले ही भोगना पड़ता है—

पर पीडवि धणुसचयइ सुप्पउ भणइं कुदोसु।
वधणमरण विडंवु तहु अत्थि विसेसु ॥[4]

यह जीवन क्षणभगुर है, आयु क्षण-क्षण गलती रहती है, कोई भी सदा स्थिर नही रहा है, सांसारिक वैभव इस जन्म मे ही सुख के कारण हो सकते हैं, मृत्यु के उपरान्त कुछ भी अपने साथ नहीं जाता, अत: धन संचय करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती—

पछुम्मइ धणु संचयइं चिरकिज्जइधकवासु।
सकुडवउ सुप्पउ भणइ पाइमिउ मरछ्हयासु ॥[5]

यदि पुण्य से धन की प्राप्ति होती है तो उसे वन, पुण्य आदि सत्कार्यों में व्यय करना चाहिए। परलोक मे जो ऐसा नही करते वे उस नवजात शिशु के समान

१- वैराग्यसार, वही, १०
२- वही, १६
३- वही, १८
४- वही, ३०
५- वही, ३१

जो माता के बिना अत्यन्त दुःखी होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है मरण के समय अत्यधिक दुःखी होते हैं। यथा—

जेंण सहृत्येंणि थयधणु सव्वावत्थ णदिंति।
मा इतिहूणउ डिम्भुजिमु ते झूरति मरंति ॥[1]

कवि का कहना है कि इन्द्रियविषय सेवन करते समय तो सुखद प्रतीत होते हैं किन्तु उनका परिणाम अत्यन्त दुःखद होता है। अतः मनुष्य को इन्द्रियों के विषयों में आसक्त न होकर दान पुण्य आदि धार्मिक कार्य करने चाहिए जिनसे निर्मल यश की प्राप्ति हो तथा आत्मकल्याण हो सके।

रे जीय तं तुहं किंपि करिज्जं सु यमहु पडिहाइ।
मणुविसहयं हविइ धणहं भत्तणधवणहु जाइ ॥[2]

धार्मिक कृत्यों से ही इसलोक तथा परलोक में भी सुख की प्राप्ति होती है, इन्द्रिय-विषयों के उपयोग से नहीं। यथा—

धण्णणिमित्तं धरु धरणि जसु भणि णिक्षउ हुंति।
तसु जय सिर सुप्पउ भणइं इयरहं कहं वन छति ॥[3]

अतः हे जीव। जिस प्रकार इन्द्रिय रूपी चोर तुम्हारे धर्मरूपी धन को न चुरा सकें, इस प्रकार सतर्कतापूर्वक तू अपने गृह में निवास कर—

पर सुखइं सुप्पउ भणइं जिय माणिज्जहि नेम।
इन्द्रिय चोर हं धम्मधणु भुवन रहिज्जइ जेम ॥[4]

सांसारिक पदार्थ पर पदार्थ हैं, अतः दुःख के कारण हैं किन्तु जीव इन्हें स्वपदार्थ मानकर इनमे आसक्ति रखता है। अतः जिस प्रकार बिल्ली डंडे के प्रहार के दुःख को भूलकर भी दूध पीती है और उसमें सुख मानती है उसी प्रकार यह जीव भी थोड़ा सा विषय-सेवन कर सुमेरु पर्वत के समान अत्यधिक दुःख का भागी बनता है। वे कहते हैं—

जर जोवण जीविउ मरण धन दालिद कुटुम्ब।
रेहियड़ा सुप्पउ भणइ, इहु संसाचिद्गब्बु ॥[5]

कवि का कहना है कि शरीर के धर्म आत्मा के धर्म नहीं हैं। अतः मैं शिशु हूँ, मैं बालक हूँ, मैं युवा हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं कुलीन हूँ, मैं अकुलीन हूँ, मैं सुजाति हूँ, मैं कुजाति हूँ, मैं राजा हूँ, मैं भृत्य हूँ, मैं रूपवान् हूँ, मैं कुरूप हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं नपुंसक हूँ, आदि बातें मिथ्यादृष्टि ही समझते हैं, सम्यक् दृष्टि नहीं। यथा—

१- वैराग्यसार (वही), १६
२- वही, १२
३- वही, २६
४- वही, ५४
५- वही, २५

सिसु तरुणा उपरिण बवयसु इह चितणहं म जाइ।
अमरक्खसु सुप्पउ भणइं उप्परिताडियरवाइ ॥[1]

सभी धन, धान्य, कुटुम्ब, परिग्रह आदि परस्वरूप हैं और अन्त में नष्ट हो जाने वाले हैं। अतः हे प्राणी ! तू इनका अभिमान न कर—

ईसरमव्वुमां उवहहिं सलवपराउ आणि।
बलु जीविउ सुप्पउ भणइं पिउवणु तुव अवसाणि ॥[2]

यह मनुष्य-जन्म बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है, इसे पाकर सांसारिक विषय भोगों में ही इसे नष्ट नहीं करना चाहिए। मृत्यु अवश्यंभावी है। अतः धर्म सेवन के द्वारा इसे सफल बनाना चाहिए—

संपयविलसहु जिव सुणहु करहु निरन्तर धम्मु।
उत्तमकुलि सुप्पउ भणइं दुल्लहु माणुस जम्मु ॥[3]

× × ×

दयाकारी जीवहं पालियय करिदुक्खियपरस।
जिन तिम करि सुप्पउ भणइं, अवसि मरे बोमिस्त ॥[4]

परवस्तुओं को अपना मानना और उनके विनाश से दुःखी होना व्यर्थ है, आत्मा ही एकमात्र अपना है। अतः उस आत्मा को ही अजर और अमर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए—

हियडासंवरि धाहड़ी भुवउ कि आवं कोइ।
अपज अजरामरु करिवि पच्छइ अणहुंरोइ ॥[5]

ध्यान के द्वारा ही आत्मा अजर तथा अमर पद को प्राप्त कर सकता है। अतः अन्य सभी चिन्ताओं को छोड़कर हे जीव। तू उसी आत्मा का ध्यान कर—

जिम झाइज्जइ वल्लहउ तिम जइ जिय अरहंतु।
सुप्पउ भणइं ते माणसहं सुगुर्वरि गणिहुतु ॥[6]

माया रूपी रात्रि मे मन रूपी चोर आत्मा रूपी रत्न को चुरा लेता है, आत्म ज्ञान रूपी प्रभात के होने पर उस रत्न की रक्षा की जा सकती है—

मणचोरह माया निसिहि जियरखहि अप्पाणु जिमहो हो।
सुप्पउ भणइं विम्मलु णाणु विहाणु ॥[7]

हे जीव, जिस प्रकार नट नाना रूप धारण कर अपने को भूल जाता है, मंच

१– वैराग्यसार, सुप्रभाचार्य, १५
२– वही, ४७
३– वही, ३६
४– वही, ३७
५– वही, १४
६– वही, ६
७– वैराग्यसार, सुप्रभाचार्य (जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष १७, किरण १ के अन्तर्गत) ४२

पर नृत्य करता है, उसी प्रकार तू भी अपने आत्मस्वरूप को भूलकर नाना रूप धारण कर संसार में भटक रहा है। मोह ही तुझे नचा रहा है, तू उसी के वश में होकर नाना नृत्य कर रहा है। अत: उसे तत्काल ही त्याग दे। तत्त्वादि चिन्तन के द्वारा परस्वरूप को छोडकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही सर्वथा अभीष्ट है। अत: तू आत्मज्ञानी बनकर आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर। यथा–

कवणु सयणाउ भणहं जीव तुहु बहुविहरूव धरन्तु।
अवपरेणु सुप्पउ भणइ कि न लज्जहि णच्चन्तु ॥[1]
खणि खणि हरसविसाय वसु मंडिउ मोहन जेण।
घरिपेरणु सुप्पउ भणइ रे परहरइ खणेण ॥

निर्वाण की प्राप्ति तब तक नही हो सकती जब तक साधक अपने मन को वश में कर आत्मस्वरूप का ज्ञान नही प्राप्त कर लेता। अत: सर्वप्रथम मन को वश में करना आवश्यक है। कवि ने लिखा है–

सुप्पउ भणइं मुनि सणहु तादुल्लहु णिव्वाणु।
आमण मणुसिह भावि मुणिउ अप्पाणि अप्पाणु ॥[2]

कवि कहते हैं कि मोक्ष प्राप्ति के लिए हरि, हर, जिन अथवा ब्राह्मण आदि की पूजा करने की अपेक्षा भावों की पवित्रता नितान्त वाञ्छनीय है–

अहहस पुज्जहु अह वहरि अहि जिणहिं वभाण।
सुप्पउ भणइ रे जीव जोई यहु सव्वह भाउपवाणु ॥[3]

दु:ख सुख, हर्ष-विषाद आदि मे समरस भाव धारण कर आत्मध्यान करने से ही अतीन्द्रिय, अनाकुल, निरामय और अव्याबध सुख की प्राप्ति हो सकती है–

रोबतहु सुप्पउ भणइं सो विहवइ आप्पणु।
णाणवंतीर फुरइतहि समरसुत प्रिय णाणु ॥[4]

अत: शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए साधक को राग-द्वेष, मोह, माया आदि का त्याग कर आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए तथा शुद्ध भाव से उसी का ध्यान करना चाहिए।

आलोचना·—सुप्रभाचार्य के इस वैराग्यसार में रहस्यवादी तत्त्व अत्यल्प हैं। कवि ने आत्मा के स्वरूप में ही रहस्यवाद का समावेश किया है। जिस प्रकार जोइन्दु, महचन्दिण और मुनि रामसिंह ने आत्मा के स्वरूप का विवेचन निश्चयनय की दृष्टि से किया है उसी प्रकार का विवेचन सुप्रभ कवि का भी है। वे भी आत्मा में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों का अभाव मानते हैं तथा आत्मा और परमात्मा को शक्त्यपेक्षया एक ही अनुभव करते हैं। सुप्रभाचार्य की दृष्टि में साधना का मार्ग

१– वैराग्यसार, सुप्रभाचार्य (जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष १७, किरण १ के अन्तर्गत) ४४, ४५
२– वही, ४६
३– वही, ४७
४– वही, ४९

संसार के पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना है। कवि बतलाता है कि हमें अनुभव में संसार के सभी पदार्थ अनित्य और अस्थिर दिखलाई पड़ते हैं। प्रेयरूप में उपस्थित इन अनित्य भौतिक पदार्थों में रुचि रखना या इन पदार्थो के प्रति आसक्ति दिखलाना भ्रम है। जिस साधक को आत्मानुभूति प्राप्त है वह साधक जड और चेतन के भेद का अनुभव कर इस चैतन्य आत्मा का अनुभव करता है। अनुभव को सार्थक बनाने के लिए कवि ने अनेक लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उसने बताया है कि इस आत्मा का कोई साथी नही है, यह अकेला है और जन्म-मरण से रहित है, जन्म-मरण का दुःख तो शरीर को प्राप्त होता है, आत्मा को नही। कवि ने इस भावावली को स्पष्ट करने के लिए लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किये तथा चन्द्रवदनी, मृगनयनी, चन्द्रानने आदि सम्बोधनों का प्रयोग कर दोहो को सरस बनाने का प्रयास किया है। जब सम्बोधनो पर अचानक पाठक की दृष्टि पडती है तो उसे प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये दोहे किसी गृहस्थ के लिखे हैं। पर जब दोहो का अध्ययन उसकी संस्कृत वृत्ति के साथ किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका रचयिता एक सन्त है, जिसने ससार के दोनों पक्षो का अनुभव किया है--- भोग और वैराग्य। कवि ने गृहस्थ अवस्था मे सासारिक भोगो द्वारा अपने ज्ञान को समृद्ध किया और जब परिग्रह की गठरी छोड़ दी तो स्वानुभूति के आधार पर वैराग्य का प्रवचन किया।

कवि ने ७७ दोहों मे संसार की यथार्थ स्थिति का चित्रण किया है, ससार की स्वार्थपरता, प्रपच, ममता, मोह आदि का यथार्थ वर्णन कर साधक को वैराग्य की ओर ले जाने का प्रयास किया है।

२.५. महानन्द और उनकी रचना

कवि महानन्द का दूसरा नाम आनन्दतिलक है। इनकी एकमात्र रचना आनन्दा नामक काव्य है। इस ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रथम प्रति बीकानेर के श्री अगरचन्द नाहटा के पास है और दूसरी जयपुर मे है। आनन्दा के सम्बन्ध में दो निबन्ध वीरवाणी मे प्रकाशित हुए हैं। नाहटा जी की प्रति मे महानन्ददेव रचयिता का नाम आता है। प्रति के आरम्भ में लिखा है—

चिदाणद साणद जिणु समल सरीरहं सोइ
महाणदि सो पूजियइ आणंदा गगनमडल थिर होइ।

अन्त में लिखा है—

महाणंदि इ वालिउ
आणदा जिणि दरसाविउ भेउ ॥
जाणिउ भणइ महाणंदि देउ
जाणिव णाणंह भेउ ।[1]

१- आनन्दा, आमेर शास्त्रभण्डार की प्रति मे उल्लिखित है।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कृति का रचयिता महानन्द देव या महानन्द कवि है। इस एक अन्य छन्द में कवि का नाम आनन्द तिलक भी आया है। इससे यह अनुमान भी लगाया जाता है कि कवि का नाम आनन्द तिलक होना चाहिए। यथा—

हिन्दोला छदि गाइयइं आणदि तिलकु जिणाउ।
महाणंदि दश्वालियउ, आणदा अवहउ सिवपुरि जाउ ।।[1]

अतएव यह अनुमान सहज में किया जा सकता है कि रचनाकार का नाम आनन्द तिलक और महानन्द देव ये दोनों हैं। उसने अपने नाम के अनुरूप ही रचना का नाम आनन्दा रखा होगा। आनन्दा शब्द प्रत्येक प्रति मे आया है।

श्री कामताप्रसाद ने अपने हिन्दी जैन साहित्य के संक्षिप्त इतिहास मे लिखा है 'मुनि महानन्द देव ने आनन्द तिलक नाम की रचना साधुओं और मुमुक्षुओं के सम्बोधन के लिए आध्यात्मिक सुभाषित नीतिरूप मे गोपालशाह के लिए रची थी।[2] कवि महानन्द या आनन्दतिलक के जीवन परिचय के सम्बन्ध में विशेष जानकारी उपलब्ध नही है।

रचनाकाल—आनन्दा के रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना उपलब्ध नहीं है। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इसका रचनाकाल १२वी शताब्दी माना है और अगरचन्द नाहटा का अनुमान है कि इसका रचनाकाल १३वी १४वी शताब्दी होना चाहिए। नाहटा जी ने लिखा है—'यद्यपि यह अपभ्रंश के बहुत निकट की लगती है पर शब्द प्रयोग परवर्ती लोक भाषा के यत्र तत्र पाये जाते है। उसे देखते हुए इसका रचनाकाल भी १२वी शताब्दी से बाद का १३वी या १४वी शताब्दी का होना सम्भव है।[3]

स्पष्ट है कि उक्त दोनों विद्वानों ने भाषा के आधार पर काल निर्णय की चेष्टा की है, जो किसी भी कृति के कालनिर्णय मे समुचित नहीं माना जा सकता है। ग्रन्थ के अन्तरग अध्ययन से यह स्पष्ट है कि परमात्मप्रकाश, योगसार और दोहापाहुड के समान ही इसमे विषयनिबद्ध हैं। जब उक्त तीनों ग्रन्थों का इतना सामीप्य है तो इसके रचनाकाल को इतना पीछे नही लिया जा सकता। हमारा अनुमान है कि इस ग्रन्थ का रचनाकाल दोहापाहुड के कुछ वर्ष बाद ही होना चाहिए। अत: इसका रचनाकाल ११वी शताब्दी है।

नामकरण—इस ग्रन्थ का नाम आनन्दा अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि कवि ने प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त मे नाम निर्देश किया है। डा० कस्तूरचन्द जी का कथन है—'रचना का नाम है आणदा, रचना का नामकरण उसके कवि के नाम

१- वही, ४२

२- हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कामता प्रसाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम सस्करण, सन् १९४७ पृष्ठ ८६

३- वीरवाणी, जयपुर वर्ष–३, अंक–२१, पृष्ठ २८१

पर हुआ है, कबीर, मीरा, सूरदास आदि कवियों के समान कवि ने अपने नाम को प्रत्येक छन्द के अन्त मे दे दिया है। इस रचना के पढ़ने से आत्मीय आनन्द का अनुभव होता है। शायद इसीलिए इसका नाम आणदा रखा गया है।'[1]

यद्यपि नाहटा जी उक्त नामकरण से सहमत नहीं हैं पर इसका क्या नाम होना चाहिए इसका कोई सुझाव उन्होंने नही दिया है। श्री कामता प्रसाद जी ने रचना का नाम आनन्दतिलक कहा है। पर इस रचना का नाम अनदा अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

वर्ण्य विषय—'आनन्द' काव्य में कवि ने सुख की खोज मे इधर-उधर भटकते हुए ससार के सतप्त प्राणियों को बताया है कि ससार में कही भी सुख नही है, आत्मानुभव ही एकमात्र असीम, अनन्त और अनुपम सुख का कारण है। इस ससार मे मनुष्य सांसारिक विषय वासनाओं से मुग्ध होकर उन्हें पाने के लिए सतत् प्रयत्न-शील रहता है और असीम आनन्द के कारण आत्मदेव की उपेक्षा करता है किन्तु उसका यह प्रयास ऐसा ही हास्यास्पद है जैसे किसी मूर्ख का अन्न के कण को छोड़कर तुष को ग्रहण करना है। यथा—

परमप्पउ जो झावइ सो साच्चउ विवहारु।
सम्मकु बोधइ बाहिरउ आणन्दा। कण विणु गहिउ पयालु॥[2]

कवि ने बताया है कि यह आत्मा आनन्दमय है, निरजन है, परम शिव है, किन्तु मूढ प्राणी अज्ञान के कारण उसे भूलकर कुदेवो की पूजा करता है।

अप्पु णिरजणु परमसिउ अप्पा परमाणदु।
मूढ कुदेव ण पूजियइ, आणन्दा रे। गुरु विणु भूलउ अन्ध।[3]

यह आत्मा शरीर से भिन्न है, शरीर रूप नही है और न शरीर के गुण ही आत्मा के गुण है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि शरीर के गुण हैं, आत्मा मे न रूप है, न रस है, न गन्ध है और न स्पर्श है—

फरस रस गन्ध बाहिरउ रूव विहूणउ सोई।
जीव सरीरह विणुकरि आणन्दा। सद्गुरु जाणइ सोई॥
—आनदा १९

इस आत्मा का ज्ञान गुरु की कृपा से ही होता है। गुरु के सन्तुष्ट होने पर ही ससार मे मुक्ति मिल सकती है। गुरु ही जिनदेव है, गुरु ही सिद्ध है और गुरु ही सार रत्नत्रय भी है। अतः हे प्राणी, तू उस गुरु को ही प्रसन्न रखने का प्रयास कर—

सद्गुरु तूठा पावयइ, मुक्ति तिया घरवासु।

१- वीरवाणी, जयपुर वर्ष-३, अक-१४, १५, पृष्ठ १९७–१९८
२– हिन्दी और अपभ्रंश मे जैन रहस्यवाद के अन्तर्गत आणदा, वासुदेव सिंह, समकालीन प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ २७१, पद २४
३– वही, पद २

सो गुरु निरुत्साइय, आणंदा । जब लगुहियड़इ सांसु ।
गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तय सारु ।
सो दरिसावइ अप्पपरु, आणदा । भव जल पावइ पारु ॥

—आणंदा ३५, ३६

कवि कहता है—अपने मन को भ्रम से रहित कर निर्द्वन्द्व हो गुरु को आत्म समर्पण कर देना चाहिए क्योंकि गुरु ही एक ऐसा अद्‌भुत प्रकाश है जो बिना तेल, बिना बत्ती के ही जिनदेव के दर्शन करा देता है—

बलि कीजउ गुरु आपणइ, फेडी मनहि भरंति ।
विणु तेलहि विणु वातियहि आणंदा । जिणदरिसावइ भेउ ॥

—आणन्दा ४३

गुरु भी सद्‌गुरु होना चाहिए, कुगुरु नहीं ।

कवि महानन्द के विचार से यह आत्मा मन्दिर, मस्जिद, मठ अथवा तीर्थ क्षेत्र मे नहीं है, यह तो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे है । मूर्ख लोग व्यर्थ ही उसे पाने के लिए अडसठ तीर्थों मे भ्रमण करते हैं ।[1] जिस प्रकार काष्ठ मे अग्नि है और पुष्प म सुगन्धि है, उसी प्रकार शरीर मे भी यह आत्मदेव विद्यमान है । किन्तु इसे सभी नहीं जान सकते, कोई विरला आत्मज्ञानी ही इस तथ्य को जान पाता है—

जिम वइसाणर कट्ठमहि, कुसुमइ परिमलु होई ।
तिह देहमइ वसइ जिव, आणन्दा । विरला बूझइ कोई ।

—आनन्दा, १६

किन्तु वही शुद्ध, सच्चिदानन्द, निरजन, शिवरूप आत्मा अनादिकाल से कर्म-फल से मलीन होकर ससार में भ्रमण कर रहा है और नाना प्रकार के दु.ख सह रहा है । गुरु की कृपा से ज्ञान प्राप्त कर पूर्वकृत कर्मो के क्षय तथा नवीन कर्मो के आगमन को रोककर शुद्ध भाव से आत्मध्यान करनेवाला प्राणी ही आत्मानुभव का आनन्द प्राप्त कर सकता है । यथा—

पुव्वकिय मल खिज्जुरई णयाण होणइ देइ ।
अप्पा पुणु पुणु रगिय—, आणदा । केवलण्णण हवेइ ।।[2]

सांसारिक व्यक्ति अज्ञानवश शरीर की शुद्धि के लिए प्रतिदिन स्नान करते हैं, किन्तु स्नान से बाह्य मल ही दूर हो सकता है, आन्तरिक चि मल जो चित्त को मलिन किये हुए है वह तो ध्यान रूपी सरोवर के अमृत जल से स्नान करने पर ही दूर हो सकता है—

भितरि भरिउ पाडमलु, मूढा करहि सण्हाणु ।
जेमल लागहि चित्तमहि आणन्दा रे । किम जाय सण्हाणु ॥

१– आणन्दा, ३
२- वही, ३२

झाण सरोवरु अमिय जुलु, मुणिवरु करइ सण्हाणु ।
अट्ठकम्ममल धोवहिं आणन्दा रे । णियड़ा पाहु णिव्वाणु ।।[1]

बाह्याडम्बर तथा बाह्य वेषभूषा की भर्त्सना करते हुए कवि कहते हैं कि शास्त्र पढ़ने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती[2], न देवशास्त्र गुरु की आराधना ही मुक्ति का कारण है ।[3] मुनिलिंग धारण करना, केशलुंच करना परीषह सहन करना तथा लम्बे-लम्बे उपवास करना भी तब तक कार्यकारी नहीं, जब तक शुद्ध मन से आत्मा का ध्यान नहीं किया जाता—

केइ केस लुचावहिं केइ सिर ही जटा भारु ।
आप्पविन्दु ण जाणहिं आणन्दा । किम पावहिं भावपारु ।।
तिणि कालुवाहि खमहि, सहहि परीषह भारु ।
दसण णाणइ बाहिरउ आणन्दा मरिसे ए भमु कालु ।।
पाखि मासि भोयणु करहिं पणिउ गासुनि रासु ।
अप्पाज्झाइण जाणहिं आणन्दा तिहुणइ जमपुरिवास ।।
बाहिरि लिंग धरेवि मुणि जु सइ मूढ णिवन्तु ।
अप्पा इक्क ण झावहि आणन्दा । सिवपुरि जाइ णिभन्तु ।।[4]

जप, तप, शील, सयम तथा महाव्रत के धारण करने पर भी जबतक जीव आत्मतत्त्व को नहीं जानता वह भवसागर से पार नहीं हो सकता, किन्तु, एक क्षण के लिए भी शुद्ध मन से आत्म ध्यान करने पर यह अनायास ही भव बन्धन से मुक्त हो जाता है । अत: एकमात्र आत्मध्यान ही असीम सुख का कारण है—

वउ तउ सजमु सीलु गुण सहय महव्वय भारु ।
एक्क ण जाणइ परमकुल, आणण्दा । भमियइ बहु ससारु ।।
तथा
जापुर जपइ बहु तव तवड, तो वि ण कम्म हणेई ।
एक्क समउ अप्पा मुणइ आणन्दा । चउ गइ पाणिउ दोई ।।[5]

आलोचना—अणन्दा एक रहस्यवादी काव्य है, इसमे कवि ने साधनात्मक रहस्यवाद का प्रतिपादन किया है और गगनमडल, घटमांहि, शिवपुरी, सद्गुरु, निराकार, निरजन आदि रहस्यवादी शब्दो का प्रचुर परिणाम मे प्रयोग किया है । कवि का उद्देश्य आत्मतत्त्व की प्राप्ति है । उनका कथन है कि परमानन्द सरोवर मे प्रवेश करने पर अमृतरूपी महारस की प्राप्ति होती है और इस रस का पान कर आत्मा तृप्त हो जाता है । सद्गुरु की शिक्षा का लक्ष्य परमानन्द के स्वभाव को

१- आणन्दा, ४, ५
२- वही, ७
३- वही, १३
४- वही, ६, १०, ११ १२
५- वही, ८, २१

जाग्रत करना है । इन्द्रिय और मन जो आत्मा को विकृत करने में प्रवृत्त हैं उनका नियंत्रण परमावश्यक है।

कवि ने साधनात्मक रहस्यवाद के साथ-साथ भावात्मक या प्रेमात्मक रहस्य-वाद का भी चित्रण किया है। उन्होने पंचेन्द्रियों के विषयों का त्याग कर समरस भाव में अनुरक्त होने का निर्देश किया है।[1] कवि ने निष्पक्ष होकर विभिन्न मतों और सम्प्रदायों में प्रचलित आडम्बरों का भी खडन किया है।

२.६. लक्ष्मीचन्द और उनकी रचना

दोहाणुवेहा की एक हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भडार मे विद्यमान है। इस कृति के रचयिता लक्ष्मीचन्द माने जाते हैं यद्यपि दोहाणुवेहा मे कही भी लक्ष्मीचन्द का नाम नही आया है। प्रायः सभी पदो मे 'जिणवर एम भणेइ' पद आता है जिससे निर्णयात्मक रूप से लेखक का नाम निर्देश नही किया जा सकता है। ४२ वें ४७ वे दोहे मे 'णाणी वोल्लहिं साहु' का प्रयोग हुआ है जिससे 'साहू' नामक कर्त्ता भी सिद्ध होता है। प० परमानन्द जी ने अपने 'अपभ्रंश भाषा के अप्रकाशित कुछ ग्रन्थ' शीर्षक निबन्ध मे लक्ष्मीचन्द का उल्लेख किया है। 'दिगम्बर जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता' नामक ग्रन्थसूची में भी एक लक्ष्मीचन्द का नाम आया है। ये अग्रवाल जाति के थे और सवत् १०३३ मे इन्होंने दो रचनाएँ लिखी थी। एक रचना श्रावकाचार या दोहा छन्दोबद्ध है। यदि ये ही लक्ष्मीचन्द दोहाणुवेहा के रचयिता हों तो इनका आविर्भाव काल ११वी शताब्दी है।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने सावयधम्मदोहा का रचयिता भी लक्ष्मीचन्द को सिद्ध किया है, पर डा० हीरालाल जी ने देवसैन को सावयधम्मदोहा का रचयिता माना है। दोहाणुवेहा का विषय भी श्रावकधर्म से बहुत मिलता-जुलता है।

वर्ण्य विषय—दोहाणुवेहा में ४७ दोहे हैं। इसमे कवि ने बताया है कि यह जीव अज्ञान और मोह के कारण ही ससार मे भटक रहा है और कष्ट भोग रहा है। सासारिक विषय वासनाएँ अपना आकर्षक रूप दिखाकर जीव को मुग्ध कर लेती हैं और उन्हे नाना नाच नचाती हैं, किन्तु, सांसारिक सुख अनित्य है, दुःख रूप हैं और आकुलता उत्पन्न करने वाले है। निराकुल, अव्याबध और शाश्वत सुख तो मोक्ष सुख है जो निरन्तर अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व आदि बारह भावनाओ का चिन्तन कर चित्त शुद्धि के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा की नित्यता और ससार की अनित्यता का वर्णन करते हुए कवि अनित्य परभावो का त्याग कर नित्य आत्म भाव को ग्रहण करने की प्रेरणा देता है—

जइ णिच्चु वि जाणियइ, तो परिहरहि अणिच्चु।

१— समरस भावें रंगिया अप्पा देखइ सोइ।
अप्पा जाणइ परहणइ आणदा। करइ निरालब होइ॥
—आणदा, ३०

णं काइ णिच्चुवि मुणहिं, इम सुयकेवलि वुत्तु ।।[1]

ससार के सभी पदार्थ पर हैं । स्त्री–पुरुष तथा स्वजन सम्बन्धियों के लिए जीव अनेक प्रकार के कष्ट सहता है, किन्तु ये जन्म–मरण के दुःख से जीव की रक्षा नहीं कर सकते । दर्शन, ज्ञान, तथा चारित्रमय आत्मा ही जीव की रक्षा करने में समर्थ है । अतः उस आत्मा का ही निरन्तर चिन्तन करना चाहिए—

असरणु जाणहि सयलु जियु, जीवहं सरणु ण कोइ ।
दमणणाण चरित्तगउ, अप्पा अप्पउ जोइ ।।
दसणणाणचरित्तमउ, अप्पा सरणु मुणेइ ।
अण्णु ण सरणु वियाणि तुहुं, जिणवर एम भणेइ ।[2]

आत्मस्वरूप को जाने बिना यह जीव पंचपरावर्तनरूप संसार मे पाँचों इन्द्रियों के बन्धन मे बँधकर भ्रमण करता रहता है किन्तु, उसे कही सुख नही मिलता । जब तक यह आत्मस्वरूप की प्राप्ति नही कर लेगा इसका यह भव–भ्रमण भी नही छूट सकता है—

पच पयारह परिभमइ, पचइ बंधिउ सोइ ।
जाम ण अप्पु मुणेहि फुडु, एम भमतिहु जोइ ।।[3]

यह जीव अकेला ही ससार मे आया है, अकेला ही मिथ्यात्व के कारण चारों गतियो मे भ्रमण कर दुःख पा रहा है और सम्यक् दर्शन के प्राप्त हो जाने तथा प्रभावो का त्याग कर देने पर अकेला ही आत्मानुभव रूपी शिव सुख की प्राप्ति भी करेगा—

इक्किलउ गुणगणनिलउ, बीयउ अत्थि ण कोइ ।
मिच्छादसणु मोहियउ, चउगइ हिंडइ सोइ ।।
जइ सद्दसणु सो लहइ तो प्रभाव चएइ ।
इक्किल्लव सिव सुह लहइ, जिणवर एम भणेइ ।।[4]

आत्मा शरीर से भिन्न है । शरीर आत्मा नही है और न आत्मा शरीर । अतः आत्मसुख भी शरीर–सुख से सर्वथा भिन्न है, ऐसा विचारकर विषय वासना–जन्य शारीरिक सुखों का परित्याग कर आत्म–सुख की प्राप्ति का ही निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए । यथा—

अण्णु सरीरु मुणेहि जिय, अप्पउ केवलि अण्णु ।
तो अणु विसयलु वि चयहि, अप्पा अप्पउ भण्णु ।।[5]

यह शरीर रक्त, मास आदि सप्त धातुओ से निर्मित है । इसमे सदैव कृमि–

१– अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद के अन्तर्गत दोहाणुवेहा, ६
२– दोहाणुवेहा, ८, ९
३– दोहाणुवेहा, १०
१– दोहाणुवेहा, ११, १२
२· वही, १३

कुल आदि अशुचि एवं घृणित वस्तुओं का मिश्रण रहता है। इसमें निवास करने वाला आत्मा ही निर्मल है, अतः शरीर का महत्त्व त्याग कर इस आत्मा से ही अनु-राग करना चाहिए। यथा—

सत्त धाउमउ पुग्गलुवि, किमि कुलु असुइ निवासु।
तहिं णाणिउ किमइं करइ, जो छडइ तव पासु॥
असुइ सरीरु मुणेहि जइ, अप्पा णिम्मलु जाणि।
सो असुइ वि पुग्गलु चयहि, एम भणतिहु णाणि॥[1]

कर्मों से लिप्त होने के कारण ही यह आत्मा ससार मे भटक रहा है और नाना दुःख उठा रहा है। अपने स्वभाव को छोडकर प्रभाव को ग्रहण करने से ही कर्मों का आगमन होता है, यही आश्रव है और यही ससार का कारण है। अतः प्रभाव को त्याग कर स्वभाव को ही ग्रहण करना चाहिए—

जो ससहाव चएवि मुणि, परभावहि परणेइ।
सो असव जाणेहि तुहुं, जिणवर एम भणेइ॥
आसउ ससारह मुणहि, कारणु अण्णु ण कोइ।
इम जाणेविणु जीव तुहु, अप्पा अप्पउ जोइ॥[2]

पर–भावों का त्याग कर स्व–भाव ग्रहण करने से कर्मों का आगमन नही होता और कर्मों का आगमन न होना ही सवर है जो परम्परा से मुक्ति का कारण है।[3] सहजानन्द रूप आत्मस्वभाव मे स्थित होकर पर–भावो का त्याग कर देने से पूर्वोपार्जित शुभ–अशुभ कर्म भी नष्ट हो जाते है। यही निर्जरा है और यही मोक्ष का कारण है।[4]

यह शरीर ही संसार है, अन्य कुछ संसार नही है। अज्ञान के कारण ही शरीर धारण कर जीव ससार में भ्रमण कर रहा है। किन्तु, जिस आधार के कारण यह स्थित है वह आत्मा इससे भिन्न है—

स सरीरु वि तइलोउ मुणि, अण्णु ण वीयउ कोइ।
जहिं आधार परिट्ठियउ, सो तुहुं अप्पा जोइ॥[5]

ससार मे स्त्री–पुत्र, धन–धान्य, राज्य आदि सभी सुख सुलभ हैं, केवल आत्मज्ञान ही दुर्लभ है—

सो दुल्लह लाहु वि मुणहि, जो परमप्पय लाहु।
अण्णु ण दुल्लह किं पि तुहु, णाणि बोल्लहिं साहु॥[6]

१- दोहाणुवेहा १५–१६
२– वही, १७, १८
३- वही, १९
४- वही, २०
५– वही, २२
६– वही, २३

यह आत्मा अखण्ड, अविनाशी, केवल ज्ञानमय और परमानन्द स्वभाव है। अत: मोक्ष प्राप्ति के लिए इस आत्मा के स्वरूप को जानकर इसी का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए—

को जोइव को जोइयइ, अण्णु ण दीसइ कोइ।
सो अखण्डु जिणु उत्तियउ, एम भणति हु जोइ॥
परमाणद परिट्ठियहिं, जो उपज्जइ कोइ।
सो अप्पा जाणेवि तुहु, एम भणति हु जोइ॥[1]

यह आत्मा अन्यत्र कहीं नही है अपितु शरीर रूपी देवालय मे ही निवास करता है किन्तु, मूर्ख व्यक्ति इसे जान नही पाते और इसे ढूंढने के लिए देवालय तथा तीर्थ क्षेत्रों में भटकते फिरते हैं—

हत्थ अहुट्ट जु देवलि, तहि सिव सतु मुणेइ।
मूढा देवलि देव णवि, भुल्लउ काइ भमेइ॥[2]

जो रागद्वेष आदि से मुक्त होकर शुद्ध मन–वचन और काय से आत्मा का ध्यान करते हैं उन्हे निश्चय ही सिद्धि प्राप्त होती है और वे सहजावस्था को प्राप्त कर लेते है—

पुणु–पुणु अप्पा झाइवइ, मणवय कायतिसुद्धि।
राग रोम वे परिहरिवि, जइ चाहहि सिव सिद्धि॥
राग रोस जो परिहरिवि, अप्पा अप्पहि [illegible]इ।
जिण साभिउ एमउ भणइ, सहजि उपज्जइ सोइ॥[3]

कवि कहता है कि व्रत, तप, नियम आदि का पालन करने पर भी जिसे आत्मस्वरूप का ज्ञान नही है वह मिथ्यादृष्टि है और उसे कभी निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती। निर्वाण की प्राप्ति तो उसे ही हो सकती है जो व्रत, तप, सयम आदि के द्वारा कर्मों का क्षय करके आत्मस्वरूप का ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है—

वउ तउ णियमु करंतयह, जो ण मुणइ अप्पाणु।
सो मिच्छादिट्ठी हवइ, णहु पावहि णिव्वाणु॥
जो अप्पा णिम्मलु मुणइ, वय तव सील समाणु।
सोकम्मक्खउ फुडु करइ, पावइ लहु णिव्वाणु॥[4]

आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर निरन्तर उसका ध्यान करते रहना चाहिए। आत्मध्यान तथा समाधि के द्वारा सहज ही आत्मानुभूति का रसास्वादन होने लगता है—

१– दोहाणुवेहा, २७, २६
२– वही, ३८
३– वही, २४ तथा २५
४– वही, ४५ तथा ४६

सोहं सोहं जि इइ, पुणु पुणु अप्पु मुणेइ ।
मोक्खहं कारणि जोइया, अप्पुम सो चितेइ ।।
धम्मु मुणिज्जहि इक्कुपर, जइ चेयण परिणामु ।
अप्पा अप्पउ झाइयइ, सो सासय सुहु धाम ।।[1]

समीक्षा—प्रस्तुत दोहाणुवेहा मे साधनात्मक वर्णन होने के कारण रहस्य-वादी तत्त्व भी समाविष्ट हैं । कवि ने अध्यात्वभावना का विश्लेषण करते हुए आत्मा का अस्तित्व अद्वैतवादी शैली मे निरूपित किया है । यद्यपि कवि का यह वर्णन अनेकान्तात्मक दृष्टि से किया गया है तो भी अद्वैत की गन्ध प्राप्त होती है । बताया है कि जिस प्रकार काष्ठ के प्रज्वलित करने पर अग्नि प्रकट हो जाती है उसी प्रकार कर्मों के प्रज्वलित होने पर आत्मा प्रकट होता है । आत्मा का अस्तित्व काष्ठ में अग्नि के अस्तित्व के समान सर्वत्र उपलब्ध होता है, जिसने जड़ चेतन के भेद को सम्यक् तथा अनुभव कर लिया है वही आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है । कवि का कथन है कि आत्मा साढे तीन हाथ के शरीर मे शिवरूप मे विराजमान है, जो मुर्ख व्यक्ति देवालयो मे देव का अन्वेषण करता है वह इस आत्मतत्त्व को नही पा सकता है, आत्म प्राप्ति का एकमात्र उपाय ध्यान है । 'सोह सोह' का ध्यान करने से आत्मा प्राप्त हो जाता है । आशय यह है कि जिस प्रकार दुग्ध मे घृत रहता है, काष्ठ मे अग्नि रहती है, उसी प्रकार परमात्मा का निवास शरीर मे है । परमात्मारूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि से रहित है । इसकी प्राप्ति का कारण ध्यान है ।

जब तक परभाव का त्याग नही किया जाता है तब तक सहजानन्द की प्राप्ति नही हो सकती । राग, द्वेष, मोह आत्मोपलब्धि मे अत्यन्त बाधक है, क्योकि इन्ही से आत्मा का स्वभाव विकृत हुआ है । जो आत्मा के निज स्वरूप को पहि-चानना चाहता है उसे काम क्रोधादि कषायो का त्याग करना चाहिए । सक्षेप मे कवि ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन किया है ।

२.७. हेमचन्द्र और उनकी रहस्यवादी रचनाएँ

आचार्य हेमचन्द्र सस्कृत प्राकृत और अपभ्रश के गण्यमान विद्वान् हैं । व्याकरण, अलकारशास्त्र, दर्शन एव काव्य आदि सभी विधाओ पर इनका समान आधिपत्य है । बहुज्ञता के कारण ये कलिकालसर्वज्ञ कहे जाते थे । द्व्याश्रय काव्य के रचयिता के रूप मे हेमचन्द्र की ख्याति आज भी विद्यमान् है । इनका जन्म वि० सं० ११४५ कार्तिकी पूर्णिमा को गुजरात के अन्तर्गत धन्धुका नामक गाँव मे हुआ था । यह गाँव वर्तमान मे माधर नदी के दाहिने तट पर अहमदाबाद से उत्तर पश्चिम मे ६२ मील की दूरी पर स्थित है । इनके पिता शैव धर्मानुयायी मोढ कुल के वणिक् थे । इनका नाम चाचदेव या चाचिकदेव था । चाचिकदेव की पत्नी का नाम पाहिनी था । एक रात को पाहिनी ने सुन्दर स्वप्न देखा । उस समय वहाँ चन्द्रगच्छ के

१- दोहाणुवेहा, ३५ तथा ३६

आचार्य देवचन्द्र सूरि पधारे हुए थे। पाहिनी ने उनसे अपने स्वप्न का फल पूछा। आचार्य देवचन्द सूरि ने उत्तर दिया—'तुम्हें एक अलौकिक प्रतिभाशाली पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। यह पुत्र ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त होगा तथा साहित्य एव समाज सेवा में संलग्न होगा।[1] स्वप्न के इस फल को सुनकर पाहिनी बहुत प्रसन्न हुई। समय पर पुत्र का जन्म हुआ। इनकी कुलदेवी 'चामुण्डा' और कुलयक्ष 'गोनस' थे। अतः माता पिता ने देवता के प्रीत्यर्थ उक्त दोनों देवताओं के आद्यक्षर लेकर बालक का नाम चाङ्गदेव रखा। यह चाङ्गदेव ही आगे चलकर हेमचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। कहा जाता है कि आठ वर्ष की अवस्था में इनकी दीक्षा सम्पन्न हुई थी और दीक्षा का नाम सोमचन्द्र था। २१ वर्ष की अवस्था में इनको 'सूरि' पद मिला और इनका नाम सोमचन्द्र से हेमचन्द्र हो गया। हेमचन्द्र के पाण्डित्य से महापराक्रमी गुर्जरेश्वर सिद्धराज बहुत प्रभावित थे और सिद्धराज के आदेश से ही इन्होंने सिद्ध हेमवत व्याकरण लिखा। अष्टाध्यायी के अनुकरण पर इस ग्रन्थ मे भी आठ अध्याय हैं। सात अध्याय मे सम्कृत भाषा का अनुशासन लिखा गया है और आठवें अध्याय मे प्राकृत एव अपभ्रंश भाषा का। आचार्य हेमचन्द्र का चरितकाव्य मे 'त्रिषष्ठि शालाका पुरुष' अलकार में काव्यानुशासन, छन्द में छन्दोनुशासन, न्याय में प्रमाण–मीमासा, कोष ग्रन्थो मे अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसग्रह, निघण्टु और देशीय नाममाला है। योग विषय पर योगशास्त्र एवं स्तोत्रों में द्वित्रिंशिकाएँ उपलब्ध हैं।

हेमचन्द्र का रहस्यवाद—आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन के ८वे अध्याय के चतुर्थ पद में अपभ्रंश भाषा का अनुशासन लिखते हुए प्राचीन दोहे उद्धृत किये है। इन दोहो मे कुछ दोहे इनके संभव हैं और कुछ पुरातन आचार्यों के। इनके दोहों मे रहस्यवादी सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। इनका यह रहस्यवाद प्रेममूलक है। इनके कुछ दोहो में प्रेयसी और प्रेमियो के चित्र अंकित हैं जिन्हें आत्मा और पर–मात्मा के वियोग और मिलन के चित्रणों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। नायिका अपनी सखी से सयोग का चित्रण करती हुई कहती है कि रात्रि योही समाप्त हो गयी और मैं अपने प्रिय से मिल भी न पायी। यहाँ यह रहस्यवादी सकेत प्राप्त होता है कि आत्मा परमात्मा रूप को प्राप्त करने के लिए प्रयास करता रहा, पर उसका यह प्रयास सफल न हुआ। यहाँ रात्रि जन्म का प्रतीक है। 'अङ्गहि अङ्गन मिलियउ' के द्वारा आत्मा के शुद्धत्व की ओर सकेत किया है।[2]

हेमचन्द्र ने चातक प्रतीक का प्रयोग ऐसे आत्मा के लिए किया है, जो सिद्ध–पद की प्राप्ति के लिए उत्सुक है, अपनी साधना में सलग्न हैं और उसे यह आशा है

१– विशेष जानने के लिए देखिए, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, सन् १९६६, पृ० २८१।

२– अङ्गहि अङ्गन मिलियउ हलि अहरे अहरु न पत्तु।
पिय जो अन्तिहे मुहकमलु एम्बइ सुरइ समत्तु॥
—हेमचन्द्र शब्दानुशासन, अष्ठम अध्याय, चतुर्थपाद, सूत्र ३३, दोहा २

कि उसे किसी क्षण शुद्ध परमात्मपद की प्राप्ति होगी। आशान्वित साधना संलग्न आत्मा को गुरु सम्बोधित करता है कि निश्चित मार्ग का अवलम्बन करने पर उस प्रिय की प्राप्ति दुष्कर नहीं है। यद्यपि दोहे ऊपर से प्रेममूलक प्रतीत होते हैं पर अन्तः प्रविष्ट करने पर उनमे रहस्यवादी अवधारणाएँ प्राप्त हो जाती हैं।[1]

रहस्यवादी धरातल पर प्रतिष्ठित होकर ही हेमचन्द्र ने बाह्याडम्बर का निरसन भी किया है। उन्होंने बताया है कि जो साधु पद धारण करके भी मन की कल्पनाओं में लीन रहते हैं, अक्षय, अचल और ध्रुव निर्वाणपद में स्थिर नहीं होते, ऐसे साधक परमपद को प्राप्त नहीं कर सकते। परमपद की प्राप्ति उन्हीं को होती है जिन्होने आसक्ति और ममता का त्याग कर आत्मानुभूति प्राप्त कर ली है। जो वाराणसी और उज्जैनी जैसे तीर्थों में विश्वास करते हैं, गंगाजल में पवित्रता समझते हैं, वे भ्रान्त है। इन बाह्य साधनाओं से निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। निर्वाण की प्राप्ति के लिए अन्तरग शुद्धि और आत्मानुभूति आवश्यक है।[2]

हेमचन्द्र ने साधना–मार्ग का भी निर्देश किया है और योग एव तन्त्र के समान इडा, पिंगला एव सुषुम्ना की चर्चा की है। बताया है कि विषयो के अधीन हुए मनुष्य का मन वायु के समान इधर–उधर दौड़ता रहता है पर, जब यह मन इडा–पिंगला अर्थात् शुभ भाव में सलग्न हो जाता है तो क्रमशः शुद्धोपयोग की ओर बढ़ता हुआ निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।[3] कवि ने बताया है कि क्रोध, मान, माया और लोभ का अन्त किये बिना आत्मा की शुद्धि नहीं हो सकती। गगा, यमुना और नर्मदा आदि नदियों में स्नान करने से मन की शुद्धि नहीं हो सकती। मन की शुद्धि के लिए इन्द्रियजय और कषायजय आवश्यक है।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी इडा–पिंगला को शुभोपयोग माना है। वे भी

१– बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास।
तुह जलि मह्नु पुणु वल्लहइ बिहुं वि न पूरिअ आस॥
बप्पीहा कइं बोल्लिएण निग्घिण वार इ वार।
सायरि भरि अइ विमल जलि, लहइ न एक्क इ धार।
—हेमचन्द्र शब्दानुशासन अष्टम अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र ३८३, दोहा १२

२– गम्पिणु वाराणसिहिं नर अह उज्जणिहिं गम्पि।
मुआ परावहिं परमपउ दिव्वन्तरइं म जम्पि॥
गङ्ग गमेप्पिणु जो मुअइ सो सिव तित्थ गमेघि।
कीलदि तिदसावास गउ सो जम लोउ जिणेप्पि॥
—वही, सूत्र ४४२, दोहा, १ २

३– विसयह परवस मच्छहु मूढ़ा।
बन्धुहु सहिहु वि घङ्घलि छूटा॥
दुहु समि सूरिहि मणु सचार हु।
बन्धुहुं सहिहं व वढ विणु सारहु॥
–कुमारपाल चरित, हेमचन्द्र भडारकर, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, अष्टम सर्ग-१८

४– कुमारपाल चरित, अष्टम सर्ग, दोहा ७७, ८०।

सुषुम्ना नाडी को निर्वाण मानते हैं। इस नाडी को छह भागों में विभक्त कर षट्चक्रो–मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा का भी निर्देश किया गया है। सातवें सहस्रारचक्र को केवल ज्ञाम बतलाया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ब्रह्मरन्ध्र मे ध्यानस्थिति को आवश्यक बतलाते हैं। इड़ा वाम नाड़ी है, पिंगला दक्षिणा नाडी है और सुषुम्ना मध्या। ध्यान की स्थिति मध्यमा नाडी के द्वारा ही सम्भव होती है। यथा—

नाडिउ इडपिङ्गल पमुहाओ।
जाणेवाओपवणेण रुद्धा ॥
ताउ ण जाणइ जो सव्वाओ।
जोगिअ चरिअएँ चरइ सुभुद्धा ॥
गयण ढलन्त मुधारम निक्कहे।
अमिअ पिअन्तिहु जोगिअ पन्तिहु ॥
ससहरु बम्मि धरन्तिहु कत्थवि,
भउ नोप्पज्जइ जर मरणत्तिहु
वज्जइ वीण अदिट्ठिहि तन्तिहि।
उट्ठइ रणिउ हणन्तउ ठाणइँ
जहिवीसाम्बु लहइ त झायहु।
मुत्तिहे कारणि चूफल अन्नइँ ॥[1]

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने गूढ भावनाओ या रहस्यभावनाओ का अध्यात्म विद्या के रूप में अपने काव्य ग्रन्थो मे समावेश किया है। वे रहस्यमय या आत्मतत्त्व को मानते हैं और इसी की अनुभूति द्वारा निर्वाण या मोह प्राप्ति की सभावना प्रतिपादित करते हैं। उनका साधना मार्ग भी अन्य जैन रहस्यवादी कवियो के समान है।

२८. जिनदत्त सूरि तथा उनकी रचनाएँ

जैन सस्कृति और साहित्य के पुनरुत्थान की दृष्टि से जिनदत्त सूरि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होने अपने समय मे यति और साधुओं के बीच उपस्थित हुए शिथिलाचार को दूर करने के लिए अपूर्व श्रम किया। ये सस्कृत, प्राकृत और अपभ्र श इन तीनो भाषाओ के विशेषज्ञ विद्वान् थे।

परिचय तथा रचनाकाल—कवि जिनदत्त सूरि के शिष्य सुमति गणि नेगण-धर सार्द्धशतक[2] मे जिनदत्त सूरि का परिचय देते हुए लिखा है कि ये वि सं० ११३२ मे वाच्छिग नामक श्रावक की पत्नी बाहडदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वि० सं० ११४१ मे इन्होंने धर्मदेवोपाध्याय से दीक्षा ग्रहण की और जिनवल्लभसूरि के देहावसान

१- कुमारपालचरित, अष्टम सर्ग, दोहा २३, २४, २५।
२- गणधरसार्द्धशतक (गाथा ७८, १४८)

हो जाने पर वि० सं० ११६६ में देवभद्राचार्य से सूरि पद प्राप्त किया।

कवि जिनदत्त सूरि के शिष्य जिनरक्षित ने वि० स० ११७० मे पल्ह कवि रचित एक संस्तुति की प्रतिलिपि धारा नगरी में प्रस्तुत की थी। ब्रह्मानन्द गणि ने वि० सं० ११७१ में जयसिंह देव के राज्य में कवि पल्हप्रणीत स्तुति प्रस्तुत की थी।[1]

अपभ्रंशकाव्यत्रयी की भूमिका के लेखक ने लिखा है—

'पूर्वपरिचायितजिनवल्लभसूरेः पट्टप्रतिष्ठितेनानेन जिनदत्त सूरिणा निजपट्टधरपदवी जिनचन्द्रसूरये स्वयं व्यातारीत्यादीतिवृत्तोऽप्यु पलभ्यते।[2] यस्य विनेयेन जिनमत (? पति) यतिना वि० स० १२१५ वर्षे विलिखिता राक्षसकाव्य टीकाऽऽदिपुस्तिका जेसलमेरुदुर्गभाण्डागारे दृश्यते।[3]

जिनपति सूरि का समय वि० सं० १२२३ से १२७७ था। जैसा कि अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका मे लिखा है—

'वि० स० १२२३–७७ वर्षेणु सूरिपदे विद्यमानो जिनदत्त सूरि पट्टधर–जिनचन्द्रसूरिशिष्यो जिनपति सूरिः'।[4]

वि० स० १२८५ मे पूर्णभद्र गणि[5] ने कवि जिनदत्त की स्तुति करते हुए लिखा है—

'भास्वांस्ततः समुदगाज्जिनदत्तसूरि
भंव्यारविन्दचयबोधविधान दक्षः।
गावः स्फुरन्ति विधिमार्ग विकासनेक—
तानास्तमोविदलनप्रवणा यदीयाः॥'

वि० सं० १२९३ मे जिनपाल गणि ने निम्न प्रकार कवि की स्तुति की है[6]—

जिनदत्त इति श्रीमान् सुरिस्तद्पदभूषणः
जज्ञेस ज्ञानमाणिक्यरोहणो विधिपोपण.॥

खरतरगच्छपट्टवली मे कवि के स्वर्गवास का वर्णन भी निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

१– अपभ्रंशकाव्यत्रयी, सम्पादक लालचन्द भगवानदास गाधी ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, सन् १९२७ भूमिका, पृष्ठ ३७, ३८

२– पूज्यश्रीजिनवल्लभप्रभुपदाभ्यारोहरोहद्यशः।
सूरिश्री जिनदत्तदत्तपदवी राजिविनीभास्वतः।
शिष्यः श्री जिनचन्द्रसूरि सुगुरोविद्या सरस्वानति
व्यधवभ्वसर्वविधिव्यंधाज्जिनपतिः सूरिः प्रबोधोदयम्॥
—जिनपतिसूरिः (जे भा० सूची, पृ० ६०)

३– जैसलमेर भां० सूची (अप्रसिद्ध, पृ० ५९)

४– अपभ्रंशकाव्यत्रयी, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा, सन् १९२७, पृष्ठ ३८

५– धन्यशालिभद्रचरित्र (जे०सा० सूची, पृ० २)

६– द्वादशकुलकविवरणप्रान्ते

'अथैवंविधाः क्षत्रिय ब्राह्मणादिकुलीनलक्ष श्राद्ध प्रतिबोधका अंसक्रमोपरि कम्बलास्तरणादिप्रकारेण पञ्चनदीसाधका: सवेह दोहाकल्याणनेक ग्रन्थ विधायका: परकाय प्रवेशिन्यादि विविधविद्यासम्पना: परोपकारकारिण: परमयश: सौभाग्यधारिण: श्रीखातरगच्छनायका: महाप्रभावका: श्रीजिनदत्त सूरयः संवत् १२११ अषाढ़ सुदि एकादश्या अजमेरुनगरेऽनशन कृत्वा स्वर्गं गताः ।। ४८ ।।[1]

स्पष्ट है कि कवि जिनदत्त सूरि विद्या और तन्त्र, मन्त्र आदि के ज्ञाता थे। उन्होने वि० स० १२११ मे समाधिमरण द्वारा अजमेर मे प्राण-त्याग किया।

रचनाएँ—अब तक कवि की निम्नलिखित अपभ्रंश रचनाएँ उपलब्ध हो सकी हैं— १- उपदेशरसायनरास, २- चर्चरी, ३- कालस्वरूपकुलकम्।

इनमे से उपदेशरसायनरास तथा कालस्वरूपकुलकम् में रहस्यवादी तथ्य मिलते हैं। अतः इन्ही दोनो ग्रन्थो का यहाँ विवेचन किया जाएगा।

उपदेशरसायनरास—उपदेशरसायनरास मे ८० पद्य हैं। कवि ने इन पद्यों मे आत्मसाधना का निरूपण किया है। आरम्भ मे ही बताया है।[2] कि यह मनुष्य-जन्म बड़े सौभाग्योदय से प्राप्त हुआ है और राग-द्वेष तथा मोह ही भवभ्रमण का कारण है। जो आत्म-साधना करना चाहता है उसे सर्वप्रथम गुरु का अवलम्बन प्राप्त कर रागद्वेष तथा मोह से छुटकारा पाना चाहिए। गुरु वही हो सकता है जो वीतरागी है और जिसे समदृष्टि प्राप्त हो गयी है। वस्तुत मे गुरु ऐसा पोत है जो स्वय तो ससार-समुद्र से तरता ही है, दूसरो को भी तार देता है। अतएव ससार तरण के लिए कवि ने गुरु को सर्वप्रमुख साधन माना है—

गुरुपवहणु निप्पुण्णि न लब्भइ
　　तिणि पवहि जणु पडियउ कुब्भइ।
सा ससारसमुद्दि पइट्ठी
　　जहि सुक्खह वत्ता वि पणट्ठी ।।[3]
　　× 　　× 　　×
तहि गय जण कुग्गाहिहि खज्जहिं
　　मयरगरुयदाढग्गिहि भिज्जहि।
अप्पुण मुणहि न परु परियाणहिं।
　　सुखलच्छिं सुमिणे विन माणहि ।।[4]

कवि कहता है कि मन तथा इन्द्रियो की चचलता ही संसार-भ्रमण का कारण है, जो मन तथा इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता, उसे कभी मुक्ति नही

१- अपभ्रंशकाव्यत्रयी, लालचन्द भगवानदास गाधी, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा, भूमिका, पृष्ठ ६०

२- वही, उपदेशरसायनरास, पृ० ३० दोहा २

३- वही, दोहा ४८

४- उपदेशरसायनरास, दोहा ६

मिल सकती ।

तसु किवहोइ सुनिव्वउ संगमु,
अथिरु जि जिव किक्वाण तुरंगमु ।
कुप्पहि पड़इ न मग्गि विलग्गइ,
बायहु मरिउ जहिच्छइ वग्गइ ॥[1]

बाह्याडम्बरों का तिरस्कार करते हुए कवि कहता है कि भावशुद्धि के बिना बाह्यवेण धारण करने मात्र से छुटकारा नहीं मिल सकता ।[2]

चित्तशुद्धि के लिए देवशास्त्र गुरु की आराधना करनी चाहिए, धन को यथा-शक्ति धार्मिक कार्यों में लगाना चाहिए, भगवान् की स्तुति करनी चाहिए, महापुरुषों का जीवनचरित पढना-सुनना चाहिए, उन्हीं का अभिनय करना चाहिए ।[3] धर्मस्थान पर लौकिक कार्य नही करना चाहिए। जो शुद्ध मन से क्रोधादि कषायों से रहित हो भगवान् की भक्ति करता है, उसकी मनुष्य तो क्या देव, देवेन्द्र भी स्तुति करते हैं। आत्मशुद्धि के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने महान् गुणो की ओर भी ध्यान न देकर दोषों की ओर ध्यान दे तथा दूसरो के अल्प गुण का भी प्रकाशन करे ।[4]

कवि का मत है कि मिथ्यादर्शन के कारण ही जीव वस्तु के यथार्थस्वरूप को नही जान पाता और इसी कारण वह भवभ्रमण करता है, सम्यक्दर्शन होने पर ही वह मोक्ष सुख की प्राप्ति कर सकता है—

तिवदेसणरायध निरिक्खहि
ज न अत्थि त वत्थु विवक्खहि ।
ते विवरीयबिट्ठि सिखमुक्खइ
पावहिहि सुमिणि विकहपच्चक्खइ ॥[5]

चित्त की शुद्धि होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है। जो मन की मलिनता के कारण दूसरों के दोषो को ढूंढता है, व्यर्थ कलह करता है, अपनी असत्य बात को भी सत्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है, दूसरे की सत्य बात को भी असत्य सिद्ध करता है, विकृत वचन बोलता है, मद करता है, परस्त्री व परधन मे आसक्ति रखता है और अधिक परिग्रह का सचय करता है उसे कभी सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हो सकती ।[6]

कालस्वरूपकुलकम्—कालस्वरूपकुलकम् मे ३२ पद्य हैं। कवि ने आरम्भ मे ही दुःखपूर्ण ससार में मनुष्य जन्म की दुर्लभता और उसकी असफलता का कारण

१– उपदेशरसायनरास, दोहा १३
२– वही, १६
३– वही, ३५, ३६, ३७
४– वही, ३९, ४३, ४९
५– वही, ६०
६– उपदेश रसायनरास, ७२, ७३, ७४

बताया है । वह कहता है कि मनुष्य मोहरूपी नींद में सो रहा है, वह उठकर मोक्षमार्ग मे नही लगता, यदि सद्गुरु उसे जगाना चाहता है तो उसके वचन उसे अच्छे नही लगते—

मोहनिद् जणु सुत्तु न जग्गइ,
तिण उद्विवि सिवमग्गि न लग्गइ ।
जइ सुहत्थु कु वि गुरु जग्गावइ,
तु वि तव्वयणु तासु भवि भावइ ।।[1]

गुरु के वचनों पर विश्वास कर जो रागद्वेष तथा मोह का त्याग कर देता है, उसे ही सिद्ध सुख की प्राप्ति होती है—

परमत्थि ण ते सुत्त वि जग्गहि
सुगुरु वयणि जे उट्ठेवि लग्गहिं ।
रागद्वेष मोह वि जे गजहि
सिद्धिपुरन्धि ति नच्छइ भुंजहि ।।[2]

गुरु का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कवि कहता है कि जिस पर सद्गुरु की कृपा हो गयी और जिसके मन मे पंचपरमेष्ठी का वास है उसका यमराज भी कुछ नही बिगाड सकता है—

जो जणु सुहगुरु दिट्ठिहि दिट्ठउ
तसु किर काइ कारइ जमु रुट्ठउ ?
जसु परमेट्ठि मतु मणि निवसइ
सो दुहमज्झि कया विज पइसइ ।[3]

कवि ने कुगुरु-सुगुरु का अन्तर बताते हुए सद्गुरु की पहचान भी बतायी है । कुगुरु कष्ट का कारण है । अत: जो बुद्धिमान् सद्गुरु के स्वरूप को जानता है वही परमपद का अधिकारी है ।

कुगुरु सुगुरु सम दीसहि बाहिरि ।
यदि जो कुगुरु सु अनरु बाहिरि ।
जो तसु अतरु करइ वियक्खणु ।
सो परमप्पउ लहइ सलक्खणु ।।[4]

सच्चा गुरु लोभ से रहित होता है । लौहयुक्त पोत के समान लोभी गुरु भी शिष्य को ससार सागर के पार नही कर सकता, अपितु वह आपत्ति का ही कारण होता है । यथा—

लौहिउ जडिउ पोउ सु फुट्टइ

१- अपभ्रंशकाव्यत्रयी के अन्तर्गत, कालस्वरूपकुलकम् ५
२- कालस्वरूपकुलकम्, ६
३- कालस्वरूपकुलकम्, अपभ्रंश काव्यत्रयी के अन्तर्गत दोहा ३१
४- कालस्वरूप कुलकम्, दोहा ११

चुबुकु जहि पहाणु किव वहइ ।
नेय सुमुट्टह पारु सु पावइ
अंतरालि तसु आवय आवइ ।।[1]

सद्गुरु की प्राप्ति हो जाने पर जो उसके वचनों पर श्रद्धान कर उसका ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार आचरण करता है वह अवश्य ही शिव रमणी से से रमण करने लगता है, पुनः संसार मे लौटकर नही आता ।[2]

रागद्वेष और मोह ही संसार का कारण है । इनका त्याग किये बिना बाह्य वेष धारण करने तथा केशलुच करने पर मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती । सद्गुरु के वचनों पर श्रद्धान कर रागद्वेषादि आन्तरिक मल को ही दूर करने का प्रयास करना चाहिए ।

बहुय लोय लुचिय सिर दीसहिं
पर रागद्धोसहि मिहुँ विलसहिं ।
पढहि गुणाहि सत्थइ वक्खाणहि
परिपरमत्थु ग्तिथु सु न जाणहि ।[3]

समीक्षा—जिनदत्त सूरि के उक्त दोनो अपभ्रंश काव्यो मे रहस्यवादी तत्त्व समाहित हैं । कवि ने जोइन्दु, रामसिंह और महयदिण के समान ही गुरु का महत्त्व स्वीकार किया है । परमब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग गुरु द्वारा ही अवगत किया जा सकता है, इसी कारण जिनदत्त सूरि ने कुगुरु और सुगुरु का स्वरूप, गुण एव उपयोगिता वर्णित की है ।

साधना-मार्ग का विवेचन करते हुए संस्कारहीन व्यक्तियो की दुर्दशा पर पूर्ण प्रकाश डाला है विपथगामी साधु साध्वियों के आचार की भी समीक्षा की है, सम्यक्त्व प्राप्ति का एकमात्र उपाय अन्तरग और बहिरग शुद्धि है, जो अन्तरग काम, क्रोधादि कषायो का शमन कर बाह्याचार को भी पवित्र करता है, वही सुख को प्राप्त होता है ।

जिनदत्त सूरि की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होने धर्मोपदेश रसायन की रचना सरस शैली मे की है । इसी कारण इनके काव्यों में सरसता अधिक है । कवि बतलाता है कि नवयौवना वीरांगना नारी धर्माध्यवसाय से विचलित करती है, जो रागान्ध होकर उससे प्रेम करते हैं, वे गुरुपदिष्ट सुमार्ग को प्राप्त नही हो सकते ।[4]

स्पष्ट है कि कवि जिनदत्त सूरि ने शृंगारिक विभाव-अनुभावो का भी चित्रण इस उपदेश रसायन मे किया है । अतः उनके रहस्यवादी तत्त्वो मे सरसता

१— कालस्वरूप कुलकम्, दोहा २६
२— वही, ३२
३— वही, ७
४— उपदेशरसायन, ३३

पायी जाती है ।

चर्चरी एक प्रकार की लौकिक गाथा है, पर इसमें भी कवि ने बाह्याडम्बरों का निरमन निर्भीकतापूर्वक किया है । मटाधीशों, पाखण्डी साधुओं एवं प्रदर्शन के हेतु ग्रन्थो का अम्बर लगाने वाले साधुओं की भी भर्त्सना की है तथा चित्तशुद्धि को ही आत्मकल्याण के लिए उपादेय बताया है । निस्सन्देह जिनदत्त सूरि सरस कवि हैं ।

२.९. कवि हरदेव और उनकी रचना मयणपराजय चरिउ

कवि हरदेव ने बारहवी-तेरहवी शताब्दी के लगभग मयणपराजयचरिउ नामक काव्य की रचना की है । यह एक रूपक काव्य है । कवि ने इसमें प्रतीकात्मक शैली में विकारों को दूर करने का सकेत किया है । उन्होने लिखा है कि भाव नगर नामक पट्टन के राजा मकरध्वज अपने महामत्री मोह एव रति और प्रीति नामक पत्नियों सहित राजसभा मे उपस्थित थे । इस राज्यसभा में शल्य, अहकार, मिथ्यात्व आदि सैनिक भी उपस्थित थे । काम ने गर्व के साथ प्रश्न किया । क्या त्रैलोक्य मे ऐसा कोई है जिसे मैंने अपने वशवर्ती न बनाया हो ? इस पर रति और प्रीति मुस्कराकर एक दूसरे को देखने लगीं । काम ने अहंकारवश कहा—क्या त्रिभुवन मे ऐसी कोई नारी है, जो मुझे न चाहती हो । रति ने उत्तर दिया–'अष्टम भूमि पर रहने वाली एक सिद्धि नामक रमणी है जो आपसे घृणा करती है । कामदेव ने रति से कहा कि तुम्हे सिद्धि रमणी को मुझसे मिलाने के लिए दूती का कार्य करना पडेगा । जब रति अपनी कार्यसिद्धि के लिए गयी तो उसे मार्ग में मोह मिल गया, मोह ने रति की बातों को सुनकर कहा कि चलो, मैं चलकर काम को समझाता हूँ, वह अभी सिद्धि रमणी के महत्त्व को समझा नही है, इसीलिए उसने ऐसा दुष्कर सकल्प किया है । रति तुम जब निर्वेद के मार्ग मे पड जाओगी तो तुम अपना अस्तित्व ही खो बैठोगी । मोह ने काम को एकान्त मे समझाया, पर उस पर उसका कोई प्रभाव नही पड़ा । वह सोचने लगा कि सिद्धि रमणी का विवाह जिनेन्द्र के साथ हो यह कैसे हो सकता है ? मैं अपनी शक्ति से जिनेन्द्र को ही समाप्त कर दूंगा और स्वय सिद्धि रमणी के साथ विवाह कर लूंगा । कामदेव ने राग और रोष को दूत बनाकर जिनेन्द्र के पास यह सन्देश देकर भेजा कि वह आकर मेरी सेवा करे या युद्ध के लिए तैयार हो जाए । दोनों दूत चारित्र पर पहुँचे सज्वलन ने उन्हें जिनेन्द्र के सम्मुख प्रस्तुत किया । दूतो ने जिनेन्द्र को समझाया कि वे काम की अधीनता स्वीकार करे । पर जिनेन्द्र ने स्पष्ट कहा–'मैंने कामसुखो का त्याग कर दिया है, मैं सिद्धि रमणी के साथ विवाह कर स्वाधीनता का सुखोपभोग करूँगा । कामदेव ने भले ही हरि, हर, ब्रह्मा आदि देवताओ पर विजय प्राप्त कर ली हो, पर मुझ पर उनका वश नही चल सकता है ।' दूत लौट आये । कामदेव ने युद्ध की तैयारी की । रणभेरी बज उठी, पांचो इन्द्रियाँ, आर्त रौद्रध्यान तीनोंशल्य, अठारह दोष, सात व्यसन, पुण्य-पाप, दर्शन, मोह, आश्रव आदि सभी

योद्धा रणभूमि की तैयारी करने लगे। कामदेव ने प्रधान सेनापति मोह को बनाया आयुकर्म, नामकर्म आदि को सहायक बनाया, वेश्याओं की पताकाएँ फहरा उठी, विकथा और मिथ्यादर्शन की भेरियाँ बज उठी, मिथ्यात्व ने घनघोर गर्जना की। कामदेव की समस्त सेना युद्ध भूमि में उपस्थित हो गयी। इधर जिननाथ ने संवेग को रणभेरी बजाने का आदेश दिया, पंच समितियाँ, पंच महाव्रत, दशधर्म, सप्ततत्त्व द्वादश तप, पंचाचार, धर्म ध्यान, शुक्लध्यान, निर्वेद एवं उपशम आदि योद्धा एकत्र हुए। मम्यक्त्व सेनापति बना, लब्धियों क ध्वजाएँ फहराने लगी और स्याद्वाद की भेरी बज उठी। क्षायिक दर्शन हाथी पर सवार हुआ, उसने अनुप्रेक्षा का कवच पहना, समाधि की गदा धारण की और समरभूमि में ललकारा—कहाँ है स्मर? दोनों और के योद्धा युद्ध करने लगे। क्रमश: काम, क्रोध, लोभ, मोह जर्जरित होने लगे। मकरध्वज की शक्ति क्षीण हो गयी। इस अवसर पर रति ने मकरध्वज को पुन: समझाया कि आप युद्ध भूमि छोडकर वापिस लौटिए। जिनेन्द्र के साथ युद्ध करना आपके लिए सभव नही। पर, मूढ मकरध्वज ने रति की बात न सुनी। उसने अपनी पूरी शक्ति लगायी। सम्यक् दर्शन ने युद्धभूमि मे बाणवर्षा आरम्भ की, मिथ्यात्व धराशायी हो गया, नरक गति रुदन करने लगी, महाव्रतों ने इन्द्रियो को जीत लिया। एक-एक कामदेव के योद्धा युद्ध भूमि मे पडने लगे। जिस कामदेव ने अपने को अजेय समझा था वह भी अब गलित होने लगा। उपवास और शुक्लध्यान के समक्ष उसकी एक न चली और वह भी युद्ध मे काम आया। इधर जिनेन्द्र ने सिद्धि-रमा से विवाह कर लिया।[1]

इस प्रकार कवि हरदेव ने इस रूपक काव्य मे प्रतीको द्वारा साधनामार्ग का निर्देश किया है। साधक व्रत, आचरण और ध्यान के द्वारा अपने विकारो को किस प्रकार दूर करता जाता है, यह रूपको द्वारा बतलाया गया है। निस्सन्देह इस काव्य में रूपको द्वारा रहस्यवादी शैली मे आत्मसाधना का वर्णन किया गया है।

२.१०. कवि रइधू और उनकी रचनाएँ

महाकवि रइधू ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनो विधाओ मे काव्य रचना की है। इन्होने अपनी रचनाओं मे जैन संस्कृति और अध्यात्म का अत्यन्त रोचक एव सरस विवेचन किया है।

काल निर्णय—भारतीय परम्परा के अनुसार रइधू ने भी अपने जन्मकाल तथा रचनाकाल के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का सकेत अपनी रचनाओ मे नही किया है। अत: रइधू साहित्य के जीवन-क्रम का अनुमान हम निम्नलिखित अन्तर्बाह्य साक्ष्य के द्वारा ही कर सकते हैं—

१. रइधूकृत प्रशस्ति साहित्य

१— मयणपराजय चरिउ, ले० हरदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम सस्करण, सन् १९६२

२. मूर्तिप्रतिष्ठा लेख

३. परवर्ती कवियो द्वारा उल्लेख

४. अन्य सामग्री

(क) महाकवि रइधू ने अपने 'सम्मतगुणणिहाण काव्य में रचना का समाप्ति काल वि० स० १६४२ दिया है ।[1] इसमे कवि ने अपनी अन्य किसी रचना का उल्लेख नही किया है ।

(ख) एक अन्य रचना सुकोसलचरिउ में कवि ने उसका सामाप्तिकाल वि० स० १६४६[2] दिया है । इस रचना में कवि ने णेमिणाह चरिउ पासणाह चरिउ एव बलहद्दचरिउ नामक अपनी तीन पूर्ववर्ती रचनाओ का उल्लेख किया है ।[3]

(ग) णेमिणाहचरिउ में कवि ने अपनी पूर्ववर्ती 'तेसट्ठि महापुरिसचरिउ आदि आठ विशाल रचनाओं का उल्लेख किया है । इन रचनाओं के पूर्व भी कवि कई रचनाएँ लिख चुका था जिनमे कई रचनाएँ परिमाण मे विशाल हैं और जिनके लिखने मे कवि को कई वर्ष लगे होगे ।

(घ) महाकवि रइधू ने धण्णकुमारचरिउ की प्रशस्ति में महाकवि भट्टरक गुण कीर्ति को अपना गुरु माना है तथा उन्ही के आदेश से उक्त ग्रन्थ की रचना की थी ।[4] भट्टारक गुणकीर्ति का समय वि०सं० १४६८-१४७३ है ।[5]

(च) रइधू साहित्य मे तोमरवशी राजा गणेश के पुत्र डूगरसिंह एवं उसके पुत्र राजा कीर्तिसिह[6] का उल्लेख है । इन राजाओ का राज्यकाल वि० स० १४७६-१५३६ है । अत: रइधू का रचनाकाल भी इसके मध्य का होना चाहिए ।

(छ) महाकवि रइधू कृत पासणाह चरिउ की हस्तलिखित प्रतिलिपि वि० स० १५४६ की चैत्र शुक्ल ११ शुक्रवार को लिखी हुई प्राप्त हुई है, जो हिसार के महावीर चैत्यालय मे सुलतान शाह सिकन्दर के राज्यकाल मे लिखी गयी थी । ऐसा प्रतीत होता है कि वह मूल रचना के कुछ काल बाद ही लिखी गयी होगी ।[7]

(ज) कवि की रचनाओ मे राजा कीर्तिसिह (वि०स० १५१०-१५३६) के बाद की कोई घटना नही मिलती ।

(झ) ग्वालियर दुर्ग स्थित विशाल ५८ फीट ऊँची आदिनाथ भगवान् की मूर्ति के लेख में महाकवि रइधू का उल्लेख प्राप्त होता है । यह मूर्ति लेख वि०स०

१– चउदहसयवाणउ उत्तराल् । वरिसयगय विक्कमरायकालि
—सम्मत्तगुणनिहाणकव्व

२– सुकोमलचरिउ ४।२३/१–३

३– सुकोमल चरिउ १।३।५-७

४– धण्णकुमारचरिउ १।१।१, १।२।१-१०, १।३।१

५– भट्टारक सम्प्रदाय, पृष्ठ २४६

६– पासणाह १।४।५

७– अनेकान्त ५।४०२

१४९७ है।[1]

(ब) परवर्ती कवि महीन्दुकृत एक अपभ्रंश रचना संतिणाहचरिउ मे पूर्ववर्ती कवियों की सूची में रइधू का नामोल्लेख हुआ है। उक्त रचना का समय वि०सं० १५८७ है।[2]

उक्त सामग्री के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१. रइधू साहित्य में भट्टारक गुणकीर्ति से पूर्व की किसी देखी हुई घटना का उल्लेख नही मिलता। अतः यही कवि की रचना का प्रारम्भिक काल था। धण्णकुमार चरिउ की प्रशस्ति मे कवि ने भट्टारक गुणकीर्ति को अपना गुरु माना है। भट्टारक गुणकीर्ति का समय वि० स० १४६८-१४७३ है। धण्णकुमारचरिउ मे उल्लिखित पासणाहचरिउ नामक रचना कवि की प्रारम्भिक रचना है। अत. महाकवि रइधू के रचनाकाल की पूर्वावधि वि० स० १४६८ मानी जा सकती है।

२. कवि महीन्दुकृत सान्तिणाहचरिउ मे रइधू का स्मरण पूर्ववर्ती साहित्यकारों के रूप मे किया गया है। उक्त रचना का समय वि० स० १५८७ है।[3] इससे प्रतीत होता है कि कवि उस समय तक भौतिक शरीर का त्याग कर चुका होगा।

३. कवि ने भट्टारक कमलकीर्ति के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र तथा राजा कीर्ति सिंह के काल की घटनाओं के बाद अन्य किसी भी राजा या भट्टारक अथवा अन्य किसी भी घटना का उल्लेख नही किया। इससे ज्ञात होता है कि शुभचन्द्र एव राजा कीर्ति सिंह का समय (१५१०–१५३६) ही इनके साहित्य अथवा रचना का अंतिम काल रहा होगा। अतः स्पष्ट है कि इनका रचनाकाल १५ वी शताब्दी है।

परिचय—रइधू के साहित्य से यह भी स्पष्ट विदित नही होता कि वे एक गृहस्थ थे अथवा मुनि। किन्तु, उनके सम्मत्तगुण जिहाणकव्व (१।१४।८ सम्मइ जि०/चरिउ पुण्णासवकहा (१।६।८) की प्रशस्तियो मे संघपति कमलसिंह, खेमसिंह, नेमदास आदि ने कवि के लिए रचना करने के हेतु प्रार्थना करते समय मित्र, बालमित्र जैसे विशेषणो का प्रयोग किया है। इससे ध्वनित होता है कि वे मुनि नही एक सद्गृहस्थ थे।

कवि रइधू साहू हरिसिंह के पुत्र एव संघपति देवराज के पौत्र थे।[4] इनकी मां का नाम विजय श्री[5] तथा पत्नी का नाम सावित्री[6] था। इनके दो बड़े भाई थे—

१– संवत् १४८७ वर्ष वैशाख ७ शुक्ल पुनर्वसुनक्षत्रे श्रीगोपालदुर्गे महाराजाधिराज राजा श्री डुंग डूंगरसिंह राज्य।

२- अनेकान्त ५।२५२

३– वही, ५।२५३

४- सुकोशल १।३।६

५– सम्मत्त ६।१४ घत्ता

६- मेहेसरचरिउ ३।१२।२, पुण्यासव ३।१३।७

बाहोल एव माहण ।[1] ये पद्मावती[2] पुरवाल जाति के थे । रइधू ने अपने आम्नाय का उल्लेख स्वत: कही नही किया है । किन्तु उन्होंने भट्टारक गुणकीर्ति[3] यश:कीर्ति[4] श्रीपाल[5], ब्रह्म, कमलकीर्ति[6] और कुमारसेन[7] को अपना गुरु बनाया है और वे सभी काष्ठासघ माथुरगच्छ की पुष्करगणीय शाखा के थे । अत: रइधू को भी उक्त सम्प्रदाय का माना जा सकता है ।

निवास स्थान— लोग इनका निवास स्थान पद्मावती मानते हैं किन्तु ग्वालियर नगर का जैसा भव्य वर्णन इन्होने किया है उससे प्रतीत होता है कि कवि का निवास स्थान ग्वालियर नगर था ।

रचनाएँ—समस्त श्रोतों के आधार पर अभी तक कवि की निम्नलिखित रचनाओ की सूची प्राप्त हो सकी है—

(१) मेहेसरचरिउ (२) णेमिणाहचरिउ (३) पासणाहचरिउ (४) सम्मइ जिणचरिउ (५) तिसट्ठिमहापुरुषचरिउ (६) महापुराण (७) जिणचरिउ (८) तम-हरचरिउ (९) सुकोसलचरिउ (१०) जीवधर बलहद्दचरिउ (११) सुदंसणचरिउ (१२) धण्णकुमारचरिउ (१३) सावयचरिउ (१४) करकडुचरिउ (१५) पज्जुण्ण-चरिउ (१६) भविसयत्तचरिउ (१७) सिरिवालचरिउ (१८) जिणधरचरिउ (१९) कोमुइकहपचरिउ (२०) सम्मतगुणनिहाणकव्व (२१) पुण्यासवकहा (२२) सिद्धान्तात्थसार (२३) वित्तसार (२४) सम्यग्गुणारोहण (२५) सम्मत्तभावणा (२६) उपदेशरत्नमाला (२७) षड्धर्मोपदेशमाला (२८) रत्नत्रयी (२९) दशलक्षण-जयमाला (३०) षोडशकारण जयमाला (३१) अप्पसंवोहकव्व (३२) सबोधपचासिका (३३) बृहद्सिद्धिचक्र पूजा (सस्कृत) (३४) बारह भावना (हिन्दी) ।

उक्त रचनाओ मे अधिकाश चरितकाव्य हैं । वित्तसार और सिद्धान्तात्थसार मे कवि ने अध्यात्मसाधना के मार्ग का निरूपण किया है किन्तु वह साधना मार्ग रहस्यवादी नही है । केवल अप्पसवोहकव्व ही कवि की रहस्यवादी रचना है । अत: प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में उसी का सक्षिप्त विवेचन किया जाएगा ।

अप्पसंवोहकव्व—अप्पसवोहकव्व प्रबन्ध पद्धति पर लिखा हुआ एक आध्या-त्मिक काव्य है । इसकी हस्तलिखित प्रति श्री डा० राजाराम जैन आरा से प्राप्त हुई है । इसे देखने से प्रतीत होता है कि कवि का अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत आचार एवं अध्यात्म सम्बन्धी समग्र साहित्य का विस्तृत अध्ययन था । कवि ने प्रवचनसार, परमात्मप्रकाश तथा आत्मानुशासन आदि के समान ही प्रस्तुत काव्य मे

१- जसहर ४।८।१६, बलहद्द १।४।७, जीवधर १।३।१, १०।२८।१२

२- जसहर ४।१८।१६, बलहद्द १।४।७, जीवंधर १।३।१, सम्मइ १०।२८।१२

३- धण्णकुमारचरिउ १।१।१०

४- मेहेसरचरिउ

५- बलहद्दचरिउ

६- णेमिणाहचरिउ

७- सुकोसलचरिउ

आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न माना है। वे कहते हैं—"मैं दूसरी वस्तुओं का नहीं हूँ और दूसरी वस्तुएँ भी मेरी नहीं हैं। इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा निश्चय जितेन्द्रिय आत्मस्वरूप के ज्ञाता व्यक्ति को करना चाहिए क्योंकि परद्रव्य निश्चय ही अपने नहीं हो सकते—

णवि का सु वि हउ णवि कोइ मज्झु अप्पेण णिहिल एक्कलु बुज्झु ।
तिं कारणु महु दुज्जुणु ण कोवि, दव्वत्थें बंधक सयल लोइ ।।
—अप्पसबोहकव्व १।२।६–७

शुद्ध आत्मा रागद्वेष, मोह आदि विकारों से रहित, निर्मल, निष्कलक है, विकारग्रस्त होने पर ही यह परपदार्थों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। कवि का कहना है कि आत्मानुभूति के बिना ही यह जीव चारों गतियों मे भ्रमण कर कर्मजन्य कष्टों को सह रहा है। जब तक जीव तत्त्वों का श्रद्धान और आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त नही कर लेता उसका सासारिक संताप दूर नही हो सकता—

जिणधम्मलहेविणु तच्च गहेविणु जइ छडे महि जीव तुहु ।
चउगइहि भमतउ चिरसुरन्तउ, तापविहि महत दुहु ।।
—अप्पसंबोहकव्व १।२।११–१२

ते कारणि अप्पउ वज्जरम्मि(१)अप्पाणउ अप्पेउं धरमि ।
सुणि जीव भवतइ दुक्खवणे, जइतीरमि तुहु समार वणे ।।
तुहु करमि जिण सासणु सगहणु । जीवाइ पयत्थह सद्दहणु ।।
—अप्पसवोहकव्व १।३।३–५

कवि ने आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह आत्मा कर्मकलक से रहित है, अजर है, अमर है, चारों गतियो के दु.खों से मुक्त है, शुभ–अशुभ आदि भी आत्मा के भाव–धर्म नही है, यह आत्मा तो अपने सहज स्वभाव मे लीन है—

चउगइ गमणागमणचुक्कु कम्मट्ठणिविडबंधणविमुक्कु ।
णव भाव जोणि उप्पत्तिहूणि, परमप्पयसुद्धसहावलीणु ।।
परिसेसियपचसरीरुभारु, पाविय संसार समुद्दपारु ।
आवरणहीणु गयवेयणीउ, आवस विमुक्कु हयमोहणीउ ।
चुवणाम गोत्तु विगयतराउ, परिगलिय सुहासुह पुण्णपाउ ।।
—अप्पसवोहकव्व, १।१।४–८

देव, शास्त्र और गुरु की उपासना आत्मोत्थान मे साधक है। रागद्वेष तथा मोहादि से रहित वीतरागी प्रभु के सान्निध्य से आत्मा को सहज ही शुद्ध ज्ञानदर्शनमय बनाया जा सकता है। सद्गुरु ही विकारग्रस्त जीव को शुद्ध आत्मा की अनुभूति करा सकता है।[1] स्याद्वाद रूप जैन वाङ्मय आत्मा, जगत् एवं उसके विभिन्न सम्बन्धों का निर्देश कर मोक्षमार्ग को प्रकाशित करना है। अत: कवि ने देवशास्त्र और गुरु

१– अप्पसबोहकव्व १।५।१–६

की भक्ति द्वारा आत्मोत्थान के लिए अपने को सम्बोधित किया है।[1]

कवि ने आत्मोत्थान के लिए अहिंसा तथा सत्य को आवश्यक माना है—

सब्वहं हिउ बोलिज्जइ, पिउ ज जण सयण सुहावणओ।
विपिउ करि अक्खरु कक्कसु, णिहठुर बोलिज्जइ ण भयावणओ।
—अप्पसंबोहकव्व १।१३।११–१२

कवि का विश्वास है कि आत्मा का उत्थान इन्द्रिय-निग्रह और त्याग से ही हो सकता है। इन्द्रियासक्ति के कारण ही जीव सदा दुःखी और अशान्त रहता है किन्तु, इन्द्रिय सुख पराधीन है, बाधासहित है विनाशीक है और पापबन्ध का कारण है, अत वह त्याज्य है। कवि ने इन्द्रिय नियन्त्रण के लिए ब्रह्मचर्य तथा परस्त्री त्याग को भी आवश्यक माना है।[2] कामिनी और कंचन ये ही दो पदार्थ आसक्ति के प्रमुख कारण है। जो इन दोनों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वही आत्मसिद्धि प्राप्त करता है। कवि का अभिमत है कि शृगार करना, अजन अजना, गरिष्ठ पदार्थों का सेवन करना, अभक्ष्य भक्षण करना एव इन्द्रियो को उत्तेजित करनेवाले पदार्थ का सेवन करना ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। ब्रह्मचारी को सदा ध्यान रखना चाहिए कि कही उसे इन्द्रियाँ कुमार्ग पर तो नहीं ले जा रही हैं।

कवि ने परिग्रह परिमाण को भी आत्मोत्थान के लिए आवश्यक माना है। वे कहते हैं—परिग्रह ही समस्त आरम्भ का कारण है—

परिगहविढ्ढिए आरभमरु। तेण जि उप्पज्जइ कम्मगुरु।
कम्मे ससार जीउभमइ। ससार भमणे दुक्खइ रमइ॥
इय मुणिवि परिग्गहुदुह जण्णु। भव्वह छड्डणे असमत्थु पुण।
बहु तेण अणुव्वइ आचरइ, परिग्गहो जि देसि णियमु करइ।[3]

इसी प्रसग मे कवि ने लोभकषाय का भी विस्तार से वर्णन किया है। कवि कहता है कि मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर ही नाना प्रकार के पाप, अत्याचार और दुराचार करता है।[4] कवि ने परिग्रह के दोषों का उद्घाटन कर जिन दीक्षाधारी मुनियो के लिए महाव्रत का तथा गृहस्थो के लिए अणुव्रत का भी निर्देश किया है।[5]

२.११. अपभ्रंश के अन्य कवि

अपभ्रंश के अन्य कवियो मे देवसेन, वुच्चराय, पाहल तथा वीर आदि प्रमुख है। देवसेन ने सावयधम्मदोहा नामक गृहस्थाचार विषयक ग्रन्थ की रचना की है। वुच्चराय ने मयणजुज्झ चरिउ तथा पाहल ने मनकरहारास नामक प्रबन्धात्मक रचना

१– अप्पसबोहकव्व १।१७
२- वही, २।२।१–२
३– वही, ३।१।४–७
४- वही, ३।८।२-८
५- वही, ३।१०।११-१२

लिखी हैं। मनकरहारास में पाहल ने मन को उष्ट्र का रूप देकर मन की चचलता और वक्रता का सुन्दर चित्रण किया है। वीर कवि सम्भवत. जम्बू स्वामिचरिउ के रचयिता हैं। इनका लिखा हुआ एक काव्य आराधनासार है जिसमे आराधना या साधना सम्बन्धी विचार व्यक्त किये गये हैं।

२.१२. अपभ्रंश के जैन काव्यों में उपलब्ध रहस्यवादी तत्त्व

अपभ्रंश के उक्त रहस्यवादी काव्यों के अध्ययन से अनेक रहस्यवादी तत्त्व प्रस्फुटित होते हैं। संक्षेप में समस्त जैन अपभ्रंश साहित्य में निम्नलिखित रहस्यवादी तत्त्वो का प्रतिपादन हुआ है—

१. गुरु का महत्त्व और उसकी उपादेयता
२. सर्वोच्च सत्ता परमात्मा की प्रतीति
३. घट में ही उसकी स्थिति
४. बाह्यवेष और बाह्याडम्बर का निरसन
५. आत्म–जागरण
६. आत्मा के निर्गुण सगुण रूपो का विवेचन
७. विवेक और वैराग्य की आवश्यकता
८. संयम, शील, सदाचार आदि नैतिक नियमो की अपेक्षा
९. चित्तशुद्धि की अनिवार्यता
१०. सहज समाधि का महत्त्व
११. भेद विज्ञान का स्वरूप निरूपण
१२. कर्म और वैराग्य का समन्वय
१३. आत्मा–परमात्मा की ऐक्यानुभूति का विवेचन
१४ सामरस्य भाव की सर्वोत्कृष्टता
१५ प्रतीकों, रूपकों और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग

निष्कर्ष यह है कि कबीर के पूर्व अपभ्रंश के जैन कवियो ने अनेक रहस्यवादी रचनाओं का प्रणयन कर रहस्यवाद की भूमिका निर्मित कर दी थी। यद्यपि अपभ्रंश के कवियो का रहस्यवाद साधनामूलक है, प्रेममूलक नही किन्तु साधना के जितने मार्ग सम्भव हैं उन सभी का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है।

□

चतुर्थ अध्याय

४. अपभ्रंश के जैन कवियों की आध्यात्मिक विचारधारा और कबीर

१ अपभ्रंश के जैन कवियों का ब्रह्मविवेचन और कबीर

२. अपभ्रंश के जैन कवियों का आत्मविचार और कबीर

३. अपभ्रंश के जैन कवियों का जगत्‌विचार और कबीर

४. अपभ्रंश के जैन कवियों का कर्म-सिद्धान्त और कबीर

५. अपभ्रंश के जैन कवियों का मोक्ष विचार और कबीर

के आलोक में ही प्रतिपादित करना शक्य है। उनका उपास्य भी भक्त के उपास्य से भिन्न है। भक्त का उपास्य सगुण और साकार होता है, पर कबीर का उपास्य निर्गुण है, निर्गुण होने पर भी वह प्रेम करने योग्य और प्राप्य है। "हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया"[1] "हम घर आये हो राजा राम भरतार"[2] एवं 'सखि सोहाग राम मोहि दीन्हा'[3] आदि कथन अनेकान्त द्वारा ही सिद्ध हो सकते हैं। 'हम घर आये हो राजा राम भरतार' में कबीर ने सगुणवाद की ओर संकेत किया है। अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों ने 'अप्पा लद्धउ णाणमउ'[4] द्वारा उपास्य के स्वरूप को सगुण और निर्गुण रूप में व्यक्त किया है। कथन में अनेकान्त का आधार रहने से सगुण और निर्गुण दोनों की स्थिति एक ही काल में संभव हो सकती है। अनेकान्त स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से जिस वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करता है, पर द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा उसी का नास्तित्व भी स्वीकार करता है।

अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा निरूपित परमात्मा का स्वरूप अनेकान्त दृष्टि के कारण सगुण और निर्गुणात्मक है। जोइन्दु ने परमात्मा की साकारता और निराकारता का सुन्दर विवेचन किया है। वे परमात्मा को शरीर तथा कर्मरहित मानते हुए भी अर्हत या तीर्थंकरत्व की स्थिति में उसकी सफलता या सगुणता स्वीकार करते हैं। केवल ज्ञान में पड़ने वाले बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्बों के कारण भी परमात्मा के सगुणत्व को स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार दर्पण में पड़ने वाले मुख के प्रतिबिम्ब के कारण दर्पण को सगुण कहा जाता है, उसी प्रकार निर्मल, आकृतिविहीन केवल ज्ञान के ऊपर समस्त पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ने से अमूर्तिक ज्ञान भी सगुण अथवा साकार मान लिया जाता है। यद्यपि यह साकारता एकान्ततः यथार्थ नहीं है पर, इसे सर्वांशतः अयथार्थ भी नहीं माना जा सकता। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के समान ज्ञान और ज्ञेय की भी स्थिति है। इस प्रकार अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों ने उपास्य के स्वरूप में अनेक विरोधी गुणों का समावेश कर आत्मसाधना और जीवनसाधना को महत्त्व दिया है।[5] कबीर ने भी अपने उपास्य ब्रह्म को एक ही काल में सगुण अथवा निर्गुण के रूप में प्रतिपादित किया है। यों तो संस्कृत वाङ्मय तथा उपनिषदों में भी ब्रह्म या परमसत्ता की अमूर्तता, ज्ञानात्मकता एवं अनिर्वचनीयता वर्णित है जिससे परमात्मा के निर्गुण निराकार स्वरूप को कबीर ग्रहण कर सकते थे, श्रीमद्भागवत, पुराणसाहित्य एवं भक्तिसूत्र आदि ग्रन्थों से साकारता भी ग्रहण की गयी होगी। पर, एक ही काल

१– कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६, पद ११७
२– वही, पृष्ठ ७८, पद १
३– वही, पृष्ठ ७८, पद २
४– परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये रायचन्द्र ग्रन्थमाला, दोहा १५
५– गयणि अणंतिवि एक्कु उडु जेहउ भुअणु विहाइ।
मुक्कहं जसु पए बिंबियउ, सो परमप्पु अणाइ॥ —परमात्मप्रकाश, पृष्ठ ३६, दोहा ३८

४. अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों की आध्यात्मिक विचार-धारा और कबीर

अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण इस प्रबन्ध के तृतीय अध्याय मे विस्तारपूर्वक किया गया है। वहाँ अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा विवेचित परमसत्ता, परमात्मा, आत्मा, आत्मोत्थान, आत्मजागरण, विवेक, वैराग्य, मन की साधना, प्रपत्ति मार्ग, सत्सगति आध्यात्मिक अनुभूति एव निर्वाण की स्थिति का भी प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों का प्रभाव कबीर की रचनाओं पर पर्याप्त मात्रा मे दृष्टिगोचर होता है। डा० प्रेमसागर[1] डा० हीरालाल जैन[2] तथा डा० रामसिंह तोमर[3] ने भी कबीर के रहस्यवादी विचारों पर अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों का प्रभाव स्वीकार किया है।

यह सत्य है कि कबीर के रहस्यवाद पर केवल अपभ्रंश के जैन कवियो का ही प्रभाव नही है अपितु तत्त्वान्वेषी होने के कारण उन्होंने अपने चिन्तन को विभिन्न स्रोतों द्वारा पुष्टकर सिद्धान्त निरूपण किया है। कबीर के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध है कि उन्होंने पुस्तकीय ज्ञान नही प्राप्त किया था। पर, विभिन्न सम्प्रदाय के साधु सन्यासियों एव उपासकों के साथ सम्पर्क कर उन्होने अपने ज्ञान को विस्तृत किया था। अत: उन पर सूफी सम्प्रदाय के हठयोग, तत्रवाद, बौद्धमत एव वेदान्त आदि के साथ-साथ जैन प्रभाव भी परिलक्षित होता है। अपभ्रंश का जैन रहस्यवाद अनेकान्तवादी है, कबीर के उपास्य का स्वरूप भी अनेकान्त दर्शन

१– डा० प्रेमसागर जैन, परिषद्-पत्रिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, वर्ष ३, अक २ मे प्रकाशित 'जैन अपभ्रंश का हिन्दी के निर्गुण भक्तिकाव्य पर प्रभाव', निबन्ध।

२– डा० हीरालाल जैन, काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५, अंक ३–४ में प्रकाशित 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य' निबन्ध।

३– डा० रामसिंह तोमर, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित 'जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन' निबन्ध।

में विरोधी गुणों का एकत्र समवाय सम्भव ही नहीं है। उदार-दृष्टि व्यक्ति ही निष्पक्ष भाव से वस्तु के अनेक धर्मों का विवेचन करने मे समर्थ हो सकता है। कबीर का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था, उनकी बुद्धि एक सत्यान्वेषक की बुद्धि थी, वे सिद्धान्तों के घेरे में बँधने वाले नही थे, सत्य के अन्वेषण में उन्हें जहाँ जो वस्तु उत्तम और बहुमूल्य प्रतीत होती थी उसे वे वही से ग्रहण कर लेते थे। अतः अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियो के अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण को भी जो अपने मे पूर्ण और स्पष्ट था कबीर ने पसन्द किया और अनुभूति के माध्यम से उसे पहिचाना और व्यक्त किया। यही कारण है कि उनका ब्रह्म अनेकान्तात्मक है। जैसे अनेकान्त मे दो विरोधी तत्त्व अपेक्षाकृत दृष्टि से रह सकते हैं वैसे ही कबीर के ब्रह्म मे भी सगुण-निर्गुण दोनो की स्थिति विद्यमान् थी। हम इस अध्याय मे अपभ्रंश भाषा के जैन रहस्यवादी कवियो और कबीर के अध्यात्म विचार का विवेचन करेंगे। अध्यात्म के अन्तर्गत निम्नलिखित तत्त्व विचारणीय हैं—

१- ब्रह्म स्वरूप
२- जीव स्वरूप
३- जगत् स्वरूप
४- मोक्ष धारणा
५- माया अथवा कर्म

१. अपभ्रंश के जैन कवियों का ब्रह्मविवेचन और कबीर

ब्रह्म की निर्गुणता–अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों के काव्यो मे ब्रह्म का अनेकान्तवादी रूप व्यक्त हुआ है। जोइन्दु ने अपने ब्रह्म (परमात्मा) को 'निष्कल शब्द से अभिहित किया है।[1] निष्कल की परिभाषा टीकाकार ब्रह्मदेव ने 'निष्कलः पंचविधशरीररहितः' लिखकर की है। महयन्दिण[2] ने भी अपने दोहा-पाहुड में 'निष्कल' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। जोइन्दु ने इसी निष्कल को निरंजन की संज्ञा दी है। उन्होने लिखा है—जिसके न वर्ण है न गन्ध, न रस है न शब्द, और न स्पर्श, न जन्म ही है, न मरण, वह निरजन कहलाता है।[3] मुनि रामसिंह ने भी अपने पाहुडदोहा मे ब्रह्म के लिए निर्गुण शब्द का प्रयोग

१- एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं, जो पर णिक्कलु देउ।
—परमात्मप्रकाश, पृष्ठ २६, दोहा २५

२- गोरउ कालउ दुब्बलउ वलियउ एउ सरीरु।
अप्पा पुणु कलिमलरहिउ, गुणयन्तउ असरीरु॥
—दोहापाहुड, हस्तलिखित, महयंदिण कवि, दोहा ३६

३- जासुण वण्णु ण गंधु रसु, जासुण सद्दु ण फासु।
जासुण जम्मण मरणुणवि, णाउ णिरंजणु तासु॥ —परमात्मप्रकाश डा० ए० एन० उपाध्ये ६

किया है और उसका अर्थ निर्लक्षण तथा नि:संग किया है।[1] उनका यह निर्गुण जोइन्दु के निष्कल का ही पर्यायवाची है।

अपभ्रंश के जैन कवियों के इस निष्कल तथा निरजन के समान ही कबीर ने अपने निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित किया है। वे कहते हैं—

जाके मुँह माथा नही, नाही रूप कुरूप।
पुहुपबास तें पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप ॥[2]

उस ब्रह्म के न मुख है न मस्तक, न वह स्वरूप है न कुरूप, वह तो ऐसा अनुपम तत्त्व है जो पुष्प की सुगन्ध से भी सूक्ष्म है। वे कहते हैं—'पंडित और ज्ञानी लोग उसका क्या विचार कर सकते हैं जिसका न कोई रूप है, न वर्ण, न रेखा जो सर्वथा निराकार है।[3]

निर्गुण का अर्थ है गुणातीत या गुणरहित। गुण प्रकृति का विकार सत्त्व, रज और तम है। संसार को इन विकारों से सहित और ब्रह्म को इनसे रहित माना गया है। किन्तु, कबीर का गुण निर्गुण का और निर्गुण गुण का विरोधी नही। इन्होने निर्गुण मे गुण और गुण में निर्गुण को ही सत्य माना है और अवशिष्ट सबको धोखा कहा है। उनका ब्रह्म सत्त्व, रज और तम से रहित होने के कारण निर्गुण तथा घट-घट मे व्याप्त होने के कारण सगुण है, वह भावरूप भी है और अभावरूप भी, निराकार भी है, साकार भी, द्वैत भी है, अद्वैत भी।[4] कबीर की दृष्टि मे गुण और निगुर्ण केवल तारतम्य बताने के लिए ही हैं, भगवान् को निर्गुण कहने का अर्थ यह नही कि वह दृश्यमान गुणों से बाहर या विरुद्ध है, अपितु इसका तात्पर्य है कि जिस रूप और सीमा को हम देख रहे हैं वह अरूप और असीम को ठीक-ठीक प्रकट नही कर सकती। भगवान् न तो वह रूप है, न उसके समान ही वह उससे अतीत है, परे है।

ब्रह्म की शरीर से भिन्नता—अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु ने व्यवहार और निश्चयनय की अपेक्षा ब्रह्म को देह से भिन्न तथा अभिन्न निरुपित किया है। उनके विचार से व्यवहारनय से ब्रह्म (परमात्मा) देह से अभिन्न है। किन्तु,

---

१- हउ सगुणी पिउ णिग्गुणी, णीलक्खणु णीसंगु। —पाहुडदोहा, पृष्ठ ३०, दोहा १००

२- कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३, साखी ४

३- जो कछु विचारहु पंडित लोई।
जाके रूप न रेख वरण नहि कोई ॥ —क० ग्र० पृ० ८९, पद ३७

४- सन्तो धोखा कासूं कहिये।
गुण मे निरगुण निरगुण मे गुण है।
बाट छाडि क्यूं बहिये।
अजरा अमर कथे सब कोई।
अलख न कथणा जाई ॥
—कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, १२२ तथा क० ग्र०, पद १८०

निश्चयनय से तो वह देह से भिन्न स्वरूपमय ही है।[1] वह शुद्ध आत्मा अथवा परमात्मा मन तथा इन्द्रियों से रहित है, ज्ञानमय है, अमूर्तिक (स्पर्श-रस-गन्धादि-युक्त मूर्ति से रहित) शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वह इन्द्रिय ग्राह्य भी नहीं है।[2] कबीर ने भी अपने ब्रह्म को व्यावहारिक दृष्टि से सशरीर बताते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से तन, मन, अहंकार तथा सत्त्व, रज, तम आदि शरीर के विकारों से रहित प्रतिपादित किया है।[3]

अवतारवाद का विरोध—परमात्मा को अनेक नामो से अभिहित कर उसे अमूर्त, अलक्ष्य, अजर एवं अमर प्रतिपादित करने वाली जैन परम्परा अति-प्राचीन है। परमात्मा को अनेक नामों से अभिहित करने पर भी जैन विचारको ने अवतारवाद का विरोध किया है। जन्म, जरा और मरण से परे परमात्मा का अवतार हो भी कैसे सकता है? जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु अवश्यभावी है और जो मरणशील है, वह अविनाशी नहीं हो सकता। जो अविनाशी नहीं, वह परमात्मा नहीं हो सकता। जैन दृष्टि से परमात्मा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित है, नित्य है, निरंजन है, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि अष्ट गुणो से युक्त है, कृतकृत्य है और लोक के अग्रभाग मे स्थित है। वह सिद्ध होने के उपरान्त लौटकर ससार मे कभी नहीं आता क्योंकि वह मिथ्या दर्शन क्रोध, मान आदि भाव-कर्मों से रहित है, भाव कर्म के बिना नवीन कर्म का ग्रहण नहीं हो सकता और बिना कर्मग्रहण के वह अकारण ससार मे लौटकर नहीं आ सकता। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती इसी तथ्य की अभिव्यक्ति करते हुए कहते है—

अट्ठविह कम्मवियला सीदीभूदा णिरंजना णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥[4]

आचार्य कुन्दकुन्द के मतानुसार वह परमतत्त्व परमात्मा जनन जरा और मरण से रहित है, उत्कृष्ठ है, अष्टकर्मरहित है, शुद्ध है, ज्ञानादि गुणों से युक्त है, अक्षय है, अविनाशी है, अछेद्य है, अव्याबध है, अनिन्द्रिय है, अनुपम है, पुण्य पाप से मुक्त है, पुनरागमन से रहित है, नित्य अचल और अनालम्ब है—

१— देहादेहहिं जो वसइ भेयाभेयनये ण।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं किं अण्णें बहुएण॥
—परमात्म प्रकाश, पृष्ठ २२, दोहा ३६

२— अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्तिविरहिउ चिम्मितु।
अप्पा इन्दियविसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु॥
—परमात्म प्रकाश, पृष्ठ ३४, दोहा ३१

३— नही तन नही मन नही अहंकारा,
नही सत रज तम तीनि प्रकारा॥ —श्यामसुन्दरदास क० ग्र० पृष्ठ ८६, पद ३८

४— गोम्मटसार, जीवकाण्ड, आचार्य नेमिचन्द्र जैन सिद्धान्तचक्रवर्ती, रायचन्द शास्त्रमाला, गाथा ६८।

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ।।
अव्वाबाहं मणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालवं ।।[1]

आचार्य उमास्वामी ने बंध के हेतुओ का अभाव और निर्जरा के द्वारा सपूर्ण कर्मों के क्षय को मोक्ष माना है ।[2] आचार्य पूज्यवाद का कथन है कि जब आत्मा कर्ममलकलक और शरीर को अपने से पृथक् कर देता है, तब उसकी जो अचिन्त्य, स्वाभाविक ज्ञानादिगुण रूप और अव्यवध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, वह मोक्ष है ।[3]

परमात्मा के दो भेद हैं— सकलपरमात्मा (अर्हन्त भगवान्) और निकल परमात्मा (सिद्ध भगवान्) । सकल परमात्मा वह है जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों का क्षय कर चुके हैं । और जो मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर है, नित्य से मोक्ष को प्राप्त करने वाले हैं । निकल परमात्मा संपूर्ण कर्मों को हय कर चुके हैं । विद्यानदस्वामि परमात्मा की मोक्ष प्राप्ति का विवेचन करते हुए कहते हैं—

श्रेयोमार्गस्य संसिसिद्धः प्रसादात्परमेष्ठिनः ।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्र शास्त्रादो मुनिपुंगवाः ।।[4]

उक्त कारिका की व्याख्या करते हुए वे कहते है— श्रेयो निःश्रेयम परमपरं च तत्र पर सकलकर्म विप्रमोक्षलक्षणम् बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोशो मोक्ष इति वचनात् । ततोऽपरमार्हन्त्यलक्षणम् धातिकर्मक्षयादनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभस्थापरनिःश्रेयसत्वात् । न चात्र कस्यचिदात्मविशेषस्य कृत्स्नकर्मनिप्रमोक्षेणसिद्ध. माधक प्रमाण सद्भावत् । तथाहि— कश्चिदात्मविशेषः कृत्स्नकर्मभिर्विप्रमुच्यते कृत्स्नबधहेत्वभावनिर्जरावत्वात् । यस्तुनकृत्स्नकर्मभिर्विप्रमुच्यते स न कृत्स्नबधहेत्वाभावनिर्जरावान् यथा ससारी । कृत्स्नबधहेत्वभाव निर्जरावांश्च कश्चिदात्मविशेषः । तस्मात्कृत्स्नकर्मभिर्विप्रमुच्यने ।[5]

अतः जैन विचारको के अनुसार परमात्मा या तीर्थंकर शरीर त्याग कर निश्चय से मोक्ष को प्राप्त करते है । पत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है । अतः

१- कुन्दकुन्द भारती के अन्तर्गत [illegible], [illegible] शास्त्रि[illegible], [illegible], [illegible]भंडार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन, पृष्ठ २२९, गाथा १७६, १७७
२- बंधहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ।
—तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, दशम अध्याय, सूत्र २
३- निरवशेष निराकृत कर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविक ज्ञानादिगुणमव्याबध-सुखमात्यन्तिकमवस्थान्तर मोक्ष ।
—सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, प्रथम अध्याय, प्रथम सूत्र की वृत्ति
४- आप्तपरीक्षा, विद्यानन्दिस्वामि, स० दरबारी लाल कोठिया, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर, कारिका २
५- वही, कारिका २ की वृत्ति ।

भिन्न–भिन्न समय में भिन्न–भिन्न आत्माएँ कर्मों का क्षय कर परमात्मपद को प्राप्त करते रहते हैं। जो परमात्मपद को प्राप्त कर लेते हैं, वे पुनः संसार में नही आते। अत: परमात्मा का अवतार नहीं होता। जब तक यह आत्मा कर्मकलंक से युक्त है, तभी तक इसका जन्म मरण होता है और यह अपने किये गये कर्मों के अनुसार चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। किन्तु, जब सयम, तपाचरण व्रतानु–ष्ठान आदि के द्वारा आत्मा की शुद्धि हो जाती है, उसके समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है और वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, तब उसका जन्म नही होता। जन्म के अभाव में अवतार की स्थिति भी नही आ सकती।

यद्यपि जैन साहित्य में परमात्मा को अनेक पौराणिक नामो से स्मरण किया गया है और राम कथा के अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। किन्तु, उनके राम ने भी साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त कर निर्वाण लाभ किया है तथा सिद्धो के समान ही वे आत्मा के समस्त गुणों से मंडित हैं। स्वामी मानतुंग ने भक्ताभर स्तोत्र मे जिनेन्द्रदेव को बुद्ध कहा है, किन्तु उनका बुद्ध विबुधार्चितबुद्धिवोधात् होने से बुद्ध है, कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन का बुद्ध नही। उन्होने उसे शकर कहा है किन्तु शकर से उनका तात्पर्य श अथात् कल्याण करने वाला था, प्रलय करने वाला नही, वह धाता था, शिव मार्ग की विधि का विधान करने से वह पुरुषोत्तम था क्योंकि वह सभी पुरुषों मे उत्तम था।[1] परम्परानुसार अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु ने भी अपने परमात्मा को हरि, हर, ब्रह्म तथा बुद्ध आदि नामो से स्मरण करते हुए लिखा है कि परमात्मा वही है जो परम आत्मा है और परम आत्मा वह है जो अत्यन्त विशुद्ध है, वही हरि, हर, ब्रह्म तथा बुद्ध भी है।[2] वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है और वही ईश्वर तथा सिद्ध भी है।[3] स्पष्ट है कि परमात्मा को अनेक नामो से अभिहित करने पर भी वे अवतारवाद को नही मानते।

अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही कबीर ने भी अवतारवाद का निराकरण किया है। उन्होने शुद्ध आत्मा या परमात्मा को ही राम माना है। वे राम कथा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। उनका उद्देश्य केवल दार्शनिक विचारो को ही प्रस्तुत करना था, कथा कहना या आख्यान द्वारा किसी प्रबन्ध काव्य को लिखना कबीर

१- बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिवोधात्, त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात् व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि॥
—आचार्य मानतुंग, भक्तामरस्तोत्र

२– जो परमप्पउ परमपउ, हरि हरु बंभु वि बुद्ध।
परमपियासु भणति मुणि, सो जिण देउ विसुद्ध॥
—परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय, पृष्ठ ३३६ दोहा २२०

३– सो सिउ सकरु विण्हु सो सो रुद्दु वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणतु सो सिद्धु॥
—जोइन्दु, योगसार, सं० ए० एन० उपाध्ये, पृ० ३९५

का उद्देश्य न था। अतः उन्होंने राम के सिद्धत्व रूप को ग्रहण कर अवतारवाद की मान्यता का निरसन किया है। उनका राम निरंजन है, जिसका न कोई रूप है न रेखा, जो न मुद्रा है न माया, जो न समुद्र है न पर्वत, न गगन है न सूर्य, न चन्द्रमा न पवन है, न पानी न काल है न काया न जप है न तप, न योग है न ध्यान, न शिव है शक्ति, न वेद है व्याकरण, वह तो दृश्यमान सभी पदार्थों से विलक्षण है।[1] वह अवर्ण है, वह श्यामवर्ण का है न पीत वर्ण का, उनके न कोई जाति है न कुल, वह तो जाति रहित, कुलरहित है।[2] वह वेद रहित है, भेद रहित है, पाप पुण्य से रहित है, ज्ञान ध्यान से रहित है, नहीं स्थूल है, नहीं सूक्ष्म, न उसका कोई वेष है, वह तो तीन लोक के रूप से रहित एक अनुपम तत्व है।[3] उसका न आदि है न अन्त, न मध्य है, न वह उत्पन्न होता है, न उसका विनाश है।

कबीर ने अपने ब्रह्म को सभी पौराणिक नामों से अभिहित किया है। किन्तु, उनका अर्थ पुराणसम्मत अर्थ से नितान्त भिन्न है। उनका विष्णु वह है जो ससार में विस्तृत है, कृष्ण वही है जिसने सृष्टि का सृजन किया है, गोविन्द वह है जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, राम वह है, जो युग-युग तक रहता है, अल्लाह वह है, जिसने समस्त ससार का कर्मविधान बनाया है, करीम वह है, जो चौरासी लाख योनियों में जीव का जन्म-मरण रचने वाला है, गोरख वह है जिसने समस्त विज्ञान को जान लिया है, महादेव वह है जो दूसरे के मन की बात को जानले, इस प्रकार उस परम परमात्मा के गुणों की अपेक्षा अनन्त नाम है।[4] जैन कवियों के समान ही

१– गोब्यंद तू निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं, मुद्रा नाहीं माया।
समद नाही सिखर नाही, धरती गगना।
रवि ससि दोउ एकं नाही बहत नाहीं पवनां।
नाद नाही व्यद नाही काल नाही काया।
जबतें जल व्यब न होते, तब तू ही रामराय।।
—श्यामसुन्दरदास, क० ग्र० ना०प्र० सभा, पृ० १३६, पद २१६

२– अबरन बरन स्याम नही पीत, हाहू जाइ न गावेगीत। —वही, पृष्ठ १७०, पद ३२८

३– वेदविर्वजित भेदविवर्जित, विर्वजित पापरु पुन्य।
ग्यानविर्वजित ध्यानविर्वजित, विर्वजित अस्थूल सुन्य।।
भेषविर्वजित भीख विर्वजित, विर्वजित ड्यभक रूप।
कहे कबीर तिहू लोक विर्वजित, ऐसा तत्व अनूप।। —वही, पृष्ठ १३६, पद २२०

४– बिश्न सोइ जाको विस्तार, सोई कृस्न जिन कियो ससार।
गोब्यद ते ब्रह्मडहिं गहे, सोई राम जो जुगि जुगि रहे।।
अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोले सोई खुदाई।
लख चौरासी रव पखेरे सोई करीम जो एती करे।
गोरख सोई ज्ञान गमिग है, महादेव सोई मन की लहै।
सिध सोइ सो साधे इनी, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती।।
सिध साधू पैकबर हुआ, जपे सु एक भेष है जू वा।
अपरपार का नाउ अनन्त, कहे कबीर सोई भगवन्त।। —क०ग्र० पृष्ठ १७०, पद ३२७

कबीर ने भी सपने उपास्य को अनेक नामों से स्मरण करते हुए भी अवतारवाद का विरोध किया है। उनके राम पुराण प्रतिपादित अवतार नहीं थे। वे न दशरथ के घर उतरे थे और न लका के राजा का नाश करने वाले हुए थे, वे न तो देवकी की कोख मे पैदा हुए थे, न यशोदा ने उन्हें गोद मे खिलाया था। न तो वे ग्वालो के साथ घूमा करते थे और न उन्होने गोवर्धन पर्वत को ही धारण किया था। न तो उन्होने वामन होकर बलि को छला था और न वेदोद्धार के लिए बराह रूप धरकर धरती को अपने दातो पर ही उठाया था, न वे गण्डक के शालिग्राम थे, न वराह, मत्स्य, कच्छप आदि वेषधारी विष्णु के अवतार। न तो वे नर-नारायण के रूप में बदरिकाश्रम मे ध्यान लगाने बैठे थे और न परशुराम होकर क्षत्रियों का ध्वंस करने गये थे, न उन्होने द्वारिका मे शरीर छोडा था और न जगन्नाथ धाम मे दृढरूप मे ही अवतरित हुए थे। ये सब ऊपरी व्यवहार हैं, जो संसार में व्याप्त हो रहा है वह राम इन सबकी अपेक्षा कही अधिक अगम अपार है।[1]

इस प्रकार कबीर ने परमात्मा के रामावतार कृष्णावतार आदि के अभाव की चर्चा की है। उनकी यह चर्चा पूर्णत: विचारो के समकक्ष है।

परमात्मा के शरीर का अभाव –वह परमात्मा शरीर रहित है, अतः शरीर मे सम्बन्धित सभी दोषों तथा विशेषणो से वियुक्त है। रामसिंह ने लिखा है—"वह न पडित है न मूर्ख, न ईश्वर है, न अनीश्वर, न गुरु है न शिष्य।[2] न वह गोरा है, न सावला, न किसी अन्य वर्ण का, न सूक्ष्म है, न स्थूल[3], न वह ब्राह्मण है, न वैश्य, न क्षत्रिय, वह न पुरुष है न स्त्री।[4] वह न तरुण है, न वृद्ध, न

१– ना दसरथ धरि औतरि आवा, ना लका का राव सतावा।
देवे कूख न औतरि आवा, न जसवे लै गोद खेलावा॥
ना वो ग्वालन के सग फिरिया, गोवरधन लै ना कर धरिया।
वावन होय नही बलि छलिया, धरनी वेद लेन उधरिया॥
गडक सालिगराम न कोला, मच्छ कच्छ ह्वै जलहि न डोला।
बद्री बैठा ध्यान नहीं लावा, परसराम ह्वै खत्री न सतावा।
द्वारमती सरीर न छोडा, जगन्नाथ ले प्यड न गाडा॥
कहे कबीर विचार करि, ये ऊले व्यवहार।
याही थें जो अगम है, सो बरति रह्या ससार॥
—क० ग्र० पृष्ठ २०८

२– णवि तुहु पडिउ मुक्खुणवि, णवि ईसरु णवि णीसु।
णवि गुरु कोइ वि सीसु णवि, सव्वइं कम्मविसेसु॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, २७

३– णवि गोरउ णवि सामलउ, णवि तुहु एक्कु विण्णु।
णवि तणु अगउ थूलु णवि, एहउ जाणि सवण्णु॥
—वही, ३०

४– हउ वरु बभणु णवि वइसु णउ खत्तिउ णवि सेसु।
पुरिसु णउसउ इत्थिणवि, एहउ जाणि विसेसु॥
—वही, ३१

बालक ।[1] जोइन्दु मुनि कहते हैं कि वह न गुरु है, न शिष्य, न स्वामी है न भृत्य, न सूर है न कायर, न नीच है न ऊँच ।[2] वह परमात्मा न मनुष्य है, न देव, न तिर्यंच है न नारकी ।[3] अपभ्रंश के कवि आनन्दा ने भी जोइन्दु तथा रामसिंह द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के स्वरूप को ही स्वीकार किया है । वे कहते हैं कि वह स्पर्श, रस, गन्ध रूप आदि से रहित तथा आनन्दमय है ।[4]

परम्परा से प्राप्त अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही कबीर ने अपने निर्गुण ब्रह्म को मुख–माया आदि से रहित, पुष्प की सुगन्ध से भी सूक्ष्म अनुपम तत्त्व कहा है ।[5] मुनि रामसिंह के समान ही उनका ब्रह्म न बालक है, न वृद्ध और न युवक ।[6] वह न ऊँच है, न नीच, न ब्राह्मण है, न तुरक ।[7] कबीर का यह ब्रह्म निरूपण अपभ्रंश के जैन कवियों के परमात्म विवेचन से सर्वथा अभिन्न है ।

परमात्मा में गुणों का समावेश—अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु ने परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणदसहाउ ।
जो एहउ सो सत सिउ, तासु मुणिज्जइ भाउ ।[8]

अर्थात् वह परमात्मा नित्य, निरंजन, ज्ञानमय तथा आनन्दमय है । अपभ्रंश

१– तरुणउ बूढउ बालु हउ, सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वदउ सेवडउ, एहउ, चिंति म सव्वु ।।
–रामसिंह पाहुडदोहा, ३२

२– अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ।।
—परमात्मप्रकाश ८६

३– अप्पा माणुसुदेउ णवि अप्पा तिरिउण होइ ।
अप्पा णारउ कहिं वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ।।
–वही, ६०

४– फरस रस गन्ध बाहिरऊ, रूवविहूणउ सोइ ।
जीव शरीरह विणु करि आणन्दा, सद्गुरु जाणइ सोइ ।। –आणन्दा १६

५– जाके मुह माथा नही नाही रूप कुरूप ।
पुहुप वासतें पातरा ऐसा तत्व अनूप ।।
–कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५३, साखी ४

६– न हम बार बूढ हम नाही न हमरे चिलकाई हो।
–वही, पृष्ठ ६२, पद ५०

७– नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा, जाका प्यड ताही का सीचा ।
जो तू बाभन बाभनी जाया, तो आन बाट ह्वै काहे न आया ।
जोतू तुरक तुरकनी जाया, तो भीतरि खतना क्यू न कराया ।।
–वही, पृष्ठ ६०, पद ४१

८– परमात्मप्रकाश, १७

के जैन कवि आनन्दा ने उसे ज्योति स्वरूप कहा है।[1] वह केवलदर्शन, केवलज्ञान, केवलसुख और केवलवीर्य, स्वभाव वाला है।[2] अपभ्रंश के जैन कवियों के स्वर में स्वर मिलाते हुए कबीर ने भी अपने ब्रह्म को परम ज्योतिस्वरूप[3], ज्ञान[4], दर्शन[5] तथा आनन्दस्वरूप[6] वर्णित किया है।

परमात्मा की अजरता और अमरता—अपभ्रंश के जैन कवियों के अनुसार वह परमात्मा (ब्रह्म) न उत्पन्न होता है, न वृद्ध होता है। निश्चयनय से उसका न बन्धन है, न मोक्ष, व्यवहारनय से शरीर से सम्बन्ध होने के कारण वह आत्मरूप ब्रह्म (परमात्मा) उत्पाद–व्यय आदि पर्यायो से युक्त माना जाता है। मुनि रामसिंह कहते हैं कि वह परमात्मा (शुद्ध आत्मा) अजर, अमर है, उत्पत्ति तथा विनाश से रहित है।[7] जोइन्दु ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।[8] कबीर ने भी अपने ब्रह्म के प्रतिपादन मे अपभ्रंश के जैन कवियों के इस दर्शन को पूर्णतया स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

हूं न मुख मेरी मुई बलाइ, सो न मुवा जो रह्या समाइ।
कहै कबीर गुरु ब्रह्म दिखाया, मरता जाता नजरि न आया।[9]

अन्यत्र वे कहते हैं—

१– सिक्ख मुणइ सद्गुरु भणइ परमाणवमहाउ।
परमजोति तसु उल्हसइ, आणन्दा कीजइणिम्मलु भाउ॥
–आणदा ३६

२– केवलदंसण णाणमउ, केवल सुक्खसहाउ।
केवल वीरिउ सो मुणहि, जो जि परावरु भाउ॥
—परमात्मप्रकाश, २४

३– पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कू सोभा नहीं देख्या ही परवान।
अगम अगोचर गमि नहीं, तहा जगमगी जोति॥
—क०ग्र० पृष्ठ ११, ३-४

४– अविगत अपरपार ब्रह्म ज्ञान रूप सब ठाम।
–वही, पृष्ठ २०६

५– जग में देखो जग न देखे मोहि, कहि कबीर कछु पाई हो।
–वही, पद ५०

६– आनन्दमूल सदा पुरुषोत्तम घट बिनसे गगन न जाई ले।
–वही, पद ६६

७– जरइ ण मरइ ण संभवइ को परि कोवि अणतु।
तिहु अण सामिउ णाणमउ, सोसिउ देउ णिभतु॥
–रामसिंह पाहुडदोहा ५४

८– णवि उप्पज्जइ णवि मरइ बंधु वि मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एउ भणेइ॥
–जोइन्दु, परमात्मप्रकाश ६८

९– कबीर ग्रन्थावली, पद ४२

आवे प जाइ मरे न जीवे, तासु खोजु बैरागी ।[1]

आत्मा को ही परमात्मा मानना—अपभ्रंश के जैन कवियो ने व्यवहारनय से आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा तीन भेद किये हैं ।[2] किन्तु, शुद्ध निश्चयनय से तो सोऽहं[3] शब्द के द्वारा अपने शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा मानकर उसी की स्तुति की है और एकमात्र उसी को प्राप्य बताया है। कबीर ने भी सोऽहं शब्द के द्वारा अपने शुद्ध आत्मा को परमात्मा (परमब्रह्म) मानकर उसी का जाप करने का निर्देश किया है तथा ससार के अन्य कर्मकलक से ग्रस्त प्राणियो की अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।[4]

शरीर में ही परमात्मा की स्थिति—वह परमात्मा न मन्दिर मे है न मसजिद में, न गिरजे मे न अन्य किसी विशिष्ट स्थल मे, वह तो देहरूपी देवालय मे निवास करता है। अपभ्रंश के जैन कवि इन्दु लिखते हैं—"जो अनादि, अनन्त तथा केवल ज्ञानस्वरूप देव देहरूपी देवालय मे रहता है, वही परमात्मा है।[5] मुनि रामसिंह के विचार से साढ़े तीन हाथ का जो देह रूपी देवालय है, वही शान्त और निरजन परमात्मा का वास है, निर्मलचित्त वाला ही उसे प्राप्त कर सकता है।[6] आनन्दा कवि ने भी इसी विचार का समर्थन किया है। उनका कहना है कि जैसे काष्ठ मे अग्नि है, पुष्प मे परिमल है, उसी प्रकार से जिन (परमात्मा) भी शरीर मे है किन्तु उसे कोई विरला ही जान सकता है।[7] महयन्दिण कवि ने भी इसी का समर्थन करते हुए कहा है—

१— डा० रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, पृष्ठ ५०, पद ४७

२— अप्पा तिविहु मुणेवि लहु मूढउमेल्लहि भाउ ।
मुणि सण्णाणं णाणमउ जोपरमप्पसहाउ ॥ —परमात्मप्रकाश, अध्याय १, १२

३— जो परमप्पा सो जि हउ जो हउं सो परमप्पु ।
इउ जाणेविणु जोइया, अण्णुम करहु वियप्पु ॥ —जोइन्दु, योगसार, २२

४— सोऽहसो जाकउ है जाप ।
जा कल लिपतन होइ पुन अरु पाप ।
—डा० रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, पृष्ठ २२७, रागु भेरउ, पद ६
तथा — सोऽहं हसा एक समान काया के गुण आनहि आन ।"
—क०ग्र० पद ५३

५— देहादेवलि जो वसइ, देउ अणाइ अणतु ।
केवलणाण फुरतु तणु, सो परमप्पु णिभतु ॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, ३३

६— हत्थ अहुट्ठहं देवली, बालहं णाहि पवेसु ।
सतु णिरजणु तहिं वसइ णिम्मलुहोइ गवेसु ॥
-रामसिंह, पाहुडदोहा, पृष्ठ २८, ६४

७— जिस वइसाणर कट्ठमहिं कुसुमहिं परिमलु होई ।
तिमदेहं मइ वसइ जिण, आणन्दा विरला बूझइ कोई ॥ —आणन्दा, १६

हत्थ अहुट्ठ जु देवली तहिं सिव संतु मुणेइ ।
मूढादेवलि देउ णवि, भुल्लउ काइ ममेइ ।।[1]

हिन्दी के निर्गुण भक्त कबीर अपभ्रंश के जैन कवियों की इस विचारधारा से पूर्णतया सहमत थे । वे कहते हैं—'जिस ब्रह्म को ढूंढने के लिए लोग तीर्थों और तटों पर भ्रमण करते हैं, वह रत्न पदार्थ तो घट के अन्दर ही विद्यमान् है । पंडित लोग वेदपाठ करते हैं, अनेक ग्रन्थों को पढ़ते हैं, फिर भी अपने घट के अन्दर बसने वाले उस परमतत्त्व को नहीं जानते ।[2] कबीर की दृष्टि में पवित्र मन ही मथुरा, दिल द्वारिका, काया कासी और दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र ही देवालय है क्योंकि वहाँ उस परमज्योति का निवास है ।[3] अन्यत्र भी उन्होंने उस अशरीरी का शरीर में ही वास बताया है जिसे कोई देख नही पाता ।[4] जिस प्रकार कस्तूरी मृग की नाभि में रहती है पर मृग उसकी सुगन्धि पाकर उसे वन-वन ढूंढता फिरता है उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में राम है, पर उसे कोई देख नहीं पाता ।[5]

परमात्मा की सर्वव्यापकता—अपभ्रंश के जैन कवियो ने अपने स्याद्वाद नय से परमात्मा को अशरीरी और अमूर्तिक मानते हुए भी इसके सर्वव्यापी रूप का निरूपण किया है । जोइन्दु मुनि का कथन है कि कर्मरहित होने पर भी वह परमात्मा अपने केवलज्ञान के द्वारा संपूर्ण लोक और अलोक को जानता है, अत: वह सर्वव्यापी है ।[6] जिसके अन्दर ससार बसता है और जो ससार मे बसता है तथा ससार मे बसता हुआ भी जो संसार नही है वह परमात्मा है ।[7]

कबीर ने भी अपने ब्रह्म की सर्वव्यापकता का उल्लेख निम्न प्रकार से किया है—

१— महानन्दिण कवि, वेहाणुवेहा, दोहा ३८

२— जिस कारणि तटि तीरथि जाही, रतन पदारथ घट ही माही ।
पढ़ि पढ़ि पडित वेद बखाणें, भीतरि हूती बसत न जाणें ।' —क० ग्र०, पद ४२

३— मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाणि ।
दसवां द्वारा देहुरा, तामें जोति पिछांणि ।।
—कबीर ग्रन्थावली, भ्रमविधोसणको अग, १०

४— बसै अपडी पंड में, तामति लखै न कोइ ।
कहै कबीरा सत हो, बडा अचम्भा मोहि ।।
—क०ग्र०, हेरान को अंग, २

५— कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूँढे वन माँहि ।
ऐसे घटि घटि राम हैं, दुनिया देखे नाँहि ।।
—क०ग्र०, कस्तूरिया मृग को अंग १

६— अप्पा कम्मविवज्जियउ केवलणाणें जेण ।
लोयालोउ वि मुणइ जिय, सव्वगु वुच्चइ तेण ।। —जोइन्दु परमात्मप्रकाश, ५२

७— जसु अब्भतरि जगु वसइ जग अब्भतरि जोजि ।
जगिजि वसतु वि जगुजुणवि, मुणि परमप्पयउ सोजि ।। —जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, ४

खालिक खलक खलक में खालिक, सब घट रह्यो समाई ।[1]

तथा

सब घट भीतरि तू ही व्यापक धरे सरूवे सोई ।।[2]

तथा

अरध उरध दसहूँ दिसि जिततित पूरि रह्या रामराई ।।[3]

मुनि रामसिंह ने भी अपने पाहुड दोहा मे परमात्मा की सर्वव्यापकता का निर्देश किया है । वे कहते हैं—'किसकी समाधि करूँ ? किसकी पूजा करूँ ? किसको छूत अथवा अछूत कहकर त्यागूँ ? किससे कलह करूँ ? किसका सम्पान करूँ ? मैं तो जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ मुझे परमात्मा ही परमात्मा दिखाई देता है ।[4] कबीर ने भी अपभ्रंश के जैन कवियो के समान ही उस एक मात्र व्यापक ब्रह्म को ही सभी में स्वीकार किया । कौन पडित है, कौन योगी; राजा राव किसे कहा जाए, किसे वैद्य और किसे रोगी कहा जाए ? इन सभी में वह ब्रह्म है और ब्रह्म ही ब्रह्म से खेल रहा है ।[5]

परमात्मा (ब्रह्म) की अनिर्वचनीयता—अपभ्रंश के जैन कवियों की दृष्टि मे परमात्मा (परब्रह्म) अनिर्वचनीय है, उसका केवल अनुभव किया जा सकता है, वर्णन नहीं । मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा मे परमात्मा की अनिर्वचनीयता का विवेचन हुआ है । उनके विचार से उसे एक व्यक्ति जिस प्रकार जानता है, दूसरा भी उसी प्रकार नहीं जान सकता । जो उसका अनुभव करता है, वही उसे जान सकता है ।[6] कबीर का ब्रह्म भी मन और वाणी से अगम तथा अगोचर है, वे उसका वर्णन करने मे अपने को असमर्थ पाते हैं । अतः सांकेतिक भाषा मे वे उसके अनुभव को गूँगे के गुड के समान प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

बाबा अगम अगोचर कैसा, तातै कहि समुझाऊँ ऐसा ।

जो दीसैं सो तो है नाही, है सो कहा ण जाई ।।

१– कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९२, पद ५१

२– वही, पद ५८

३– कबीर ग्र०, पद ५८

४– कासु समाहि करउ को अचउ ।
छोपु अछोपु भणिवि को वचउ ।
हलसहि कलह केण सम्माणउ ।
जहि जहि जोवउ तहि अप्पाणउं ।। —पाहुडदोहा रामसिंह, १३९

५– व्यापक ब्रह्म सबनि मे एकै, को पंडित को जोगी ।
राणाराव कवनसूँ कहिये, कवन वेदको रोगी ।
इनमे आप आपसवहिन मे, आप आपसूं खेले ।। —कबीर ग्रन्थावली,

६– एक्कु सु वेयइ अण्णु ण वेयइ ।
तासु चरिउ णउजाणहि देव इ ।
जो अणुहवइ सो जि परियाणइ ।
पुच्छंतहु सम्मित्ति को आणइ ।। —रामसिंह, पाहुडदोहा, १६५

सेनां बेनां कहि समुझावें, गूंगे का गुड़ भाई ।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवें, बिनसे नाहिं नियारा ।
ऐसा ग्यान कथा गुरु मेरे, पंडित करो बिचारा ।।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के ब्रह्म मे निर्गुणता तथा निराकारता के साथ-साथ उसकी सगुणता, एकता, सर्वव्यापकता, अनिर्वचनीयता तथा घट मे स्थिति आदि सभी बातें प्राय: अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों के समान ही पायी जाती हैं ।

२. अपभ्रंश के जैन कवियों का आत्मविचार और कबीर

प्राचीन काल से ही मनुष्य की यह जानने की चेष्टा रही है कि आत्मा क्या है? उसका स्वरूप क्या है? और उसकी गति प्रगति आदि क्या है? मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य ही आत्मज्ञान की प्राप्ति है । अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियो तथा कबीर ने भी आत्मज्ञान को जीवन का चरम लक्ष्य बनाया था । उन्होने अनेक बार कहा है कि आत्मविचार करने मे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है[2] तथा अपने स्वरूप को जान लेने पर मनुष्य जन्म-मरण से छुटकारा पा जाता है ।[3] अपभ्रंश के जैन कवियो के समान ही कबीर ने भी आत्मा सम्बन्धी विचार व्यक्त किया है । अत: यहां अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों तथा कबीर दोनों के आत्मविचार सम्बन्धी समानताओ का अध्ययन अनिवार्य है ।

आत्मा का स्वरूप— जैन कवियो ने व्यवहारनय तथा निश्चयनय दो नयो की अपेक्षा से आत्मतत्त्व का विवेचन किया है । व्यवहारनय कर्त्ता, भोक्ता तथा शरीर परिणामी है[4] किन्तु, निश्चयनय से वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त और ज्ञानी है, सर्वकर्म-से रहित है, अजर है, अमर है ।[5] वह केवल अपने चेतन भावो का कर्त्ता है, रूप रस,

---

१– हजारी प्रसाद द्विवेदी, सन्त कबीर, पृष्ठ १२६

२– ज मुणि लहइ अणत–सुहु णिय अप्पा झायतु ।
त सुहु इ दुविणवि लहइ, देवहि कोडि रमतु ।। –जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, ११७
तथा–आप ही आप विचारिये तब केताहोइ आनन्द रे ।
–क०ग्र० पृष्ठ ७६, पद

३– अप्पुहिं अप्पु मुणतु जिउ सम्माइट्ठि हवेइ ।
सम्माइट्ठि उ जीवडउ लहु कम्मइं मुचेइ ।।
–जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, ७६
तथा - कहे कबीर जे आप विचारे, मिटि गया आवनजांना ।।
–क० ग्र ०, पृष्ठ ८०, पद ६

४– अप्पा देहपमाण मुणि अप्पा सुण्णुवियाणु ।।
–परमात्मप्रकाश, ५१

५– णवि उप्पजुइ णवि मरइ बधुविमोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवर एम भणेइ ।।
–परमात्मप्रकाश, ६८

गन्ध, वर्ण से रहित, निर्गुण निराकार है, वह मनरहित है, इन्द्रिय रहित है, ज्ञानमय है और इन्द्रियागोचर है।[1] वह ज्योतिस्वरूप है[2] तथा आनन्दमय है।[3]

कबीर ने भी आत्मा को निरंजन तथा निराकार माना है।[4] उनके मतानुसार न वह जन्म लेता है, न मरता है।[5] वह शरीर में रहते हुए भी शरीर, रक्त, मांस आदि नहीं है।[6] वह ज्योतिस्वरूप है। ज्योतिस्वरूप आत्मा से ही यह शरीररूपी भवन प्रकाशित है। इस ज्योति के विलय हो जाने पर कायाभवन में अन्धकार हो जाता है, मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है।[7] आत्मा का स्वरूप आनन्दमय है।[8]

आत्मा की शरीर से भिन्नता—जैन मुनियों के विचार से आत्मा तथा शरीर दोनों दो भिन्न तत्त्व हैं। आत्मा आत्मा है और शरीर परपदार्थ है। आत्मा परपदार्थ नहीं हो सकता और परपदार्थ आत्मा नही हो सकते हैं।[9] आत्मा या जीव द्रव्य अरूप है, अलख है, अजन्मा है किन्तु शरीर पौद्गलिक गुणो से युक्त है, अस्थि, मास मज्जा तथा रक्त आदि से निर्मित है। जिस प्रकार वस्त्र शरीर से भिन्न है। जोइन्दु मुनि का कथन है कि जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् पुरुष वस्त्र के लाल होने पर शरीर को लाल नही मानता उसी प्रकार आत्मज्ञानी भी शरीर के लाल होने से आत्मा को लाल नही मानता, जिस प्रकार वस्त्रों के जीर्ण होने पर शरीर को जीर्ण नही माना जाता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष शरीर के जीर्ण होने पर आत्मा को जीर्ण नहीं मानते। जिस प्रकार वस्त्र नाश से शरीर का नाश नही होता, उसी प्रकार शरीर नाश से आत्मा का नाश नही होता। अत: जिस प्रकार वस्त्र देह से सर्वथा

१- अमणु अणिदिउ णाणमउ, मुत्तिविरहि उचिम्मित्तु।
अप्पा इन्दियविसउ णवि, लक्खणु एहु णिरुत्तु॥
—परमात्मप्रकाश, ३१

२- परम जोति तसु उल्हसई आणंदा। कीजइ णिम्मुनमाउ॥
—आणदा, २६

३- नित्यनिरंजन णाणमय परमाणदसहाउ।
अप्पा बुज्झिउ जेण पर, तासुण अण्णुहिभाउ॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, ४७

४- निजसरूप निरंजना, निराकार, अपरपार अपार। —क० ग्र० पृष्ठ १६२

५- ना सो आवे नासो जाइ ताके बाप पिता नही माइ। —वही, पृष्ठ २०८

६- ना वह पिण्ड न रक्त रातू। —क० ग्र०, पृष्ठ २५८, पद १२६

७- मन्दिर माँहि झबूकती दीवा कैसी जोति।
हंस बटाउ चलि गया, काढ़ो घर की छोति॥
—क० ग्र०, पृष्ठ ६५, १७

८- आनन्दमूल सदा पुरुषोत्तम घट बिनसे गगनन जाइ ले॥
—क ग्र० पृष्ठ १६०, पद २६३

९- अप्पा अप्पु जि पर जि पर अप्पा परजिण होइ।
परजि कया विवि अप्पुणवि णियमें पभणहि जोइ॥
—परमात्मप्रकाश, ३७

भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से सर्वथा भिन्न है।[1] जन्म, जरा, मरण, रोग तथा विभिन्न वर्ण एवं लिंग आदि शरीर के होते हैं, आत्मा के नहीं। अतः शरीर के जन्म-मरण को आत्मा के जन्म-मरण मानकर दुःखी नहीं होना चाहिए।[2]

कबीर ने भी आत्मा को शरीर से सर्वथा भिन्न माना है। उनके मतानुसार आत्मा अजर तथा अमर है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है जबकि शरीर जन्म, जरा, मरण से युक्त है, स्थूल है। उन्होंने भी आत्मा तथा शरीर की भिन्नता का प्रतिपादन शरीर एवं वस्त्र की भिन्नता के उदाहरण द्वारा किया है। उनका कथन है कि एक निश्चित समय के उपरान्त जैसे वस्त्रपरिवर्तन आवश्यक हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी एक निश्चित समय के उपरान्त पूर्व शरीर का परित्याग कर अन्य शरीर मे अपनी अभिव्यक्ति करता है। वे कहते हैं कि जो वस्त्र धारण किया गया है वह अवश्य फटेगा और उसके स्थान पर नवीन वस्त्र धारण किया जाएगा, इसी प्रकार जो शरीर उत्पन्न होता है वह मरेगा भी अवश्य ही। अतः इसकी चिन्ता न कर उस सत्य तत्त्व आत्मा को ही जानने का यत्न करना चाहिए।[3] आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है, शरीर ही उत्पन्न होता है और यही नष्ट होता है।[4] कबीर ने शरीर तथा आत्मा की भिन्नता का निरूपण कमल तथा सरोवर के उदाहरण द्वारा भी किया है। उनके विचार से मनुष्य का शरीर एक सरोवर के समान है। उसमें परम ज्योति स्वरूप आत्मा, जो निर्गुण एवं निराकार है, एक अनुपम कमल के पुष्प के समान विद्यमान् है। जिस प्रकार कमल पर जल का कोई

१- रत्तें वत्थें जेम बुहु देहु ण मण्णइरत्तु।
देहिं रत्ति णाणि तह अप्पु ण मण्णइ रत्तु॥
जिण्णि वत्थि जेम बुहु देह ण मण्णइजिण्णु।
देहिं जिण्णि णाणि तह अप्पु ण मण्णइ जिण्णु॥
वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु, देह ण मण्णइ णट्ठु।
णट्ठे देहे णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ णट्ठु॥
देहु वि भिण्णउ णाणि तह अप्पह मण्णइ जाणि॥

-जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय १७८. १७६, १८०, १८१

२- देहह उब्भउ जरमरण, देहह वण्णु विचित्तु।
देहह रोय वियाणि तुहु देहहं लिंग विचित्तु॥
देहहं पेक्खिवि जरमरणु मामउ जीव करेहि।
सो अजरामरु बंभु परु, सो अप्पाण मुणेहि॥

—परमात्मप्रकाश, ७०, ७१

३- जो पहर्‌या सो फाटिसी, नांव धर्‌या सो जाइ।
कबीर सोई तत्त गहि, जो गुरु दिया बताइ॥

—क० ग्र० पृष्ठ ६५, कालको अंग १२

४- प्राण प्यंड को तजि चले मुवा कहें सब कोइ।
जीव छतां जामे मरें, सूषिम लखे न कोइ॥

—क० ग्र० पृष्ठ २८ सूषिम जनम को अंग

प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार शरीर के धर्मों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।[1]

शरीर के गुणधर्म का आत्मा के गुणधर्म से पृथक्त्व—आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है । अतः शरीर के धर्म आत्मा के धर्म कदापि नहीं हो सकते । इस विषय मे भी कबीर अपभ्रंश के जैन कवियों के विचार से पूर्णतः सहमत प्रतीत होते हैं । परमात्मप्रकाश मे श्री जोइन्दु मुनि कहते हैं कि आत्मा न गौर-वर्ण का है, न कृष्ण वर्ण का और न रक्तवर्ण का, वह न सूक्ष्म है न स्थूल, आत्मा न ब्राह्मण है न वैश्य, न क्षत्रिय है न शूद्र, न स्त्री है न पुरुष और न नपुसंक, वह न बौद्ध आचार्य है न दिगम्बर मुनि, न वह परमहस है न जटाधारी अथवा मुडित सन्यासी, न वह किसी का गुरु है न शिष्य, न स्वामी है न भृत्यु, न सूर है न कायर, न उत्तम है न नीच, वह न मनुष्य है न देव, न तिर्यंच है न नारकी, वह न मूर्ख है न पडित, न ईश्वर है न अनीश्वर, वह तरुण, वृद्ध अथवा बाल भी नहीं है, न वह देव है न पशु पक्षी या इतर प्राणी । वह शुभ अशुभ भावो से परे है, वह अतीत, आगत और अनागत की सीमा के ऊपर है ।[2] जोइन्दु के इस विचार का समर्थन करते हुए मुनि रामसिंह ने भी आत्मा मे उक्त गुणों का निषेध किया है ।[3]

१- शरीर सरोवर भीतरें आछे कमल अनूप ।
परमजोति पुरुषोत्तमो ताके रेख न रूप ॥
—क० ग्र० पृष्ठ २८०, पद २०५

२- अप्पा गोरउ किण्हु णवि अप्पारत्तुण होइ ।
अप्पा सुहुमि वि थूलु णवि, णाणिउ जाणे जोइ ॥
अप्पा बभणु वइसु णवि, णवि खत्तिउ णवि सेसु ।
पुरिसु णउसउ इत्थु णवि णाणिउ मुणह असेसु ।
अप्पा वदउ खवणु णवि अप्पा गुरुउ प होइ ।।
अप्पा लिंगिउ एक्कु णवि, णाणिउ जाणइ जोइ ।
अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि, णवि सामिउ णविभिच्चु ।
सूरउ कायरु होइ णवि, णवि उत्तमु णवि णिच्चु ।
अप्पा माणुस देउ णवि अप्पा तिरिउ ण होइ ।
अप्पा णारउ कहि वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ।।
अप्पा पडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।
तरुणउ बूढउ बालुणवि, अण्णु वि कम्मु विसेसु ॥
—परमात्मप्रकाश, ८६, ८७, ८८, ८९

३- हउ गोरउ हउ सामलउ हउ जु विभिण्णउ वण्णु ।
हउ तणु अगउ थूलु हउ एहउ जीवम मण्णि ॥
णवि तुहु पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।
णवि गुरु कोइ वि सीसु णवि सव्वइं कम्मविसेसु ॥
हउ वरु बभणु णवि वइसु णउ खत्तिउ णवि सेसु ।
पुरिसु णउ सउ इत्थुणवि एहउ जाणि विसेसु ॥
तरुणउ बूढउ बालु हउ सूरउ पडिउ दिव्वु ।
खवणउ व सेवडउ एहउ चिंति म सव्वु ॥
—रामसिंह पाहुडदोहा, २६, २७, ३१, ३२

कबीर ने भी आत्मा को नामरूप जगत् से भिन्न माना है। वे कहते हैं कि न उसे मनुष्य कहा जा सकता है न देवता, वह न योगी है न अवधूत, उसकी न कोई माता है न वह किसी का पुत्र है, न उसे गृहस्थ कह सकते हैं न गृहत्यागी, वह न राजा है न भिक्षुक। वह यह शरीर रक्त मांस आदि कुछ भी नहीं है। उसकी न कोई जाति है, न ही उसे किसी नाम से संशोधित ही किया जा सकता है। वह न जन्मता है न मृत्यु को प्राप्त होता है।[1] वह न बालक है न वृद्ध और न युवा।[2]

अत: जो ज्ञानी शरीरजन्य सकल्प-विकल्पों और रागद्वेषों से विमुख होकर आत्मसुख की चिन्ता मे लीन हो जाता है उस पर शरीर के जन्म-मरण और सुख दु:ख का कोई प्रभाव नही पडता।

आत्मा की अवस्थाएँ—जैन दृष्टिकोण से अनन्त आत्माएँ हैं जो सभी परमात्मा बनने की क्षमता रखते हैं। दिव्य दृष्टि से सभी आत्माएँ परमात्मा है और वे सदैव एकरूप रहते हैं। किन्तु, पर्याय दृष्टि से उनमे अवस्था भेद होता रहता है।[3] सामान्यतया वह पौद्गलिक पदार्थों से घिरा होने के कारण उनमे इतना आसक्त हो जाता है कि वह अपनी शक्ति और स्वरूप को विस्मृत कर देता है। किन्तु, ज्ञान उत्पन्न होने पर वह आत्मा और शरीर के अन्तर को समझने लगता है और इसके बाद एक स्थिति वह आती है जब वह स्वय परमात्मा बन जाता है।[4] इस प्रकार जैन कवियों ने किसी भिन्न नियामक अथवा परमात्मा की सत्ता नही स्वीकार की है और न यही माना है कि आत्मा अपने अस्तित्व को समाप्त कर किसी परमसत्ता मे मिल जाता है। जैन कवियों के अनुसार तो प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र स्थिति है और यह आत्मा ही ज्ञान प्राप्त कर परमात्मा बन जाता है। अनन्त आत्माएँ है, अत: परमात्मा भी अनन्त बन सकते हैं और उस अवस्था मे भी प्रत्येक की अपनी पृथक्

१— ना इहु मानस ना इहु देवा, ना इहु जती कहावे सेवा।
ना इहु जोगी ना अवधूता, ना इस माइ न काहू पूता॥

× ×

ना इहु गिरही ना ओदासी ना इहु राजा न भीख मगासी।
ना इहु पिण्डु न रकतू रातू, ना इहु ब्रहमन ना इहु खाती॥
ना इहु तपा कहावे सेख, ना इहु जीवे न मरता देख।
इसु मरते को जो कोई रोवे, जो रोवे सोई पति खोवे॥

—क० ग्र०, पृष्ठ २५८, पद १२६

२— ना हम बार बूढ़ हम नाही, ना हमरे चिलकाई हो।

—वही, पृष्ठ ९२

३— दव्वसहावें णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ होइ।

—परमात्मप्रकाश, ५६

४— एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्मविसेसें जाय उ अप्पा।
जामइं जाणइ अप्पे अप्पा, तामइ सो जि देव परमप्पा॥

—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय १७४

सत्ता रहेगी।[1] यद्यपि सभी आत्माएँ अनन्त प्रदेशी हैं किन्तु, एक का प्रभाव दूसरे पर किंचित् भी नहीं पड़ता।

इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से तो सभी आत्माएँ परमात्मा ही हैं। किन्तु, व्यवहारनय से आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी गयी हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।[2] आत्मा के ये भेद केवल भव्यात्माओं के अवस्था विशेष के ही द्योतक हैं।

बहिरात्मा आत्मा की प्रथम अवस्था है, जिसमें यह आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को न पहिचानकर देह तथा इन्द्रियों को ही आत्मा समझकर उनके सुख-दु.ख को अपना सुख-दुःख समझता है तथा उन्ही के पालन-पोषण में रत रहता है। मिथ्यात्व के कारण वह तत्त्व को विपरीत समझता है और कर्मों से निर्मित भावो को अपने समझता है।[3] मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं विभिन्न वर्णवाला हूँ, मैं कृश शरीर वाला हूँ, मैं स्थूल शरीरवाला हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं पुरुष हू, मैं नपुंसक हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं तरुण हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं रूपवान् हूँ, मैं पडित हूँ आदि शरीर के धर्मों को अपने धर्म समझता है।[4] वह माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब आदि शरीर के सम्बन्धियों को भी अपने सम्बन्धी समझता है।[5] अपने इस अज्ञान के कारण वह नाना योनियों में भटकता तथा अनेक प्रकार के कष्ट सहन करता है। जोइन्दु मुनि ने आत्मा की इस अवस्था को मूढावस्था कहा है।[6] साधारणतया प्रत्येक जीव इसी अवस्था में रहता है, इसीसे सृष्टिक्रम चला करता है।

१— ते वंदउ सिरिसिद्धगण होसहि जे वि अणतु।
—परमात्मप्रकाश, २

२— तिपयारो अप्पा मुणहि, परु अन्तरु बहिरप्पु। —योगसार, पृष्ठ ३६०, ६

३— जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ।
कम्म विणिम्मिय भावड़ा, ते अप्पाणु भणेइ॥
—परमात्मप्रकाश ७६

४. हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु।
हउँ तणु अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु॥
हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु।
पुरिसु णउँसउ इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु॥
तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु।
खवणउ वंदउ सेवड़उ मूढउ मण्णइ सव्वु॥
—परमात्मप्रकाश, ८०, ८१, ८२

५. जणणी जणणु वि कंत घरु पुत्तु वि मित्तु वि दव्वु।
माया जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु॥
ओइन्दु, परमात्मप्रकाश, ८३

६— मूढ़ वियक्खणु बंभु परु, अप्पा तिविहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ, सो जणु मूढ़ हवेइ॥
—ओइन्दु, परमात्मप्रकाश, प्र०अ० १३

आत्मा की द्वितीय अवस्था का नाम अन्तरात्मा है। इस स्थिति में भेदज्ञान के द्वारा जीव आत्मा तथा शरीर के भेद को अवगत कर लेता है। वह आत्मविद् हो जाता है, अतः शरीर में आसक्त नहीं होता। यही विवेकी जीव परमसमाधि में स्थित होकर अन्तरात्मा बन जाता है।[1] यही संन्यासी कहलाता है।

तृतीय अवस्था परमात्मा की अवस्था है। यह आत्मा की वह विशिष्ट अवस्था है, जिसमें जीव के सभी गुणों का पूर्ण विकास हो जाता है, वह नित्य, निरंजन, ज्ञानमय तथा परमानन्दमय बन जाता है।[2] वह परमात्मा केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख तथा केवल वीर्य स्वभाव वाला है। वह उत्कृष्ट अर्हंत परमेष्ठी से भी अधिक विशुद्ध है।[3] जैन कवियों ने परमात्मा के दो भेद माने है--सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। शरीर सहित अर्हन्त भगवान् सकल परमात्मा हैं और शरीर रहित भगवान् निकल परमात्मा हैं। निकल परमात्मा ही सर्वाधिक विशुद्ध है, वही ध्यातव्य है। जोइन्दु मुनि कहते हैं—जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को नष्ट कर सभी देहादि परद्रव्यों को छोड़कर केवल ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त हुआ है, वही परमात्मा है।[4]

इस प्रकार पर्यायदृष्टि से आत्मा के तीन भेद है। किन्तु द्रव्यदृष्टि से वह एक ही है। एक ही आत्मा जब तक कर्ममल से आच्छादित रहता है, बहिरात्मा कहा जाता है, वही जब स्वपर भेद को जान लेता है, तब अन्तरात्मा हो जाता है। और पूर्ण ज्ञानी बनने पर ही परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। अतः आत्मा और परमात्मा मे कोई तात्त्विक भेद नही है।

अपभ्रंश के जैन कवियो के समान ही कबीर ने भी पारमार्थिक रूप से आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव वाला माना है, उनकी दृष्टि से यह शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। किन्तु, व्यावहारिक रूप से उन्होंने आत्मा का दूसरा रूप जीवात्मा का भी अंगीकार किया है। यही जीवात्मा जीव कहलाता है, जो मायोपाधिक होकर संसार मे जन्म लेता और मृत्यु को प्राप्त होता है। कबीर ने इन्ही दो रूपो को ज्ञाता

१– देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु जिएइ।
परमसमाधि परिट्ठियउ, पंडिउ सो जि हवेइ।
—परमात्मप्रकाश, प्र० अ० १४

२– णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ।
जो एहउ सो संतु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ॥
—परमात्मप्रकाश, १७

३– केवलदंसणणाणमउ, केवलसुक्खसहाउ।
केवल वीरिउ सो मुणहि, जो जि परावरु भाउ।
—परमात्मप्रकाश, २४

४– अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्कें जेण।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण।
—परमात्मप्रकाश, १५

और ज्ञेय, दृष्टा और दृश्य तथा साधक और साध्य की भी संज्ञा प्रदान की है।[1] कबीर के सुरति, निरति शब्द से भी यही ध्वनित होता है। 'निरति' शब्द का प्रयोग कबीर ने मुक्त आत्मा के लिए तथा 'सुरति' का प्रयोग जीवात्मा के लिए किया है।[2] साधना की पराकाष्ठा में जीवात्मा तथा परमात्मा का तादात्म्य हो जाता है अर्थात् निजस्वरूप मे अवस्थान हो जाता है और तब कल्याण तथा आनन्द की प्राप्ति होती है।

कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी हैं, जिन्हे उन्होंने अज्ञानी जीव, साधक जीव तथा मुक्तात्मा के नाम से अभिहित किया है।

माया से आच्छन्न जीव अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वरूप को भूल जाता है और अज्ञान के कारण वह अपने शरीर को ही सब कुछ समझकर मोह, माया, धनलिप्सा और तृष्णा के वश में हो जाता है। वह नामरूपात्मक जगत् की ओर उन्मुख रहता है और अनेक विकारो का भाण्डार बन जाता है। वह अपने कृत्यो का फल भोगने के लिए अनेक बार विविध योनियों से जन्म लेता है तथा मृत्यु को प्राप्त होता है और इसी मे आनन्द का अनुभव करता है। उसे यह माया बडी मधुर लगती है, वह उसके चुगल से निकलने का प्रयास भी नही करता। कबीर ने ऐसे जीवो को अज्ञानी जीव कहा है[3] जो अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियो के बहिरात्मा के समकक्ष है। ससार के अधिकतर प्राणी इसी कोटि के हैं। माया रुपी दीपक मे ये नर-पतग अज्ञान के कारण फँसते हैं, कोई विरला ही भाग्यवान् सद्गुरु की कृपा से ज्ञान प्राप्त कर माया के चंगुल से छुटकारा पाता है।[4]

जिस भव्य जीव मे सद्गुरु के उपदेश एवं साधु-सगति से निज स्वरूप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है वह अपने जीवन मे पवित्रता को अपनाता है। ऐसे जिज्ञासु मे विवेक जाग्रत हो जाता है, वह उस अनूपम परम तत्त्व की ओर उन्मुख होता है। उसकी बहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी होने लगती है, ज्ञान की आभा से उसका मन एव बुद्धि निश्चल होने लगती है, ससार के प्रति उसमे वैराग्य भाव उद्भूत होता है, साधना के द्वारा उसमे ज्ञान का प्रकाश उदित होता है और वह अपने स्वरूप

१— आप पिछाने आपे आप

—क० ग्रं० पृ० २७२, पद १७०

२— सुरति समानी निरति मे निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले स्यम्भद्वार॥

—क०ग्र० पृ० १२, २२

३— मीठी मीठी माया तजी न जाई। अज्ञानी पुरिषन को भोलिभोलि खाई। वही, १४२
पद २३२

४— माया दीपक नर पतग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़न्त।
कहै कबीर गुरु ज्ञान थें, एक आध उबरन्त॥

—क०ग्रं० पृ० १४२, पद २३२

का चिन्तन करने लगता है।[1] वह अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु कठोर से कठोर साधना में रत होता है। साधना की परिपूर्ण अवस्था मे उसमे समदर्शिता का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसके मन की सभी शकाएँ निर्मूल हो जाती हैं, मन एवं बुद्धि निर्मल हो जाती है। वह विश्व के सभी प्राणियों को समभाव से देखता है और सबके प्रति सद्‌व्यहार करता है। ऐसे समदर्शी साधक में विकारों का लेशमात्र भी चिह्न नहीं रह जाता और वह निष्काम संत हो जाता है।[2] कबीर ने ऐसे जीवों की जिज्ञासु जीव तथा 'साधक जीव' ये दो कोटियाँ मानी हैं। प्रारम्भिक स्थिति जिज्ञासु जीव की होती है और इसी जिज्ञासु जीव को विवेक प्राप्त कर साधना के पथ पर अग्रसर हो जाने पर कबीर ने साधक जीवन की सज्ञा दी है। कबीर के ये जिज्ञासु जीव तथा साधक जीव दोनों ही अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों द्वारा प्रतिपादित अन्तरात्मा के समकक्ष हैं।

अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा वर्णित आत्मा की तृतीय अवस्था परमात्मा की है जिसके दो भेद किए गये हैं—सकलपरमात्मा तथा निकलपरमात्मा। इसी का अनुसरण कर कबीर ने भी मुक्तात्माओं की जीवनमुक्त तथा मुक्त ये दो कोटियाँ निर्दिष्ट की हैं। विभिन्न प्रकार की साधनाओ के द्वारा जिस साधक का चित्त एकाग्र हो जाता है, जो आत्मस्थित हो जाता है और बाह्य विषयो से जिसकी वृत्ति हटकर पूर्णतया अन्तर्मुखी हो जाती है कबीर ने ऐसे साधक आत्मा को जीवन्मुक्त की सज्ञा दी है। जीवन्मुक्त साधक निज स्वरूप में निमग्न रहता है, सशरीर होने पर भी उसे अपने शरीर की सुध बुध नही रहती है और न किसी प्रकार की इच्छा या कामना ही रहती है।[3] कबीर के इस जीवन्मुक्त को हम अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा वर्णित सकल परमात्मा (अर्हन्त भगवान्) की कोटि मे रख सकते हैं।

शुद्ध आत्मा अथवा परमात्मा की द्वितीय अवस्था मुक्तात्मा की है। इस स्थिति में आत्मा अपने चरमलक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। वह अपने नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप को समझ लेता है और अपने स्वरूप मे ही निमग्न रहता तथा आनन्द का अनुभव करता है। इस स्थिति मे ज्ञाता-ज्ञेय, दृष्टा-दृश्य तथा साधक-साध्य का भेद मिट जाता है और आत्मा ब्रह्म के समान हो जाता है, उसके सभी गुण प्रकट हो

१— समुझि विचारि जीव जब देख्या, यहु संसार सुपन कर लेखा।
भई बुधि कछु ज्ञान निहारा, आप आप ही किया विचारा॥
—वही, पृ० २००, पद ३

२— निरबैरी निहकामता, साइं सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहे, संतनि का अंगएह॥
—वही पृ० ४४, पद १

३— मैमंता अविगतरता अकल्प आसा जीति।
राम अमिलि माता रहे, जीवन मुकति अतीति।
—क० ग्रं० पृ० १०, ६

जाते हैं ।[1] कबीर के इस मुक्तात्मा की तुलना अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों द्वारा प्रतिपादित निकल परमात्मा से की जा सकती है।

स्पष्ट है कि आत्मा की उक्त अवस्थाओं का वर्णन करते समय कबीर पर अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों का भी कुछ प्रभाव अवश्य रहा है।

आत्मतत्त्व की एकता— अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों ने शक्ति की अपेक्षा से आत्मा की एकता का प्रतिपादन किया है पर अभिव्यक्ति की दृष्टि से आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। मुनि रामसिंह आत्मा की एकता का प्रतिपादन करते हुए कहते है कि मैं किसकी समाधि करूँ ? किसे पूजूं ? स्पृश्य, अस्पृश्य कहकर किसे छोड़ दूं ? किसके साथ कलह ठानूं ? जहां-जहां देखता हूं वहां-वहां अपना ही तो आत्मा दिखाई देता है।[2] वे पत्तियो, पुष्पों तथा वनस्पतियों तक मे उसी आत्मा की स्थिति मानते है जो मनुष्य के शरीर मे है। अतः वे उन्हे तोडने का निषेध करते हैं।[3] जोइन्दु मुनि ने भी उक्त भाव को व्यक्त करते हुए कहा है कि सभी जीव ज्ञानमय है, जन्म-मरण से रहित है, जीव प्रदेश की अपेक्षा सभी समान है और गुणो की अपेक्षा वे एक हैं।[4]

कबीर ने भी सभी नामरूपात्मक प्राणियों मे एक ही आत्मतत्त्व को व्याप्त माना है। उनका कहना है कि विविध वर्णवाली गायों को दुहने पर उनमे से एक ही रग का दूध निकलता है, अलग-अलग रंग का नही। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के नामरूप ससार मे एक ही आत्म तत्त्व व्याप्त है।[5] यही आत्मतत्त्व घट-घट मे व्याप्त है।[6] अन्यत्र भी आत्मा की एकता पर प्रकाश डालते हुए कबीर ने कहा है कि जैसे जलाशय मे भरा हुआ जल एक है, किन्तु कई घडे लेकर उनमे जलाशय का ही

१— राम कबीरा एक भये हैं, कोई न सके पिछानी ॥ —वही, पृ० २५४, पद ११०

२— कासु समाहि करउ को अचउ।
छोणु अछोपु भणिवि को वन्चउं।
हल सहि कलह केण सम्माणउं।
जहि जहि जोवउ तहि अप्पाणउं॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा १३६

३— पत्तिय पाणिय दब्भ तिल सव्वइ जाणि सवण्णु —वही, १५६

४— जाणा सयल वि णाणमय जम्मणमरणविमुक्क।
जीवपएसहिं सयल सम, सयलवि सगुणहिं एक्क॥
—परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० ९७

५— सोऽह् हमा एक समान, काया के गुण आनहि आन।
माटी एक सकल संसारा, बहुविधि भाडे घड़े कुम्हारा॥
पचबरन दस दुहिएगाइ, एक दूध देखो पतिआइ।
कहे कबीर संसाकरि दूरि, त्रिभुवननाथ रह्या भरपूर॥
—क०ग्रं०, पृ० ९३, पद ५३

तथा— जीउ एक और सकल संसारा, इस मन को रवि कहे कबीरा। —वही, पृ० २८१

६— अवरन अकल एक अविनासी, घट घट आप रहे। —वही

जल भरकर जलाशय मे छोड दिया जाए तो भिन्न-भिन्न घडों में भिन्न-भिन्न आकार का पानी दिखायी पड़ेगा, जबकि पानी सब घड़ों में तथा जलाशय मे एक ही है। भ्रम के कारण ही जलाशय तथा घड़ों के जल भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है। घड़ा फोड देने पर सब जल एक ही हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर माया अथवा भ्रम का नाश हो जाता है और आत्मा अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[1]

कबीर का उक्त सिद्धान्त जैन रहस्यवादी कवियों के शक्ति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से वर्णित आत्मसिद्धान्त के समान ही है। रहस्यवादी जैन चिन्तकों ने बताया है कि सम्यक् दर्शनादि की अभिव्यक्ति होने पर आत्मा विकासोन्मुख हो जाता है। जब आत्मा के सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ये तीनों गुण पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं तो सभी आत्माएँ समान हो जाते हैं। जैन मनीषियों द्वारा विवेचित सिद्धों का स्वरूप अभिव्यक्ति और शक्ति दोनो ही दृष्टि से समान है। अतः कबीर ने जिस घट के फूटने का उल्लेख किया है, वह घट शरीर नही, कर्म है। रागद्वेष और मोह के कारण सचित कर्मबन्ध जब छिन्न हो जाता है, आश्रव और बंध अवरुद्ध हो जाते हैं सवर एव निर्जरा की प्रवृत्ति बढ जाती है तो कर्मबन्ध का विनाश होता है, यही घट का फूटना है और इसी को कृत्स्नकर्मक्षय कहा जाता है।

जब तक सासारिक कर्मसयुक्त आत्माएँ अपने अर्जित कर्मों के फल का अनुभव करते है, तभी तक यह घट अक्षुण्ण रहता है और घट की अक्षुण्णता ही आत्माओं की भिन्नता का मापक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर ने अपभ्रंश कवियो के साथ-साथ जैनो के सस्कृत और प्राकृत मे निबद्ध साहित्य का भी गभीर अध्ययन किया था। यही कारण है कि उनके जल की भिन्नता कर्मबद्ध आत्मा की भिन्नता का सूचक है। कबीर ने मृत्यु के पश्चात् समस्त आत्माओ की समता स्वीकार नही की है। माया या अज्ञान के छिन्न होने पर ही आत्माओ मे एकता या समता उत्पन्न होती है। इसे एक प्रकार से हम जैनो के नयवाद का प्रभाव भी कह सकते है। अपभ्रंश के जैन कवि द्रव्यार्थिकनय से आत्माओ मे अभिन्नता और पर्यायार्थिक नय भिन्नता स्वीकार करते है। यह स्वीकृति कथन करने की एक प्रक्रिया है। नयवाद वस्तु के स्वरूप का विवेचक है। अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही कबीर ने भी आत्मा की समता और एकता का कथन नयवाद की दृष्टि से किया है। कबीर शास्त्रीय परिभाषाओ के बन्धन मे बद्ध होना नही चाहते थे इसी कारण उन्होंने नयवाद का कथन नही किया है।

'जल में कुभ कुभ में जल है' इस कथन मे अद्वैतवादी सिद्धान्त के अनुसार

१– जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यहु तथ कथ्यौ गियानी।
–क० ग्रं० पृ० ६१, पद ४४

आत्मा की व्यापकता भी समाहित है। कबीर का यह कथन वेदान्त से भी प्रभावित है। जैन चिन्तकों ने आत्मा को न तो अणु परिमाण ही माना है, और न वृहद् परिमाण ही। अपितु, संसार अवस्था मे उसे स्वदेह प्रमाण माना है, प्रदेशों के संकोच और विस्तार के कारण जिस शरीर मे आत्मा का प्रवेश होता है, उसी शरीर के आकार मे आत्मा की परिणति हो जाती है।[1]

आत्मतत्त्व की अनन्तता—अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के कारण अपभ्रंश के जैन कवियों ने जीव प्रदेश तथा गुणों की अपेक्षा सभी आत्माओ मे समानता तथा एकता स्थापित करते हुए भी अनन्त आत्माओं के अस्तित्त्व को स्वीकार किया है, जो सभी आत्म ज्ञान होने पर कर्ममल से विमुक्त होकर परमात्मा बन सकते हैं।[2] कबीर ने भी जीवतत्त्व की एकता को स्वीकार करते हुए भी उसे एक या अनेक की संख्या से परे संख्यातीत कहा है।[3]

आत्मा तथा परमात्मा की एकता—अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियो ने अनेक स्थलों पर आत्मा को परमात्मा के समकक्ष घोषित किया है। जोइन्दु मुनि का कथन है कि हे योगी जो ज्ञानमय परमात्मा है, वह मै ही हूँ. और जो मैं हूँ, वही उत्कृष्ट परमात्मा है, ऐसा विचार कर।[4] अन्यत्र वे बीज तथा वटवृक्ष के उदाहरण द्वारा भी आत्मा तथा परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार वट के वृक्ष मे बीज स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है और बीज मे भी वृक्ष रहता है, उसी प्रकार देह में भी उस देव को विराजमान समझो।[5] वे आत्मा को शिव. शकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध जिन, ईश्वर, ब्रह्मा, अनन्त तथा सिद्ध आदि अनेक नामों से निर्दिष्ट परमात्मा मानते हैं।[6]

अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही कबीर ने भी अनेक स्थलो पर आत्मा को ब्रह्म के समकक्ष घोषित किया है। 'निजस्वरूप निरजना निराकार अपरगार

१- प्रदेशसंहार विसर्पाभ्या प्रदीपवत्।
-तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी। पचम अध्याय

२- ते वंदउं सिरि सिद्धगण होसहि जे वि अणतु।
-परमात्मप्रकाश २

३- बहुत ध्यान के खोजिया, नहिं तेहि संख्या आय॥
-कबीर बीजक, पृ० ८६

४- जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणतु।
जो हउं सो परमप्पु पर एहउ भावि णिभंतु॥
-परमात्मप्रकाश, द्वित० अ० १७५

५- जं वडमज्झह बीउ फुडु बीयहं वडु विहु जाणु।
तं देहहं देउ वि मुणहि, जो तइलोय पहाणु॥
-जोइन्दु, योगसार, ७४

६- सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धु॥
-वही, १०५

अपार' से भी यही ध्वनित होता है।[1] इसके अतिरिक्त 'सोऽहं हंसा एक समान'[2] के द्वारा भी मैं और वह अर्थात् आत्मा और ब्रह्म एक ही जैसे घोषित किए गये हैं। एक स्थल पर दरिया तथा लहर के द्वारा भी आत्मा तथा परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करते हुए कबीर कहते हैं कि दरिया मे उठने वाली लहर भी दरिया ही है, दरिया मे लहर को भिन्न नही कहा जा सकता। वही जल दरिया में है और वही लहर में, फिर लहर के कहने से क्या नीर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार एक ही आत्मतत्त्व आत्मा तथा परमात्मा दोनों रूपो मे व्याप्त है। आत्मा में परमात्मा का अभाव नहीं है और न परमात्मा में आत्मा का अभाव है।[3] अपभ्रंश के जैन कवियो के समान वे बीज तथा वटवृक्ष के उदाहरण द्वारा भी आत्मा तथा परमात्मा की एकता का निरूपण करते है। उनका कहना है कि जिस प्रकार वृहद्काय वटवृक्ष एक अत्यन्त छोटे से बीज मे अन्तर्निहित होता है और वही वृक्ष के रूप मे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे भी परमात्मा निहित है।[4]

इस प्रकार कबीर मे अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों के आत्म विचार से मिलती जुलती अनेक बातें पायी जाती हैं, जो कबीर पर अपभ्रंश के जैन कवियो का प्रभाव सिद्ध करने के लिए महत्वपूर्ण है।

३. अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों का जगत् विचार और कबीर

इस दृश्यमान जगत् का स्वरूप कैसा है? इसका अस्तित्व वास्तविक है अथवा प्रातिभासिक? यह नित्य है या अनित्य? आदि है कि अनादि? इन प्रश्नो पर प्रत्येक रहस्यवादी कवियो ने विस्तार से विचार किया है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का निरूपण किया है। अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियो तथा कबीर ने भी जगत् सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किये है। यहाँ दोनो के विचारो मे कितनी समानता तथा असमानताएँ हैं? यह विचारणीय है।

जगत् की वास्तविक सत्ता—अपभ्रंश के जैन कवियो के मतानुसार जगत् की

१- क० ग्र० पृ० १६५

२- वही, पृ० ६३, पद ५३

३- दरियाव की लहर दरियाव है जी दरियाव और लहर भिन्न कोयम्।
उठे तो नीर है बैठता नीर है, कहो किस तरह दूसरा होयम्।।
उसीका नाम फेर केलहर धारो, लहर के कहे क्या नीर खोयम्।
—कबीर वचनावली, पृष्ठ १३२, पद ८०

४- साधो सतगुरु अलख लखाया, आप आप दरसाया।
बीज मधे ज्यो वृक्षा दरसे, वृक्षा मध्ये छाया।
परमातम में आतम तैसे, आतम मध्ये माया।।
—कबीर वचनावली, पृष्ठ १२६

सत्ता व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक न होकर वास्तविक है। उनके मतानुसार संपूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण षड्द्रव्यों से हुआ है, ये छहों द्रव्य अनादि हैं। इनका कोई कर्त्ता नहीं है, ये उत्पत्ति और विनाश से रहित हैं।[1]

जैन दृष्टिकोण से द्रव्य का लक्षण सत् है[2], वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है[3], तथा गुण और पर्याय सहित है।[4] गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य। अतः गुण की दृष्टि से द्रव्य नित्य हैं, किन्तु पर्याय की दृष्टि से उनमे उत्पाद और विनाश होता रहता है। गुण तथा पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होते और द्रव्य के बिना गुण तथा पर्याय की कल्पना नही की जा सकती। अतः द्रव्य नित्य और अपरिवर्तनशील है तथा पर्यायें परिवर्ति होती रहती हैं। उदाहरण के लिए मिट्टी से निर्मित घट को लिया जा सकता है। जब मिट्टी मे घट का निर्माण होता है तो मिट्टी का पिण्डरूप पर्याय विनष्ट होता है और घट की उत्पत्ति होती है किन्तु, मिट्टी द्रव्य ज्यों का त्यों अपरिवर्तित रहता है।

इन षड्-द्रव्यों का जोइन्दु कवि ने विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने सम्पूर्ण द्रव्यों के दो विभाग किये हैं—एक सचेतन द्रव्य तथा द्वितीय अचेतन द्रव्य। जीवद्रव्य सचेतन है तथा अन्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये पाँच अचेतन द्रव्य हैं।[5]

जीव द्रव्य—जीव द्रव्य ही आत्मतत्त्व है, इसके अतिरिक्त अन्य सभी तत्त्व पर पदार्थ हैं और यही ससार है।

पुद्गल द्रव्य—यह समस्त दृश्यमान जगत् पुद्गल का विस्तार है। आचार्य कुन्दकुन्द के मतानुसार इन्द्रियो के भोगने योग्य समस्त पदार्थ, पाँचो इन्द्रियाँ, पाँचो प्रकार के शरीर, मन तथा आठों कर्म आदि जितने भी मूर्त्त पदार्थ है, सब पुद्गल ही है।[6] स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम आदि

१- दव्वइ जाणहि ताइँ छहसि हु यणि भरियउ जेंहि।
आइविणास विवज्जियहिं णाणिहि पभणिय एँहिं।
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, १६

२- सद् द्रव्य लक्षणम्
—उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, पंचम अध्याय, २९

३- उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् —वही, ५, ३०

४- गुणपर्ययवद् द्रव्यम् —वही, ५, ३८

५- जीउ सचेयणु दव्वु मुणि पंच अचेयण अण्ण॥
पोग्गलुधम्माधम्मु णहु काले सहिया भिण्ण॥
परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० १७

६- उवभोज्जमिंदिएहिं य इन्दियकायामणोमकम्माणि।
ज हवदि मुत्तमण्ण त सव्व पोग्गल जाणे॥
—आचार्य कुन्दकुन्द, पंचास्तिकाय, ८२

इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य हैं ।[1] पुद्गल द्रव्य जीव से अनन्त गुणे हैं । इनमे अपूर्वशक्ति है, ये जीव के केवलज्ञान स्वभाव को भी नष्ट कर देते हैं ।[2] रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि पुद्गल के गुण हैं । हम जो कुछ देखते हैं, सूंघते हैं, स्वाद लेते हैं और स्पर्श करके अनुभव करते हैं, वह सब पुद्गल ही हैं । रक्त, पीत, कृष्ण आदि वर्ण, अम्ल, तिक्त, कषाय, कटु, क्षार, मधुर आदि रस, सुगधि तथा दुर्गंधि एव सूक्ष्म, स्थूल, लघु, गुरु, लम्ब, वक्र, प्रकाश, अधकार, छाया, आतप आदि सब पुद्गल के ही पर्याय है । जोइन्दु मुनि के अनुसार पुद्गल के छह भेद हैं—(१) बादर बादर (२) बादर (३) बादर सूक्ष्म (४) सूक्ष्म बादर (५) सूक्ष्म तथा (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म । बादर बादर वे पदार्थ हैं जिनके टुकड़े होकर पुन: नहीं जुडते, जैसे काष्ठ, पाषाण, तृण आदि । जल, घृत, तेल आदि बादर हैं, जो अलग होकर पुन: मिल जाते है । छाया, आतप, चांदनी आदि बादरसूक्ष्म है, जो देखने मे बादर हैं किन्तु ग्रहण करने मे सूक्ष्म हैं । नेत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय रस तथा गन्धादि सूक्ष्मबादर हैं, जो देखने मे नही आते, किन्तु ग्रहण किए जाते है । कर्मवर्गणा सूक्ष्म है, दृष्टि मे नही आते तथा परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म हैं, क्योकि इनका दूसरा भाग नही हो सकता ।[3] ये सभी मूर्त्तीक हैं ।[3] ये जीव से सर्वथा भिन्न है । किन्तु, सामान्यतया जीव यह नही जान पाता और पौद्गलिक कृत्यों को ही अपने कृत्य समझता है तथा दु:खी होता है ।

धर्म तथा अधर्म द्रव्य—जैन दर्शन मे धर्म तथा अधर्म द्रव्य एक विशिष्ट प्रकार के तत्त्व माने गये है । ये जीव तथा पुद्गल की गति एवं स्थिति मे सहायता करते है । जीव तथा पुद्गल दोनो गतिशील द्रव्य है, धर्मद्रव्य उनकी गति मे सहायता करता है, अधर्म द्रव्य उनकी स्थिति मे सहायक होता है । किन्तु, ये दोनो द्रव्य स्वयं न किसी वस्तु को गतिशील बनाते हैं न स्थितिशील अपितु, स्वयं गतिमान् वस्तु को गमन करने मे तथा स्वयं स्थित वस्तु को ठहरने मे सहायता करते हैं । जिस प्रकार मछली स्वय गमनशील है, उसकी गति मे जल सहायक है और ग्रीष्म मे तप्त यात्री स्वय ठहरता है, छाया उसके ठहरने मे सहायक मात्र है, उसी प्रकार धर्म तथा अधर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गल को गमन करने तथा ठहरने मे केवल सहायक ही सिद्ध होते हैं ।[4]

१– जे इन्दियेहि गिज्झं रूवरसगन्धफासपरिणामं ।
तं चिय पुग्गलदव्वं, अणंतगुणं जीवरासादो ।।
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, स्वामि कार्तिकेय, २०७

२– कावि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवलणाणसहाओ, विणासिदो जाइ जीवस्स ।।
—कार्तिकेयनुप्रेक्षा, स्वामि कार्तिकेय, २११

३ पुग्गल छव्विहु मुत्तु वढ इयर अमुत्तु ।।
—परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० १९

४– धम्माधम्मुवि गइठियहं कारणु पभणहि जाणि ।
—परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० १९

आकाश द्रव्य—संपूर्ण द्रव्यों को अवकाश देनेवाला आकाश द्रव्य है, यह अमूर्तीक और सर्वव्यापी है। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश तथा अलोकाकाश। जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म आदि द्रव्यों की गति, स्थिति आदि लोकाकाश मे ही होती है, अलोकाकाश शून्य है, वहां अन्य किसी द्रव्य का गमन नहीं होता।[1]

काल द्रव्य—द्रव्यों के परिणमन मे सहायक वर्तना लक्षण वाला कालद्रव्य है जिस प्रकार रत्नो की राशि में सभी रत्न पृथक्-पृथक् रहते है, एक दूसरे से मिलते नही है, उसी प्रकार काल के अणु भी पृथक्-पृथक् रहते है। एक कालाणु दूसरे कालाणु से नहीं मिलता। भूत, भविष्यत् वर्तमान आदि काल की ही पर्यायें है। काल द्रव्य अनादि है, पर्यायें बदलती रहती है।[2]

जीव पुद्गल तथा काल छोडकर शेष धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीनों द्रव्य अपने प्रदेशों से अखण्डित है।[3] धर्म तथा अधर्म ये दोनो द्रव्य असख्यात प्रदेशी हैं, आकाश द्रव्य अलोक की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी है और लोक की अपेक्षा असख्यात प्रदेशी है। पुद्गल के प्रदेश बहुत प्रकार के है। परमाणु एक प्रदेशी है तथा स्कध सख्यात प्रदेश, असख्यात प्रदेश तथा अनन्त प्रदेशी होते है।[4] ये सभी द्रव्य लोकाकाश में स्थित है, एक ही क्षेत्र मे रहते है तो भी वे अपने-अपने गुणो मे ही निवास करते हैं, परद्रव्यो मे नही मिलते है।[5]

ये सभी द्रव्य अपने-अपने कार्य को करते रहते है। पुद्गल द्रव्य जीवो मे मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय तथा रागद्वेषादि के भाव भरता रहता है, धर्मद्रव्य गति मे सहायता पहुँचाता है, अधर्मद्रव्य स्थिति मे सहायक बनता है, आकाश द्रव्य अवकाश देता है और काल द्रव्य अशुभ परिणामो की उत्पत्ति मे सहायता करता है। इसी कारण जीव चारो गतियो मे भ्रमण करता तथा निरन्तर दुःख सहन करता रहता है।[6]

१– दव्वइ सयलइ वरि ठियइ णियमे जासु वसंति।
तणु दव्वु वियाणि तहु जिणवर एउ भणंति॥ —परमात्मप्रकाश २०

२– कालु मुणिज्जहि दव्वु तुहु वट्टण लक्खणु एउ।
रयणह रासि विभिन्न जिमि, तसु अणुयह तहं भेउ॥
—परमात्मप्रकाश २१

३– जीउ वि पुग्गलु कालु जिय ए मेल्लेविणु दव्व।
इयर अखंड वियाणि तुहु अप्पपएसहिं सव्व॥
—वही, २२

४– धम्माधम्मुवि एक्कु जिय ए जि असखप्रदेश।
गयणु अणतुपए सुमुणि बहु विह पुग्गल देस॥
—वही, २४

५– लोयागासु धरेवि जिय कहियइ दव्वइ जाइ।
एक्कहिं मिलियइ इत्थु जगि सगुणहिं णिवसहिं ताइं॥ —वही, २५

६– एयइं दव्वइं देहियह णियणिय कज्ज जणंति।
चउ गइदुक्ख सहत जिय, ते ससारु भमंति॥ —परमात्मप्रकाश २६

अपभ्रंश के जैन कवियों ने उक्त प्रकार से संसार का विस्तृत विवेचन कर उसकी वास्तविक सत्ता स्वीकार की है। किन्तु उन्होने ससार को आत्मद्रव्य से सर्वथा भिन्न स्वभाववाला सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ससार के दुःखद तथा विनाशीक स्वभाव का निरूपण करते हुए प्राणिमात्र को आत्मकल्याण के लिए इनसे विमुख रहने का उपदेश दिया है।

कबीर ने जगत् की व्यावहारिक सत्ता मानी है और भौतिक क्रियाओं के अनुसार उन्होने उसे सादि मानकर उसकी उत्पत्ति का भी विस्तृत विवेचन किया है। किन्तु जगत् के व्यवहार के लिए ही कबीर ने जगत् का करना, माया की रचना, जगत् उत्पन्न करना, कारीगर ने संसार बनाया आदि शब्दो का प्रयोग किया है।[1] स्पष्ट करने के लिए कबीर ने स्वयं कह दिया है कि ये सब जगत् के व्यवहार के लिए है।[2] डा० रामजीलाल सहायक ने कबीर के सृष्टि उत्पत्ति सम्बन्धी विचार को व्यक्त करते हुए लिखा है—बनाना, रचना आदि शब्द भौतिक क्रियाओ के विषय मे प्रयुक्त होते हैं। अतः संसार कब बना और किसने बनाया ? आदि प्रश्न ही त्रुटिपूर्ण है। यह ससार प्रवाह रूप में अनादि है। इसमें परिवर्तन, आविर्भाव तथा तिरोभाव होते रहते है। जगत् की निरपेक्ष उत्पत्ति तथा निरपेक्ष विनाश एक परिकल्पना है और जगत् के व्यवहार के लिए है।[3]

यद्यपि कबीर ने जगत् की वास्तविक सत्ता न मानकर व्यावहारिक सत्ता मानी है और व्यवहार के लिए ही उन्होने उसकी रचना आदि की और भी सकेत किया है, तो भी जगत् विनश्वरता तथा उसके दुःखद स्वभाव का विवेचन उन्होंने अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियो के समान ही किया है।

सांसारिक पदार्थों की क्षणभंगुरता—सामान्यतः मनुष्य अज्ञान के कारण सासारिक पदार्थों तथा सम्बन्धो को ही स्थायी समझकर धन तथा परिजन के मोहवश अनेक प्रकार के उचित अनुचित कार्य करता रहता है। आत्म साधना के लिए पर्याय दृष्टि से भौतिक पदार्थों की क्षणभगुरता तथा सासारिक पदार्थों की अवास्तविकता का ज्ञान आवश्यक है। जब साधक को यह विश्वास हो जाता है कि धन, परिजन आदि के मोह से क्लेशो की वृद्धि होती है, कर्मों का जजाल बढता है तथा आत्मा बन्धन मे फँसता है, तो वह इनसे दूर हटने की चेष्टा करता है, इनको अवरोधक तत्त्व

१— एक विनानी रच्या विनान, सब अयान जो आपे जान।
सत रज तम थैं कीन्ही माया, चारि खानि विस्तार उपाया।।
पच तत ले कीन्ह बधान, पाप पुनि मान अभिमान।
अहकार कीन्हे माया मोह' सपति विपति दीन्ही सबकाहू।।
—क० ग्र० पृष्ठ १६६

२— नेना बैन अगोचरी, श्रवणा करणी सार।
बोलन के मुख कारणें, कहिये सिरजन हार।।
—क० ग्रन्थ पृष्ठ २०७

३— डा० रामजीलाल सहायक, कबीर दर्शन, पृष्ठ २२४

समझकर इनसे मुक्ति की कामना करता है।

सभी जैन कवियों में सांसारिक क्षणभंगुरता के उद्गार मिलते हैं। वास्तव में संसार में जो उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश अवश्यभावी है, जन्म के साथ मरण, युवावस्था के साथ वृद्धावस्था और प्राप्ति के साथ विनाश अभिन्न रूप से संयुक्त हैं। परिजन, स्वजन, पुत्र, कलत्र, मित्र आदि नवीन मेघाडम्बर के समान हैं। समस्त इन्द्रियों के विषय चपला के समान चपल हैं। बन्धु बान्धओं का संयोग मार्ग मे पथिकों के मिलन के समान अस्थायी है, माया जाल है, किन्तु, अज्ञानी इन्हे अपना समझकर इनसे मोह करता है।[1] जोइन्दु मुनि कहते हैं कि हे मूर्ख ! इस ससार को तू अपना गृहवास न समझ, यह तो पापों का निवास स्थान है। यमराज ने अज्ञानी जीवो को बाँधने के लिए अनेक पापो से युक्त एक सुदृढ़ बन्दी गृह बनवाया है। इस संसार में तो यह शरीर भी अपना नही है, इसे सुन्दर बनाने का कितना ही प्रयत्न किया जाए, स्वस्थ रखने के कितने उपाय किए जाएँ किन्तु, एक न एक दिन यह कच्चे घड़े के समान फूट ही जाएगा। जहाँ शरीर भी अपना नही, वहाँ अन्य पदार्थ तो अपने हो ही कैसे सकते है ?[2] जोइन्दु मुनि शरीर को दुष्ट व्यक्ति के समान समझते हैं, जिसे अनेक प्रकार से सुसज्जित करने का प्रयत्न किया जाता है, तैलादि से जिसका मर्दन किया जाता है, विविध प्रकार शृगार किये जाते है, सुमिष्ट आहार से परितृप्त किया जाता है, तो भी वह अन्त मे धोखा ही देता है।[3] अपभ्रंश के जैन कवि सुप्रभाचार्य का कथन है कि हे प्राणी। तू समस्त धन धान्य स्त्री पुत्र कुटुम्बादि परिग्रह को परपदार्थ समझकर इनका गर्व न कर, यह जीवन क्षणिक है, एक दिन सम्पूर्ण धन धान्य कुटुम्बादि को छोड़कर तुझे अकेले ही श्मशान भूमि मे जाना पडेगा।[4]

ससार की अस्थिरता का वर्णन करते हुए सुप्रभाचार्यजी कहते हैं कि "हे जीव ! तू दश प्रकार के धर्मों से विचलित न हो। क्योंकि ससार की सभी वस्तुएँ

१— जणणी जणणु वि कन्त घरु पुत्तु बिमित्तु वि दव्वु।
मायाजालु वि अप्पणउ, मूढइ मण्णइ सव्वु ॥
-परमात्मप्रकाश, ८३

२— घरवासउ मा जाणि जिय दुक्कियवासउ एहु।
पासु कयन्ते, मण्डियउ, अविचलु णिरसन्देहु ॥
देहुवि जित्थु ण अप्पणउ, ताहि अप्पण उँकि अण्णु ॥
परकारणि मण गुरु व तुहं सिवसंगमु अवगण्णु ॥ —परमात्मप्रकाश, १४४, १४५

३— उव्वलि चोप्पडि चिट्ठकरि देहि सुमिट–ठाहार।
देहहं सयल णिरत्थ गय, जिमि दुज्जन उवयार ॥
—परमात्मप्रकाश, १४८

४— ईसरगव्वु मा उवहहि सयलपरायउ जाणि।
चलुजीविउ सुप्पउ भणइ, पिउवणु तुव अवसाणि।
—जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १७, किरण १ के अन्तर्गत वैराग्यसार प्राकृतदोहाबन्ध, ४७

क्षणभंगुर हैं, जीवन भी क्षणिक है। जो लोग सूर्योदय के समय धवलगृह में रहते हैं, वे ही सूर्यास्त के समय श्मशान घाट पर दिखाई देते है।[1] जब संसार में सूर्य तथा चन्द्र को भी अस्त होना पड़ता है तो फिर अन्य कौन स्थिर रह सकता है।[2] जिसके लिए धन धान्यादि का संग्रह किया जाता है, वह शरीर भी जब अस्थिर है, दिन दिन क्षीण होता रहता है तो फिर अन्य वस्तुएँ ही कैसे स्थिर हो सकती है ?[3] यह शरीर भी तभी तक हृष्ट पुष्ट और सुन्दर दिखाई देता, जब तक इसे जरा रुपी डाकिनी नही खाती।[4] सम्पत्ति सदैव किसी के पास स्थिर होकर रहने वाली नही है। यदि सम्पत्ति स्थिर होती तो तीर्थंकर चक्रवर्ती तथा शलाकादि पुरुष, जिनके पास अपार विभूति थी, सम्पत्ति का त्याग कर तप करने क्यों जाते ?[5] जोइन्दु मुनि का कथन है कि एक ब्रह्म को छोड़कर इस संसार की समस्त वस्तुएँ क्षणभगुर है। देवता देवालय, शास्त्र, गुरु, तीर्थ वेद, काव्य आदि समस्त वस्तुएँ विनश्वर है, केवल आत्मा ही अमर है।[6]

अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियो के समान ही कबीर ने भी इस ससार को क्षणिक और विनश्वर माना है। उनके विचार से यह ससार स्वप्न के समान है। जिस प्रकार प्रगाढ निद्रा मे मनुष्य भाँति-भाँति के स्वप्न देखता है, किन्तु जागने पर वे स्वप्न उसके लिए व्यर्थ हो जाते है, क्षण भर के लिए ही वे सत्य से प्रतीत होते

१- सुप्पउ भणइ रे धम्मियहु मा खसहु धम्मणियाणि।
जें सूरुग्गमि धवलहरि ते अथवणि मसाणि॥
—जैनसिद्धान्त भास्कर भाग १६, किरण २ के अन्तर्गत, वैराग्यसार प्राकृतदोहाबन्ध २

२- ससिसूरदुहु अथवणि अणहु कवणथिरत्तु॥
—वही, ३

३- जसु कारणि धणु सन्चइ णवकरेवि गहोरु।
त पि छहु सुप्पउ भणइ दिणि दिणि गलइ सरीरु॥
—वही, ३१

४- ताउज्जलता दिढ कलिणु पुरिस सरीर सहेइ।
जामण सुप्पउ सगणमण जरडाइणि लग्गेइ॥
—जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १७ किरण १ के अन्तर्गत वैराग्यसार प्रकृतदोहाबन्ध ४१

५- जइ थिरु सम्पय धरि वसइ तादिज्जइ रे भाइ।
वसवसहं सुप्पउ भणइ कहविण णिच्चल ठाइं॥
—वही, ४०

६- देउलु देउ वि सत्थु गुरु, तित्थु वि वेउवि कव्वु।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ, इन्धनुहोसइ सव्वू॥
एक्कु जि मेल्लिवि बम्भु परु, भुवणुवि एहु असेसु।
पुहविहिं णिम्मिउ भंगुरउ एहउ बुज्झि विसेसु।
—परमात्मप्रकाश, द्वितीय अ० १३०, १३१

हैं उसी प्रकार यह संसार है।[1]

कबीर ने इस ससार को सेंमल के फूल के समान कहा है। सेंमल का फूल तनिक सा ठसका लगते ही टूट जाता है, इसी प्रकार यह ससार भी विनश्वर है। इसके असत्य स्वरूप मे उलझना व्यर्थ है।[2] इस संसार मे जो आया है, वह जाएगा भी अवश्य, जो फूल फूला है वह कुम्हलाएगा ही, जो चिना गया है वह ढहेगा भी अवश्य ही।[3] यह जीवन तो पानी के बुलबुले के समान क्षणभगुर है, यह तो एक दिन ऐसे ही नष्ट हो जाएगा जैसे प्रात:काल आकाश के तारे छिप जाते हैं।[4] संसार मे मनुष्य स्त्री, पुत्र, धन्य, धान्यादि विनाशीक वस्तुओ को सुखद मानकर उसमे मग्न रहता है, किन्तु उसे यह ज्ञात नही कि यह सारा ससार काल के हाथ मे रखे हुए चने के समान है, जिनमें से कुछ का उसने भक्षण कर लिया और कुछ का भक्षण करने वाला है।[5] मनुष्य के जीवन का एक क्षण के लिए तो विश्वास ही नही है कि काल कब आकर बाज पक्षी की तरह झडप लेगा, लेकिन वह न जाने कब--कब के लिए धन संचय के प्रयत्न में सलग्न रहता है।[6] इस संसार में कुछ भी सार नही है, यह कभी तो मधुर प्रतीत होता है और कभी खारा। यहाँ कल जो मडप मे बैठा दीख रहा था, वही आज श्मशान भूमि मे दिखाई देता है।[7] इस ससार मे बडे-बडे राजा महाराजा भी स्थिर नही रहे तो साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या है ? यह ससार तो देखते-देखते ही नष्ट हो जानेवाला है।[8] संसार के विभिन्न सम्बन्धी भी

१- समुझि विचारि जीउ जब देखा, यहु ससार सुपन करि लेखा।
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ २००

२- यहु संसार ऐसा है, जैसा सेंमल फूल। दिन दस के व्योहार मे झूठे रग न भूल।।
—वही, पृष्ठ १८, १३

३- जो ऊग्या सो आथवे, फूल्या सो कुम्हिलाइ।
जो चिणिया सो ढहि पडे, जो आया सो जाइ।। -वही, पृष्ठ ६५, ११

४- पानी केरा बुदबुदा, इसी हमारी जाति।
एक दिना छिप जायगे, ज्यू तारा परभात। -वही, पृष्ठ ६५, १४

५- झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।
खलक चबीणा कालका कुछ मुखमे कुछ गोद।। -वही, पृष्ठ ६३, १

६- कबीर पल की सुधि नही, करे काल्हि का साज।
काल अच्यता झड़पसी, ज्यूं तीतर को बाज।। -वही, पृष्ठ ६४, ६

७- कबीर यहु जग कुछ नही, षिन खारा षिन मीठ।।
काल्हि जु बैठा माडिया, आज मसाणा दीठ।। -वही, पृष्ठ ६५, १५

८- लका सा कोट समुद्र सी खाई, तिहि रावण घर खबरि न पाई।
क्या मागे कछु थिरु न रहाई, देखत नयन चल्यो जग जाई।।
एक लाख पूत सवा लाख नाती, तिहि रावण घर दिया न बाती।
चन्द सूर जाके तपत रसोई, बैसन्तर जाके कपरै धोई।
गुरु मति रामै नाम बसाई, अस्थिर रहे न कतहूँ जाई।।
-क० ग्रन्थ पृष्ठ २८६ परिशिष्ट, पद १८५

अपने नहीं हैं, उनके साथ तो हमारा सम्बन्ध ऐसे ही है जैसे एक वृक्ष पर रात्रि मे बहुत से पक्षी आकर विश्राम करते हैं, किन्तु प्रभात होते ही सब उड़कर पृथक्-पृथक् दिशा में गमन कर जाते हैं, पुन: उनका मिलन नहीं होता। सम्बन्धियो की मृत्यु हो जाने पर भी रुदन करना व्यर्थ है, जब अपना जीवन ही निश्चित नहीं है तो दूसरे के लिए क्या चिन्ता की जाए ? यहाँ जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु भी अवश्यभावी ही है, फिर रुदन किस बात का ?[1] शरीर की क्षणभगुरता पर प्रकाश डालते हुए कबीर कहते है कि यह शरीर तो धूलि को एकत्रित करके बाँधी हुई पुडिया के ममान है, चार दिनो के लिए यह स्वस्थ सुन्दर दिखाई देता है, किन्तु अन्त मे यह जिम धूलि मे निर्मित हुआ है उसी मे मिल जाएगा।[2] इस शरीर का चाहे कितने भी यत्न से पालन पोषण किया जाए, चोवा चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यो से सजाया जाए. किन्तु, मृत्यु के उपरान्त तो इसे काष्ट के साथ अग्नि मे ही जलना है।[3]

संसार का दु.खद स्वभाव—संसार का स्वभाव दुःखद है। यह देखने मे तो सुखद प्रतीत होता है, किन्तु इसका परिणाम सदा दु खद ही होता है। अपभ्रंश के जैन कवियो ने अनेक प्रकार से इसके दु खद स्वभाव का वर्णन किया है। मुनि रामसिंह कहते है कि इस ससार मे सुख तो केवल दो दिनो के लिए ही मिलता है, इसके बाद तो दु खो की परिपाटी ही देखने को मिलती है। अत: हे हृदय ! तू सच्चे हितकारी मार्ग पर लग।[4] जोइन्दु मुनि भी ससार के दुःखो का उल्लेख करते हुए कहते है कि हे जीव, तू ससार मे भटकते हुए महान् दु.ख प्राप्त करेगा। अत: ज्ञानावरणादि

१– रे मन नरा कोई नहीं, खिंचि लेइ जिनि भारु।
विरख बसेरो पन्छि को, तैसो इहु ससारु ॥
राम रस पीआरे जिहि रस विसरि गये रस अउर ॥
अउर मुए किआ रोईऔ, जउ आपा थिरु न रहाइ।
जो उपजै मो विनसि है, दु ख करि रोवै बलाइ ॥
-डा०, रामकुमार वर्मा. सन्त कबीर, पृष्ठ ६०७, राग गउड़ी, पद ६४

२– कबीर धूलि सकेलि कै, पुड़िया बधी एह।
दिवस चारि का पेषणा, अंति षेह की षेह ॥
–क० ग्रन्थ पृष्ठ ६९ चितावणी को अग २०

३– अनिकजतन करि काइआ पाली।
मरती बार अगिनि सग जाली।
चोवा चन्दनु मरदन अगा।
सो तनु जले काठ के संगा ॥
-डा० रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, पृष्ठ १३

४– सुक्खअड़ा दुइ दिवहडइ, पुणु दुक्खहं परिवाडि।
हियड़ा हउ पइं सिक्खविमि, चित्त करिज्जहि वाडि ॥
-रामसिह, पाहुड़ दोहा, १०६

आठों कर्मों को नष्ट कर सर्वश्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त कर।[1] जब तू अणु मात्र भी दुःख को सहन करने में समर्थ नहीं है तो नरकादि गतियों के दुःखों के कारण कर्मों को क्यों करता है ?[2] जब तक जीव को ज्ञान की प्राप्ति नही होती, वह पुत्र कलत्रादि के मोह से मोहित होकर चौरासी लाख योनियों में भटकता तथा दुःख पाता रहता है।[3] विषय सुखो के दुःखद स्वभाव का विवेचन करते हुए मुनि रामसिंह कहते हैं 'हे जीव ! तू विषयों का सेवन न कर, विषय कभी अच्छे नही होते, सेवन करते समय तो ये मधुर प्रतीत होने हैं, किन्तु अन्त मे ये दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं'।[4]

कबीर के विचार से भी भौतिक जगत् दुःखमय है। मनुष्य इसमें उलझ-पुलझ कर अनेक प्रकार के दुःख, संताप, क्लेश, तथा व्याधियो का ग्रास बनता है। यहाँ कोई निर्धनता से दुःखी है तो कोई धन लिप्सा से व्याकुल है, कोई क्रोध कामाग्नि में झुलस रहा है तो कोई तृष्णा के पीछे भागा फिरता है। एक क्षण के लिए भी यहाँ शान्ति एवं सुख का नाम नही है। अतः कबीर इस जगत् को दुखो का भांडार कहते हैं। जिन लोगो पर भगवान् की क्रूर दृष्टि रहती है, वे इसके दुःखो मे ही व्याकुल रहते है।[5]

निष्कर्ष यह है कि कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियों के समान जगत् की वास्तविक सत्ता को न मानते हुए भी उसकी विनश्वरता तथा दुःखद स्वभाव को पूर्णतः स्वीकार किया है। इस दृष्टि से कबीर के जगत् सम्बन्धी विचारो पर अपभ्रंश के जैन कवियो का भी यत्किंचित् प्रभाव परिलक्षित होता है।

४. अपभ्रंश के जैन कवियों का कर्मसिद्धान्त और कबीर

अपभ्रंश के जैन कवियों के मतानुसार आत्मा कर्मबन्धन के कारण अनादिकाल से भटक रहा है। इसी कारण वह सासारिक सुखों को अपना सुख तथा सांसा-

१- पावहि दुक्खु महतु तुहु जिय ससारि भमतु।
अट्ठवि कम्मवि णिद्दलवि, वच्चहि मुक्खु महतु॥
-परमात्मप्रकाश, ११६

२- जिय अणु मित्तु वि दुक्खडा सहण ण सक्कहि जोइ।
चउगइ दुक्खहं कारण हं कम्मइं कुणहिकि तोइ॥
—परमात्मप्रकाश, १२०

३- जोणि लक्खइं परिभमइ, अप्पा दुक्खु सहतु।
पुत्तकलत्तहं मोहियउ, जाव ण णाणु महंतु॥
—वही, १२२

४- विसया चिंति म जीव तुहु विसय ण भल्ला होंति।
सेवताह महुर वढ पच्छइ दुक्खइं दिंति॥
—रामसिंह पाहुड़दोहा, २००

५- दुनियां भांडा दुःख का भरी मुहामुह भूष।
अदया अलह राम की कुरहे, ऊंणी कूष॥ —क० ग्रन्थ पृष्ठ २२, ४७

रिक दुःखों को ही अपना दुःख समझ रहा है। जीव और कर्म का यह सम्बन्ध अनादि है। जीव कर्मों को उत्पन्न नहीं करता और न कर्म ही जीव को उत्पन्न करते हैं। क्योंकि दोनों ही अनादि हैं।[1] शुद्ध निश्चयनय से तो आत्मा सदैव वीतराग चिदानन्द स्वभाववाला है। किन्तु, व्यवहारनय से वह कर्मों के कारण ही अनेक प्रकार से रागद्वेषादि रूप परिणमन करता है। इसी से वह पुण्य और पाप के बन्धन में बँधता है।[2]

अपभ्रंश के जैन साहित्य में कर्म को केवल क्रिया के रूप में ही नहीं अपितु, एक वास्तविक पदार्थ के रूप में माना गया है। योग और कषाय ही कर्मबन्धन के कारण हैं। योग कर्मों को लाते हैं और कषाय उनका आत्मा से सम्बन्ध कराते हैं। रागद्वेष आदि मानसिक विकारों के कारण जो परमाणु आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं वे ही कर्म है और वही संसार परिभ्रमण के कारण हैं।[3]

कर्मों के कारण ही आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा संपूर्ण शुभ–अशुभ संकल्प–विकल्पों से संयुक्त होकर नरकादि चारों गतियों के संताप सहता है। सुख–दुःख तथा बंध मोह आदि सभी कर्मों के द्वारा उत्पन्न होते हैं, आत्मा तो केवल ज्ञाता–द्रष्टा है।[4] वह स्वयं कर्मों का कर्त्ता भी नहीं है। कर्म ही उसे संसार में भ्रमण कराते हैं।[5]

ये कर्म प्रबल हैं, इनका विनाश कठिन है, अतः ये चिकने हैं, भारी हैं, तथा वज्र के समान अभेद्य हैं।[6] यही ज्ञानमय आत्मा को मोक्षमार्ग से विचलित कर खोटे मार्ग में लगाते हैं और भववन मे भटकाते हैं। मिथ्यात्व के कारण जीव इन

१– जीवह कम्म अणाइ जिय जणियउ कम्मुणतेण।
कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहिंवि आइ ण तेण॥ —परमात्मप्रकाश, ५९ महाधिकार

२– एहु ववहारें जीवडउ हेउ लहेविणु कम्मु॥
बहुविहभावें परिणमइ तेण जि धम्मु अधम्मु॥ —वही, ६०

३– विसयकसायहिं रंगयहिं जे अणुया लग्गंति।
जीवपएसहं मोहियहिं ते जिण कम्म भणंति॥
—वही, ६२

४– पंचविइन्द्रिय अण्णु मणु अण्णुवि सयलविभाव।
जीवहं कम्मइ जणिय जिय अण्णुविचउगइताव॥
सुक्खुवि दुक्खुविबहुविहउ जीवहं कम्मु जणेइ।
अप्पा देक्खइ मुणई पर णिच्छउ एउं भणेइ॥
बन्धुविमोक्खु वि सयलुजिय, जीवहं कम्मु जणेइ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउ भणेइ॥
—परमात्मप्रकाश, ६३, ६४–६५

५– अप्पा पंगुह अणुहरइ, अप्पुण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयह वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ॥ —वही ६६

६– कम्मइं दिढघणचिक्कणइं गरुवइं वज्ज समाइं।
णाणवियक्खण जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइं॥ —परमात्मप्रकाश, ७८

कर्मों के किये हुए कार्यों को ही अपने कार्य समझ लेता है।[1] संसार के सभी जीव कर्मों के बन्धन में बंधे हुए हैं और इसी कारण चौरासी लाख योनियों में भटकते रहते हैं।[2]

जीव को बंधन में फँसाने वाले कर्मों की संख्या आठ मानी गयी है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय। ये कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आच्छादित कर देते हैं। आत्मा में स्वभावतः आठ गुण होते है—केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व अवगाहन तथा अव्यावाधत्व। ज्ञानावरण कर्म आत्मा के केवलज्ञान को ढँक लेता है, दर्शनावरण कर्म केवलदर्शन को आवृत कर लेता है, वेदनीयकर्म अव्यावाधगुण को तथा दर्शनमोहनीय कर्म सम्यक्त्वगुण को आच्छादित कर देते हैं। आयु कर्म से सूक्ष्मत्व गुण ढ़ँक जाता है क्योंकि आयु कर्म के उदय से जीव इन्द्रिय ज्ञान को धारण कर लेता है और उसके अतीन्द्रिय ज्ञान का अभाव हो जाता है, जिससे वह स्थूल वस्तुओं को ही जान सकता है, सूक्ष्म को नही। गोत्रकर्म के कारण जीव अपने गोत्र को भूलकर नाना ऊँच नीच गोत्रो के चक्र मे फँस जाता है। वह अगुरु-लघु गुण को आवृत करता है। अन्तराय कर्म के उदय से उसका अनन्तवीर्य गुण ढँक जाता है। और शरीर नाल कर्म से अवगाहन गुणआच्छादित रहता है। इस प्रकार ये आठों कर्म आत्मा के आठों गुणों को आच्छादित कर देने हैं।[3]

जोइन्दु मुनि ने कर्मबन्धन का कारण रागद्वेष को माना है। उन्होने लिखा है कि जो मनुष्य कर्मफल भोगते समय मोह के कारण उनमे राग तथा द्वेष करता है, वह कर्मबन्धन मे फँसता चला जाता है और जो कर्मफल का उपभोग करते हुए भी उनमे रागद्वेष नही करता, उसके नवीन कर्मो का तो आगमन होता ही नहीं, पुरातन कर्म भी क्षय हो जाते हैं।[4] एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—जैसे कमल का पत्र जल में रहते हुए भी उमसे पृथक् रहता है, उसी प्रकार जिसे आत्मस्वभाव मे रति है, जो सम्यक्दृष्टि है वह कर्मों से लिप्त नही होता है और शीघ्र ही सचित कर्मों को क्षय

१— जिउ मिच्छत्तें परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेइ।
कम्मविणिम्मिय भावड़ा, ते अप्पाणु भणेइ॥
—परमात्मप्रकाश, ७९

२— सो णीत्थत्ति पएसो चउरासी लक्खजोणिमज्झम्मि।
जिणवयण ण लहंतो जत्थ ण डुलडुल्लिओ जीवो॥
—वही, ६५

३— ते पुणु जीवहं जोइया, अट्ठवि कम्म हवंति।
जेहिंवि झंपिय जीव णवि अप्पसहाउलहंति॥
—वही, ६१

४— भुजंतु वि णिय कम्मफलु मोहइं जो जि करेइ।
भाउ असुन्दरु सुन्दरु वि सो पर कम्मु जणेइ।
भुंजतुवि णिय कम्मफल जो तहिं राउण जाइ।
सोणवि बन्धइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ॥ —परमात्मप्रकाश, द्वि० अ०, ७९, ८०

कर मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है।[1] इस प्रकार आत्मा ज्ञान के द्वारा अज्ञान को नष्ट कर रागद्वेष से मुक्त होकर कर्मों के अनादि सम्बन्ध से भी मुक्त हो सकता है।

कबीर ने भी कर्म को बंधन का कारण स्वीकार किया है, किन्तु उनके मत से कर्म कोई पदार्थ नहीं, अपितु क्रिया है, जो माया का एक अंग है। अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा प्रतिपादित कर्म के स्थान पर कबीर ने माया को बन्धन का कारण माना है। यह माया जैन कवियों के कर्म के समान अनादि न होकर सादि है, यह उत्पन्न होने वाली तथा नष्ट होने वाली वस्तु है।[2] इसी माया के कारण जीव आवागमन के चक्र में फँसा हुआ है। यह आवागमन दुःख का कारण है। अतः यह माया स्वभावतः दुःखरूपिणी है। कबीर ने एक स्थल पर माया को त्रिगुण का वृक्ष कहा है तथा दुःख सन्तापादि को उसकी शाखाएँ।[3] परिणाम में दुःख रूपिणी होने पर भी यह माया बड़ी मोहक है, उसकी यह मोहकता ही अज्ञानी जीवों को भुला-भुलाकर नष्ट कर देती है।[4] माया की आकर्षणशक्ति तथा उसकी व्यापकता का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि माया इतनी आकर्षणमय है कि छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह छूटती नहीं है। संसार में जो कुछ आदरमान है, वह सब माया है। अपभ्रंश के जैन कवियों ने जिस प्रकार जप तप आदि शुभ क्रियाओं को भी बंधन रूप होने के कारण कर्म कहा है, उसी प्रकार कबीर ने भी जप, तप आदि को माया कहा है। वह माया जल, स्थल और आकाश सर्वत्र परिव्याप्त है। संसार के जितने सम्बन्ध है, सब मायारूप है। अतः इन सबका परित्याग कर ही कबीर ने राम का आश्रय लिया था।[5]

१- जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि पत्त कयावि।
तह कम्मेण ण लिप्पियइ, जइ रइ अप्पसहावि।
जो समसुक्खु णिलीणु बुहु पुणु पुणु अप्पुमुणेइ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाणु लहेहि॥
—योगसार ९२, ९३

२- उपजे बिनसे जेती सर्बमाया
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ १३४

३- माया तरवर त्रिविध का साखा दुख सन्ताप।
सीतलता सुपिनै नही, फल फीको तन ताप॥
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ २६

४- मीठीं मीठीं माया तजी न जाई।
अज्ञानी पुरिष को भोलि भोलि खाई॥
क० ग्रन्थ, पृष्ठ १४२

५- माया तजूँ तजी नही जाइ,
फिरिफिरि माया मोहि लपटाइ॥
माया आदर माया मान, माया नही तहा ब्रह्म गियान।
माया रस माया कर जान, माया कारनि तजे परान॥
माया जपतप माया जोग, माया बाँधे सबही लोग।
माया जलथलि माया आकासि माया व्यापि रही चहुँपासि।
माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता।
मायामारि करे व्यवहार, कहे कबीर मेरे राम अधार।
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ १०१, पद ८४

अपभ्रंश के जैन कवियों ने कर्म को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण का कारण माना है, कबीर ने माया को संसार परिभ्रमण का कारण बताया है। यह माया संसार के सभी जीवों को अपने इन्द्रजाल में फँसाये हुए है। इसी के कारण जीव अनेक जन्म धारण करता है।[1] अतः यह बन्धनरूपा है। जैन कवियों ने रागद्वेष को कर्मबन्धन का कारण कहा है कबीर ने भी मोर तोर (रागद्वेष) को ही माया की शृंखला कहा है। जब तक इस मोर तोर शृंखला बनी रहती है, तब तक जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती और न सुख शान्ति ही मिल सकती है।[2] इसीलिए कबीर ने माया को पिशाचिनी डाकिनी आदि अनेक नामों से अभिहित किया है।[3]

यह माया भक्ति में बाधक है। भक्त और जिज्ञासु ज्योंही अपनी साधना की ओर अग्रसर होता है, यह माया अनेक प्रकार के प्रलोभन उत्पन्न कर उसे साधना के मार्ग से विचलित कर देती है।[4] यह माया बड़ी ठगिनी है। यह तीन गुण रूपी

१- जल महि मीन माया के बेधे, दीपक पतंग माया के छेदे
काम माया कुंजर को व्यापै, भुअंगम भृग मा यामहि खाये।
माया ऐसी मोहिनी भाई, जेते जिय तेते बहकाई।
पाखी मृग मायामहि राते सांकर माखी अधिक संतापे।
तुरे अष्ट माया महि भेला, सिध चौरासी मायामहि खेला।
छिय जती माया के बन्दा, नवै नाथ सूरज अरु चन्दा।
तपे रिसीसर माया महिसूता, मायामहि काल अरु पच दूता।
स्वान स्याल माया महिराता, बन्तर चीते अरु सिघाता।
माजर गाडर अरु लूबरा, बिरख मूल मायामहि परा॥
माया अन्तर भी न देव, सागर इन्द्रा सरु धरतेव।
कहि कबीर जिसु उदर तिसमाया, तब छूट जबसाधू पाया। —क० ग्रन्थ, पृ० २७६, पद ७८

२- मोर तोर जब लग मैं कीन्हा,
तब लग त्रास बहुत दुःख दीन्हा। —क० ग्रन्थ, पृष्ठ ११७, पद १४६
माया मोह भूले सब लोई, क्यंचित् लाभ मानिक दीयो खोई।
मैं मेरी करि बहुत बिगूता जननीं उदर जनम का सूता।
बहु ते रूप भेष बहु कीन्हा, जुरामरन क्रोध तन खींना।
उपजे बिनसे जोनि फिराई सुख कर मूल न पावे चाही॥
दुख सन्ताप क्लेस बहुपावे, सो न मिले जे जरत बुझावे॥
जिहि हित जीव राखिहै भाई, सो अनहित ह्वै जाई बिलाई॥
मोर तोर करि जरे अपारा, मृग तृष्णां झूठी संसारा॥
—कबीर ग्रन्थ, बड़ी अष्टपदीरमैणी, पृष्ठ २००

३- इक डायन मेरे मन में बसे रे, नितउठ मेरे मन को डसे रे।
तो डाइन के लरिका पांच रे
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ १४४, पद २३६

४- नेंक निहारि हो माया बिनती करे।
दीन वचन बोले कर जोरै, फुनिफुनिपाइपरे।
कनक लेहु जेता मनि भावै, कांमीन लेहुमन हरनीं।
पुन लेहु बिद्या ओखकारी, राजलेहु सब धरनीं।
अठि सिधि लेहु तुम्ह हरिके जनां, नवे निधि है तुम्ह आगे।
सुर नर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहै न मांग॥
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ १५४, पद २६१

फन्दा लिए हुए है, जिसमें सभी को फँसा लेती है। इसके फंदे से पंडित पुजारी तो क्या ब्रह्मा विष्णु महेश आदि देवता भी नहीं बच सके हैं। यह मीठी-मीठी वाणी बोलकर सबको फँसा लेती है। यही माया केशव के यहाँ कमला के रूप मे है, शिव के यहाँ इसी ने पार्वती का रूप धारण कर लिया है, पुजारियों को मोहित करने के लिए यह मूर्ति के रूप में देवालयों में स्थापित है, तीर्थ क्षेत्रों में इसी ने जल का रूप धारण कर लिया है, योगियों को मोहित करने के लिए यह योगिनी बन गयी है तो राजा को फँसाने के लिए यह रानी बनी हुई है। किसी को इसने हीरा बनकर मोहित किया है तो किसी को कोडी बनकर। भक्तो के यहाँ इसने भक्तिन का रूप बनाया है तो ब्रह्मा के यहाँ सरस्वती का। यह माया ही सर्वत्र सबको अनेक रूप से ठग रही है।[1] अन्यत्र कबीर ने इसको शिकारी के समान शिकार खेलने वाली कहा है, जो ससार के सभी जीवों को अपना शिकार बनाए हुए है। केवल प्रभुभक्त ही इस माया के चंगुल से बचा रहता है, वह इस माया के बन्धन को तोड़कर अविनाशी मोक्ष सुख का अधिकारी बन जाता है।[2]

यह माया मनुष्य को मोहित कर उसके ज्ञानरूपी रत्न को हर लेती है।[3] वह ऐसी पापिनी है कि मनुष्य को हरिभक्ति के पथ से विचलित कर देती है।[4] अतः इससे मुक्त हुए बिना ससार के बन्धन से मुक्ति नही मिल सकती।

१– माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फास लिये कर डोले, बोले मधुरी बाणी॥
केशव के कामला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ मे भई पानी।
योगी के योगिनि ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कोड़ी कानी।
भक्तन के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
—कबीर वचनावली, पृष्ठ ११३, पद ४२

२- तू माया रघुनाथ की खेलण चली अहेडे
चतुरचिकोरे चुणि चुणि मोर, कोई न छोड़या नेड़ै।
मुनियर पीर दिगम्बर मारे, जतन करेता जोगी।
जगल महि के जंगम मारे, तूर फिरे बलवती।
वेद पढ़ता ब्राह्मण मारा, सेवा करता स्वामीं।
अरथ करता मिसर पछाड्या तूर फिरे मैमती।
साषित के तू हरता करता, हरि भगतन के चेरी।
दास कबीरा राम के सरनै, ज्यूं लागी त्यूं तेरी॥ —क० ग्रन्थ, पृष्ठ १३०, पद १८७

३– माया मोहि मोहि हित कीन्हां।
तातें ज्ञान रतन हरि लीन्हां॥
—कबीर बीजक, टीकाकार, विचारदासशास्त्री, सन् १६६५, पृष्ठ १७३, पद ६०

४– कबीर माया पापणीं, हरि सूं करे हराम।
मु खिकड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम॥ —क० ग्रन्थ, पृष्ठ २८, माया को अंग, ४

कबीर के मतानुसार माया भ्रमस्वरूप है। जिस प्रकार अन्धकार पूर्ण रात्रि में रज्जू को देखकर मनुष्य भ्रम से उसे सर्प समझ लेता है और इस भ्रम के कारण वह सर्प द्वारा डसे जाने के भय से भयभीत हो जाता है, जबकि यथार्थ मे वहाँ सर्प नही होता, उसी प्रकार भ्रम हमारी बुद्धि को विकारयुक्त बना देता है, जिससे सत्य वस्तु के स्थान पर हमे मिथ्या प्रतीति होने लगती है।[1] जिस प्रकार रात्रि के समाप्त होने पर सूर्य के प्रकाश मे मनुष्य रज्जु को रज्जु और सर्प को सर्प समझ लेता है, उसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर मनुष्य की बुद्धि पर पडे हुए माया के आवरण का उच्छेद हो जाता है।[2] अपभ्रंश के जैन कवियो ने भी ज्ञान के द्वारा कर्मों का उच्छेद स्वीकार किया है। इस दृष्टि से कबीर के विचार अपभ्रंश के जैन कवियो से बहुत मिलते जुलते हैं।

अपभ्रंश के जैन कवियों के अनुसार अज्ञान के कारण मनुष्य नामरूपात्मक जगत्, शरीर, इन्द्रियों आदि से अपना सम्बन्ध स्थापित कर उन्हे सत्य समझता है, कबीर के विचार से भी मनुष्य भ्रम के कारण ही नामरूपात्मक जगत्, शरीर तथा इन्द्रियों आदि को सत्य मानकर उनसे मोह करता है और मूल तत्त्व को भूल जाता है।

कबीर ने व्यावहारिक दृष्टि से माया के तीन भेद किये हैं—मोटी माया, झीनी माया तथा विद्यारूपिणी माया। वे कहते हैं—

मोटी माया सब तजें, झीनी तजी न जाइ।
पीर पैगम्बर ओलिया, झीनी सबनि को खाय॥[3]

झीनी तथा मोटी माया को कबीर ने भरम तथा करम भी कहा है। ये दोनो संसार के लिए भुलावे के समान हैं। इन दोनों के कारण ही सबने अपना ज्ञान खो दिया है।

भ्रम से कबीर का तात्पर्य आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर आदि मन के विकारों से है, इन्हीं को कबीर ने झीनी माया कहा है। ये मन में अनेक प्रकार के अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान उत्पन्न कर मनुष्य को प्रबल बन्धनों में जकड देते हैं। मनुष्य इनके बन्धनों मे बँधकर अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप को भूल जाता है और ससार मे दुख का भागी बन कर जन्म जन्मान्तर तक संतप्त होता रहता है। किन्तु, जो साधना के द्वारा ज्ञानार्जन कर इन विकारों पर विजय पा लेता है वह

१— ज्यूं रजनी रज देखत अंधियारी, डसे भुवंगम बिनु उजियारी।
तारे अगनित गुनीह अपारा, तऊ कछू नहिं होत अपारा।
झूठ देखि जीव अधिक डराई, बिना भुवगम डसी दुनियाई॥
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ २०२, २०३

२— रजनीगत भई रवि परकासा, भरम करम धूं केर विनासा॥
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ २०३

३— कबीर बीजक, पृष्ठ २६५

अपने जिनस्वरूप को पहिचान कर परम गति को प्राप्त कर लेता है।[1] इस झीनी माया को हम अपभ्रंश के जैन कवियो के अज्ञान के समकक्ष रख सकते हैं। कबीर के अनुसार माया का यह स्वरूप झीना अर्थात् बारीक है, परन्तु प्रबल शक्तिशाली है। माया के इस रूप से कोई विरला साधक ही बच पाता है। यह इतनी निकृष्ट है कि इमने नारद जैसे मुनि को भी नही छोड़ा।[2] कबीर ने इस झीनी माया की घोर भर्त्सना की है।

कबीर ने माया का दूसरा भेद मोटी माया अर्थात् कर्मरूप माया बताया है। माया के इम रूप में जगत् के समस्त भौतिक पदार्थ हैं। मनुष्य जगत् के भौतिक पदार्थों से आकृष्ट होकर ही नाना प्रकार के कर्मों मे प्रवृत्त होता है।

पूजापाठ, वेषभूषा, जटा रखना आदि समस्त कर्मों को कबीर ने मोटी माया कहा है। माया के इस भेद के अन्तर्गत धन, सम्पदा, कनक-कामिनी, वैभव आदि आते हैं। साधक इन भौतिक पदार्थों का तो त्याग कर देना है किन्तु, आशा, तृष्णा आदि मन के विकारो का त्यागना कठिन है। इसी लिए कबीर ने कहा है—मोटी माया सब तजे झीनी तजी न जाई।[3] यह कर्मरूप मोटी माया तथा आशा, तृष्णा, मद, मोह, मत्सर रूप झीनी माया ही अपभ्रंश के जैन कवियो द्वारा प्रतिपादित कर्म के समान जीव के बन्धन का कारण है। यह अविद्यारूपिणी माया है।

माया के तृतीय रूप को कबीर ने विद्यारूपिणी माया कहा है। इस विद्यारूपिणी माया की सहायता से ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयास किया जाता है और ज्ञान की प्राप्ति से माया का उच्छेद कर निज स्वरूप को पहिचाना जा सकता है। यह विद्यारूपिणी माया सतो के लिए उपयुक्त है। इसके आशीर्वाद मे ईश्वर का साक्षात्कार सभव है, किन्तु इसकी प्राप्ति के लिए क्लिष्ट साधना की आवश्यकता है।[4]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर ने कर्म के स्थान पर माया को बन्धन का कारण माना है। जैन दर्शन मे मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद कषाय और योग इन

१— इनको मरम पे सोई बिचारी, सदा अनद लै लोन मुरारी।
ग्यांन द्रिष्टि निज पेखे जोई, इनका चरित जाने पे सोई॥
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ २०२

२— कबीर माया जिनि मिले, सो बिरियां दे बांह।
नारद से मुनिवर गिले, किसो भरोसो त्याह॥
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ ३०, ३१

३— कबीर बीजक, पृष्ठ २७६

४— माया दासी सत की ऊभी देइ असीस।
बिलसी अरु लातो छड़ी, सुमिरि, सुमिरि जागदीस॥
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ २८, १०

पाँच को बंध का कारण माना गया है।[1] कबीर की माया की तुलना अपभ्रंश के जैन कवियों के मिथ्यात्व से की जा सकती है। यही रागद्वेष तथा मोह रूपी कालुष्य का कारण है।

५. अपभ्रंश के जैन कवियों का मोक्ष विचार और कबीर

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मनुष्य जीवन के ये चार परम पुरुषार्थ माने गये हैं। इनमें भी मोक्ष को सर्वोत्तम तथा चरम लक्ष्य कहा गया है। अपभ्रंश के जैन कवियों ने मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ माना है। क्योंकि धर्म, अर्थ, तथा काम इन तीनों में वह परमसुख नहीं है, जो मोक्ष मे है।[2] बंधन सदा दुःखदायक है और मोह सुखदायक। पशु-पक्षी तक बन्धन में रहना नहीं चाहते, वे भी बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्रता का सुखोपभोग करना चाहते हैं तो फिर ज्ञानी पुरुष कर्मबन्धन से मुक्त होकर मोक्षसुख की कामना क्यों न करेंगे ? यदि मोक्ष मे सुख न होता और मोक्ष सबसे उत्तम न होता तो पशु भी क्यों उस मोक्ष की अभिलाषा करते ?[3]

मोक्ष—मोक्ष का अर्थ है मुक्ति अथवा छुटकारा मिलना। अपभ्रंश के जैन कवियों के अनुसार जीव का कर्मबन्धन से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। जैन दर्शन न तो आत्मा के गुणों के विनाश को मोक्ष मानता है और न किसी दूसरी शक्ति मे आत्मा के विलय को ही मोक्ष मानता है। उसके अनुसार तो आत्मा मे ही परमात्मा बनने की शक्ति निहित है। किन्तु पौद्‌गलिक पदार्थों के संसर्ग से वह अपनी इस शक्ति को भूल जाता है। कर्मों को नष्ट कर आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य आदि स्वाभाविक गुणों की उपलब्धि ही मोक्ष है।[4] आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। प्रथम अवस्था अज्ञानावस्था है, द्वितीय अवस्था में स्वपर विवेक की शक्ति तो उत्पन्न हो जाती है किन्तु पूर्णज्ञान नही प्राप्त होता। तृतीय अवस्था वह अवस्था है, जब आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है, उसके सभी गुण प्रकट हो जाते हैं और वह परमात्मा

१- मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा: बन्ध हेतव:
—तत्वार्थसूत्र, उमास्वामी

२- धम्महं अत्थहं कामह वि एयह सयलहं मोक्खु।
उत्तम पभणहिं णाणि जिय अण्णे जेण ण सोक्खु॥
—परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० ३

३- उत्तम सुक्खुण देइ जइ उत्तमु मुक्खुण होइ।
तो किं इच्छहिं बन्धणहिं बन्धा पसुय वि सोय॥
—वही, ५

४- जीवह सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पयलाहु।
कम्मकलंकविमुक्काह, णाणिय बोल्लहिं साहु॥
दंसण णाण अणत सुहु, समयण तुट्टइतासु।
सो पर सासय मोक्खफलु, बिज्जइ अत्थि ण तासु॥ -वही, १०, ११

बन जाता है ।[1] जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष वह अवस्था है जिसमें आत्मा के संपूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है और उसके गुणों का पूर्ण विकास हो जाता है।

कबीर के मतानुसार भी परमात्मपद की प्राप्ति ही मुक्ति है । मुक्त आत्मा अज्ञान तथा भवबन्धन से छूटकर स्वयं परमात्मा बन जाता है ।[2] उसके अनुसार भी परमात्मपद को प्राप्त कर आत्मा अनन्तज्ञान[3] तथा अनन्तसुख[4] का स्वामी बन जाता है, वह एक अखण्ड परमात्मा का अंश है जो माया के बन्धन से ग्रस्त होकर भववन में भटकता रहता है और मुक्ति के उपरान्त वह उसी परमसत्ता में विलीन हो जाता है, उसका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता ।[5]

स्पष्ट है कि कबीर ने ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, तथा मोह आदि आध्यात्मिक विचारों पर वेदान्त बौद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय के अतिरिक्त अपभ्रंश के जैन कवियों का भी प्रभाव पड़ा है । कबीर ने स्वतः जानबूझकर कहीं से कोई प्रभाव नहीं ग्रहण किया है तो भी भ्रमणशील होने तथा सभी सम्प्रदाय के साधु संतों से सम्पर्क होने के कारण उनपर तत्कालीन सभी मतों तथा सम्प्रदायों का यत्किंचित् प्रभाव परिलक्षित होता है, जिनमें जैन मत का विशिष्ट स्थान है।

□

१- मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु वि मणस्स ।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चड़ावउ कस्स ।।
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, ४६

२- मेरा मन सुमिरै रामकूं मेरा मन रामहिं आहि ।
अब मन रामहि ह्वै रह्या सीस नवावौं काहि ।।
—कबीर ग्र०, सुमिरण को अंग ८

३- आप पिछानें आपे आप । —वही, पृष्ठ २७२, पद १७०

४- अमृत झरै सदा सुख उपजे, बंकनालि रस पीजे । —वही, पृष्ठ ६६, ७०

५- पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाई ।
जो कुछ था सोई भया, अबकछु कह्या न जाई ।।
—वही, पृष्ठ १२ परचा को अंग १७

पंचम अध्याय

५. अपभ्रंश के जैन कवियों का साधना-मार्ग और कबीर

१. प्रास्ताविकम्
२. मनुष्य जन्म की दुर्लभता का चिन्तन
३. रागद्वेष, मोह तथा कषायों की बाधकता
४. अज्ञान का अभाव
५. सद्गुरु का महत्त्व
६. शिष्य की सत्पात्रता
७. साधक की विरहाकुलता
८. ध्यान की अनिवार्यता
९. आश्रव निरोध तथा निर्जरा
१०. इन्द्रियसंयम की आवश्यकता
११. मन संयम की आवश्यकता
१२ प्राणि-रक्षा
१३. अन्तरंग-शुद्धि
१४. दश धर्म की आवश्यकता
१५. द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन
१६. सत्संग
१७. बाह्याडम्बर का निरसन
१८. व्यवहार साधना मार्ग
१९. संयोग केवली अथवा जीवन्मुक्त की स्थिति
२०. निश्चय साधनामार्ग

५. अपभ्रंश के जैन कवियों का साधना मार्ग और कबीर

१ प्रास्ताविकम्

साधक साधना द्वारा ही साध्य को प्राप्त करता है। बिना साधना के साध्य की सिद्धि संभव नहीं है। लघु या महत् सभी कार्यों की सफलता करने की विधि या प्रक्रिया पर निर्भर है। प्रत्येक कार्य करने के पूर्व उसके साधन तथा उपायों पर विचार करना आवश्यक होता है और जीवन की सभी योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए कुछ नियम उपनियमो की आवश्यकता होती है। जब जीवन के सामान्य धरातल पर सभी प्रकार के कार्यों की सिद्धि के हेतु उसके साधन और उपायों पर विचार किया जाता है तो मोक्ष या रहस्यमय आत्मसिद्धि जैसी उदात्तता की प्राप्ति के लिए साधना और उपायों पर विचार करना आवश्यक क्यो नही होगा ?

अपभ्रंश के रहस्यवादी कवियो तथा कबीर ने भी विराट् आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए साधना और उपाय तत्त्वों का निरूपण किया है। साधना और इन उपाय तत्त्वों के विवेचन में कबीर तथा अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी तत्त्वों में कितना साम्य और वैषम्य है यही इस अध्याय का विवेच्य है। जैन चिन्तकों की दृष्टि से रत्नत्रय ही साधनामार्ग है और उपाय तत्त्व के अन्तर्गत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परीषह-जय, सद्गुरु, सत्संग, इन्द्रिय निग्रह, कषाय निग्रह आदि हैं। आत्मा का लक्ष्य अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख प्राप्त करना है और इसकी प्राप्ति सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र द्वारा ही संभव है। इस रत्नत्रय साधना मार्ग में समस्त अध्यात्मगुणो का समावेश हो जाता है। अपभ्रंश के जैन कवियों ने ही नही, अपितु अतीत और वर्तमान काल के समस्त तीर्थंकरों, गणधरों, श्रुतधरों और आचार्यों ने समस्त साधना-मार्ग को रत्नत्रय के अन्तर्गत ही उपदिष्ट किया है। जैन दर्शन की साधना समत्वयोग की साधना है, सामायिक की साधना है और समभाव की साधना है। साधक चाहे गृहस्थ हो अथवा साधु, उसकी साधना का एक मात्र लक्ष्य है विषमता से समता की ओर अग्रसर होना—विषमभाव से

निकल कर समभाव को प्राप्त करना । साधारणत: रत्नत्रय को ही साधना मार्ग और उपायमार्ग भी माना गया है । किन्तु विस्तृत अध्ययन से ज्ञात होता है कि उपायों के अन्तर्गत वे सभी तत्त्व समवेत हैं, जिनका निरूपण कबीर ने अपने साहित्य मे किया है ।

जैनचिन्तकों के समान कबीर ने भी चेतन की क्रियाओं का आधार चेतन और जड़ क्रियाओं का आधार जड तत्त्व को ही माना है । शरीर की क्रियाओं एवं चेष्टाओ को जैनचिन्तकों के समान ही कबीर ने अज्ञान या मायाजन्य कहा है । क्योंकि ये जड़ क्रियाएँ आत्मा के निजस्वरूप की क्रियाएँ नहीं हैं । आत्मा की निजस्वरूप की क्रियाएँ ही मोक्ष का मार्ग हैं । आत्मा से भिन्न शरीर आदि की जड–क्रियाएँ मोक्ष प्रदान नहीं कर सकती । जब तक साधना के मूल मे शुद्धोपयोग—कबीर की दृष्टि मे विवेक या शुद्ध ज्ञानचेतना की क्रियाशीलता नही है, तबतक साध्य आत्मतत्त्व की उपलब्धि सभव नही है । जब शारीरिक क्रियाओ का महत्त्व नही, तब वेष आदि बाह्य उपकरणो का क्या महत्त्व हो सकता है ? यही कारण है कि कबीर ने भी जैन सन्तों के समान ही आडम्बर मुक्त बाह्य साधनाओं का निराकरण कर आत्मतत्त्व को ही सर्वोपरि स्थान दिया है ।

साधना–मार्ग और उपायतत्त्वों की सम्यक् ज्ञप्ति के लिए साधक विवेक दृष्टि को प्राप्त करता है, इसी दृष्टि द्वारा वह रत्नत्रय की साधना कर अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है । विवेक दृष्टि अनन्तानन्त पदार्थों के यथार्थ परिज्ञान से ही प्राप्त होती है । इन पदार्थों को हेय, ज्ञेय और उपादेय इन तीन वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है । जानने योग्य पदार्थों को ज्ञेय, त्यागने योग्य पदार्थों को हेय तथा ग्रहण करने योग्य पदार्थों को उपादेय कहा गया है । हिंसा और हिंसा के साधन, असत्य एवं असत्य के साधन तथा अन्य पापाचार और उनके साधन हेय हैं । अहिंसा सत्य आदि और उनके साधन उपादेय पदार्थ हैं, इन उपादेय पदार्थों की जीवन में क्या उपयोगिता है, इन्हें किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है आदि उपादेय तत्त्व के अन्तर्गत हैं । हेय और उपादेय इन दोनों का यथार्थ रूप ज्ञेय के बिना उपलब्ध नही हो सकता । किसी पदार्थ विशेष के त्याग के पूर्व उसकी हेयता का सम्यक् परिज्ञान ज्ञेय से ही होता है । सच्चा त्याग तभी माना जा सकता है, जब हेयता का सम्यक् परिबोध हो जाए । केवल उसके प्रति घृणात्मक या द्वेषात्मक दृष्टिकोण अपनाने से सच्चा त्याग संभव नही है । इस प्रकार के त्याग से कोई बन्धन विमुक्त नहीं हो सकता ।[1]

१- तापभय तप्तेभ्यो भव्येभ्य: शिवशर्मणे ।
तत्त्व हेयमुपादेयमिति द्वेधाऽभ्यधादसौ ।। -तत्त्वानुशासन, पृष्ठ ६, ३ तथा
अर्थ्यतेऽभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च उपेक्षणीयस्यापि परित्यजनीयत्वाद्धेयत्वम् ।

–प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रभाचन्द्राचार्य, स० महेन्द्रकुमार शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, द्वितीय स०, पृष्ठ ४

यहाँ हेय उपादेय तथा उपेक्षणीय तीनो ही ज्ञेय हैं

जीवन मे जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब उपादेय नही है। जीवन व्यवहार के लिए भोजन, वसन एवं भवनादि आवश्यक हो सकते हैं, किन्तु उपादेय नहीं हैं। मुख्यतः उपादेय तत्त्व वही है, जिसके ग्रहण से आत्मा का विकास हो, जिसके आचरण से आत्मकल्याण हो। जिसके ग्रहण से साधना में बाधा उपस्थित होती हो उसे उपादेय नही माना जा सकता।

ज्ञेय का अर्थ जानने योग्य पदार्थ है इस अनन्त विश्व में जड़ और चेतन ये दो ही तत्त्व ज्ञेय है। हेय और उपादेय भी प्रथमतः ज्ञेय होते हैं। स्वयं को पर से भिन्न समझना, स्वयं को स्वयं रूप में अनुभव करना और पर को पर रूप मे अनुभव करना ज्ञेय के अन्तर्गत है। स्व और पर के बोध से उत्पन्न होने वाला विवेक ही सच्चा ज्ञान है। आत्मसत्ता की दिव्य आस्था और आत्म सत्ता के दिव्य परिबोध मे से ही साधक के साधनापथ को आलोकित करने वाला हेय और उपादेय का विवेक उत्पन्न होता है। क्या हेय है और क्या उपादेय है, यह साधक की शक्ति और स्थिति पर निर्भर है।

साधक उपाय तत्त्वों को अवगत कर लेने पर साधना को परिपुष्ट करता है और अपनी साधना से ही वह मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त करता है। कबीर के साधनामार्ग पर अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा निरूपित जिन उपाय तत्त्वो एवं साधनामार्ग का प्रभाव है, वे निम्नांकित हैं—

१. साधक के लिए आवश्यक मनुष्य जन्म की दुर्लभता का चिन्तन
२ रागद्वेष, मोह तथा कषायों की बाधकता
३. अज्ञान का अभाव
४. गुरु का महत्त्व
५. शिष्य की सत्पात्रता
६. साधक की विरहाकुलता
७. ध्यान की अनिवार्यता
८. आश्रवनिरोध तथा निर्जरा
९. इन्द्रिय संयम
१०. मन संयम
११. प्राणि रक्षा या जीव दया
१२. अन्तरंग शुद्धि
१३. दश धर्म
१४. अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन
१५. सत्संग
१६. बाह्याडम्बर का निराकरण—बाह्यवेष, मिथ्या तप, मूर्ति पूजा, तीर्थयात्रा आडम्बरपूर्ण जपतप व्रतादि, केशलोंच तथा पुस्तकाध्ययन आदि पर विचार-विमर्श

१७. साधना मार्ग—व्यवहार साधनामार्ग और निश्चय साधना मार्ग

हम यहाँ उक्त उपायतत्त्वों और साधना मार्ग के आलोक में ही अपभ्रंश के जैन कवियों तथा कबीर के साधनामार्ग का विवेचन करेंगे।

२. मनुष्य जन्म की दुर्लभता का चिन्तन

अपभ्रंश के जैन कवियों के विचार से मनुष्य जन्म दुर्लभ है, बड़े पुण्य से उसकी प्राप्ति होती है। यह पर्याय बार-बार नहीं मिलती। अतः मनुष्य जन्म पाकर निरन्तर इसकी दुर्लभता का चिन्तन करते रहना चाहिए और निर्मल चित्त से तप त्याग आदि के द्वारा आत्म साधना करनी चाहिए। जो ऐसा नही करता, वह मनुष्य जन्म पाकर भी अपनी आत्मा को ही ठगता है।[1]

कबीर ने भी अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही आत्म-साधना के लिए मनुष्य पर्याय को आवश्यक मानकर उसकी दुर्लभता का चिन्तन किया है। उन्होंने उसे सार्थक बनाने के लिए अज्ञानी जीवों को सावधान भी किया है। वे कहते हैं—'मनुष्य जन्म दुर्लभ है, यह शरीर बार-बार नही मिलता। जिस प्रकार वृक्ष से फल के गिर जाने पर वह पुनः उसमें नहीं लग सकता, इसी प्रकार यह मानव शरीर, जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, एक बार निरर्थक नष्ट हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।[2] अतः कबीर का विचार है कि एक बार इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर हरि की भक्ति करनी चाहिए, जिससे संसार के आवागमन का चक्र मिट जाए।[3] वे संसारी जीवों को इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को सांसारिक विषय वासनाओं के सेवन मे नष्ट करते देखकर दुःखी होकर कहते हैं—'जन्म अमोलक जात है, चेति न देखे कोई'[4]

३. रागद्वेष, मोह तथा कषायों की बाधकता

मोह तथा कषाय आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट नही होने देते तथा उन्हें कसते रहते हैं। अतः परमपद की प्राप्ति के इच्छुक साधक को इनका परि-

---

१— जेणण चिण्णिउ तव-यरणु णिम्मलु चित्तु करेवि।
अप्पा वंचिउ तेण पर, माणुस-जम्मु लहेवि॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वि० अ०, १३५

२— मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारम्बार।
तरिवर थें फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागे डार॥
—कबीर ग्रन्थावली, चेतावणी को अंग, ३४

३— कबीर हरि की भगति करि, तजि विषया रस चोज।
बार-बार नहीं पाइये, मनिषा जन्म की मोज॥
—वही, ३५

४— कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११२, पद १२७

त्याग करना आवश्यक है। साधना के पथ पर अग्रसर साधक के प्रति मुनि रामसिंह का कथन है कि तू इन्द्रिय विषयों का त्याग कर मोह का भी परित्याग कर तथा प्रतिदिन परमपद का ध्यान कर, तभी तेरी साधना सफल होगी।[1] जोइन्दु मुनि के विचार से भी राग और द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं। कर्मफल का भोग करते हुए भी जो उनमें राग अथवा द्वेष नही करता, उसके नवीन कर्म का बन्ध नही होता और पुरातन संचित कर्म भी शनैः-शनैः समाप्त हो जाते हैं।[2] मोह के कारण ही सपूर्ण संसार दुखी है, अतः मोह कभी कल्याणकारी नही है।[3]

मोह के समान ही क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि कषाय भी साधना के लिए घातक हैं। दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करने पर भी जो साधक अभिमान से युक्त है, उसे मुनि रामसिंह बाह्य तथा अभ्यंतर किसी भी प्रकार के परिग्रह से मुक्त नही मानते।[4] वे उस पुण्य के भी इच्छुक नही है, जिससे वैभव की प्राप्ति हो और वैभव से मद हो। क्योंकि मद तो नरक का कारण है।[5] जोइन्दु मुनि का अभिमत है कि मोह से ही कषाय होते है अतः मोह का त्याग परमावश्यक है, मोह तथा कषाय से रहित व्यक्ति ही समबोध को प्राप्त करता है।[6] महयंदिण कवि का कथन है कि तोष, रोष, माया, मद मत्सर, अहकार तथा क्रोध और लोभ का त्याग कर देने पर ही ससार से मुक्ति मिल सकती है।[7]

अपभ्र श के जैन रहस्यवादी कवियों की भाँति कबीर भी अहकार को प्रभु-प्राप्ति मे सबसे बड़ा बाधक समझते हैं। उनका यह दृढ निश्चय है कि अहकारी को कभी प्रभु की प्राप्ति नही हो सकती। जैसे एक स्तंभ से दो गज नही बाँधे जा सकते, उसी प्रकार एक ही हृदय रूपी स्तंभ से भी दो गज (प्रभु भक्ति तथा अहं) को नही बाँधा जा सकता। अतः साधक यदि अहं को हृदय में स्थान देना चाहता है तो उसे प्रभु प्राप्ति असंभव है और यदि उसे प्रभु प्राप्ति अभीष्ट है तो अह का

१- इन्द्रियविसय चएवि वढ़ करि मोहह परिचाउ। अणुदिणु झावहि परमपउ, तो एहउ ववसाउ ।।
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, २०२

२- भुंजतु वि णिय कम्मफलु, जो तहि राउण जाई। सो णवि बंधइ कम्मुपुणु, संचिउ जेण विलाइ ।।
—जोइन्दु परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० ८०

३- जोइय मोहु परिच्चयहि मोहु ण भल्लउ होई। मोहासत्तउ सयलु जगु, दुक्खु सहंतउ जोई ।।
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वि० अध्याय १११

४- णग्गत्तणि जे गब्बिया, विग्गुताण गणति। गन्थह बाहिरभितरहिं, एक्कुइतेण मुयंति ।।
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, १५४

५- पुण्णेण होई विहवो, विहवेण मयो मएण मईमोहो।
मइमोहेणइणरय, त पुण्णं अम्ह मा होउ ।।
—रामसिंह, पाहुडदोहा, १३८

६- जेण कसाय हवंतिमणि सोजिय मिल्लहि मोहु।
मोहकसाय विवज्जियउ पर पावहि समबोहु ।। —जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, पृष्ठ १६२, ४२

७- तोसुरोसुमाया मयणु, मउ मच्छरु अहकारु। कोहु लोहुजईपरिहरहिं, तायछिज्जइ ससारु।
—महयदिण, दोहापाहुड़, हस्तलिखित १६०

त्याग करना ही पड़ेगा[1] वे तो सच्चे साधना को पाखंड तथा अभिमान से रहित होकर मार्ग का रोड़ा बन जाने का उपदेश देते हैं। उनका कथन है कि जिस-प्रकार मार्ग में पड़ा रोड़ा सबके पदाघात् चुपचाप सहता रहता है उसी प्रकार का विनम्र भाव तथा अहं का विसर्जन जब साधक मे हो जाएगा, तभी उसे प्रभु की प्राप्ति हो सकेगी, अन्यथा नही।[2] कबीर काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार की भर्त्सना करते हुए किसी विरले व्यक्ति को ही सच्चा भक्त तथा साधक मानते हैं जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मे मुक्त होकर प्रभु के चरणो मे भक्ति रखता है। उनका कथन है कि सत्, रज, तम त्रिगुणात्मक संसार तो प्रभु की ही माया है। किन्तु जो इन सबसे तटस्थ होकर प्रभु की आराधना करते है, वे प्रभु का साक्षात्कार कर लेते हैं। जो भक्त निजप्रशंसा, परनिन्दा तथा ससारतृष्णा को छोड़कर मानाभिमान को भी त्याग देता है तथा स्वर्ण, लौह, सुख–दुख सबको समान मानता है, वह तो प्रभु के ही समान आदरणीय और पूज्य बन जाता है। अत. हे साधक ! यदि तू किसी वस्तु की चिन्ता करता है तो चिन्तामणि स्वरूप प्रभु की चिन्ता कर, संसार से उदासीन हो प्रभु की भक्ति मे तल्लीन हो। किन्तु इस प्रभु भक्ति के पथ का पथिक तू तभी बन सकता है, जब तृष्णा और अभिमान से रहित हो।[3] वे पुन: अभिमानी को फटकारते हुए कहते है कि गर्व करने वाले का कभी कल्याण नहीं हो सकता। क्योकि भगवान् तो गर्व को नष्ट करनेवाले है, वे गर्व को कैसे सहन कर सकते हैं ? अत: हे मानी ! तू अभिमान को छोडकर निर्वाण पद को ढूंढ़। जब तू अभिमान को जड मूल से नष्ट कर देगा, तभी तुझे देह रहित परमात्म पद की प्राप्ति हो सकेगी।[4]

१– खम्भा एक गंइद दोई, क्यूं करि बांधिसि बारि, मानि करे तो पिव नही, पीव तो मानि निवारि॥ —पारसनाथ तिवारी क० ग्रन्थ चेतावणी को अंग, पृष्ठ १६६, साखी ८१

२– रोड़ा ह्वै रहो बाट का, तजि पाषंड अभिमान।
ऐसा जे जन होइ रहै, ताहि मिलै भगवान॥
—पारसनाथ तिवारी, क० ग्रन्थ, पृष्ठ २०७, जीवनमृत, साखी ६

३– तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ विवर्जित, हरिपद चीन्हैं सोई।
राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जे मन चीन्हें, तिनहिं परमपद पाया।
असतुति निंदा आसा छांडे, तजे मान अभिमाना।
लोहा कंचन सम करि देखै, ते मूरति भगवाना।
च्यते तो माधौ च्यंतामणि, हरिपद रमे उदासा।
तिस्ना अरु अभिमान रहित है, कहै कबीर सो दासा —क० ग्रन्थ, पृष्ठ १२६, पद १८४

४– अति गुन गरब करे अधिकाई, अधिकै गरब न होई भलाई।
जाको ठाकुर गरब प्रहारी, सो क्यूं सकई गरब संहारी।
कुल अभिमान विचार तजि, खोजो पद निरवांन।
अंकुर बीज नसाइगा, तब मिले विदेही थांन॥
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ २०५ रमैणी

४. अज्ञान का अभाव

अज्ञान के कारण ही जीव परतत्त्व को अपना समझकर आत्म साक्षात्कार से वंचित रहता है। अतः साधना के पथ पर आरूढ होने के लिए अज्ञान का निराकरण तथा ज्ञान की प्राप्ति अनिवार्य है। जिस प्रकार मद्य के सेवन से मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से मनुष्य की बुद्धि विपरीत हो जाती है और आत्मा अनात्मा का विवेक नही रह जाता। वह संसार के परपदार्थों को हितकारी समझ उनकी प्राप्ति के लिए व्याकुल रहता है। इस मिथ्यात्व को त्याग कर सम्यक्त्व को ग्रहण करना ही आत्मा का उपादेय है।[1] मिथ्यात्व के दूर होने पर ही सम्यक् ज्ञान तथा विवेक जाग्रत होता है, जो निर्वाण तथा परमात्मपद की प्राप्ति के लिए परम आवश्यक है। जोइन्दु मुनि का कथन है कि दान से भोग की प्राप्ति हो मकती है, तप से इन्द्रासन की उपलब्धि हो सकती है, किन्तु जन्म, जरा और मरण रहित मोक्षपद की प्राप्ति आत्मज्ञान के बिना कदापि सभव नही है। अतः आत्मसाधना के लिए निर्मल विवेक का होना आवश्यक है।[2] जिस प्रकार जल को बिलोने से हाथ चिकने नही हो सकते है, दूध को बिलौने से ही चिकने हो सकते हैं उसी प्रकार ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति भी किसी को नही हो सकती।[3] मुनि रामसिह का मत है कि ज्ञान से वचित होकर ही जीव तत्त्व को विपरीत समझता है और कर्मो मे निर्मित भावों को आत्मा के मानता है।[4]

कबीर भी परमपद की प्राप्ति के लिए अज्ञान के निवारण तथा आत्म ज्ञान की प्राप्ति को आवश्यक मानते हैं।[5] उन्होंने भली प्रकार सोच-विचार कर यही निश्चय किया है कि जब आत्मा और पर का विवेक हो जाता है तब बाह्य ससार से

१— जिउ मिच्छत्ते परिणमिउ, विवरिउ तच्चु मुणेइ।
कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, अध्याय १ दोहा ७६

२— दाणि लब्भई भउ पवर, इन्दत्तणुवि तवेण।
जम्मण मरण विवज्जियउ, पउ लब्भई णाणेण॥
—वही, अध्याय २, ७२

३— णाणविहीणहं मोक्खपड, जीव म कासु वि जोई।
बहुएं सलिलविरोलियइं, करु चोप्पडउ ण होई॥
—वही, ७४

४— बोहिविवज्जिउ जीव तुहु विवरिउ तच्चु मुणेहि।
कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाण भणेहि॥
—रामसिह, पाहुडदोहा, २५

५— एक अचम्भा देखिया, हीरा हाट बिकाई।
परिषणहारे बाहिरा, कौड़ी बदले जाई॥
क० ग्रन्थ, अपारिख को अंग २

विमुख होकर मनुष्य की दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है ।[1] कबीर का अभिमत है कि ईश्वर का नाम क्षीर के समान है तथा जगत् के अन्य सभी व्यवहार नीर के समान हैं और हंस के समान कोई विरला साधु ही क्षीर रूपी उस परम तत्त्व का ज्ञानी होता है ।[2] उनके विचार से जिसने उस एक को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया और जिसने उस एक को नहीं जाना, उसका सब ज्ञान अज्ञान है ।[3] अतः उस परमतत्त्व का ज्ञान साधक के लिए अनिवार्य है । इस आत्म ज्ञान के प्राप्त होते ही भ्रम की टट्टियाँ सब उड जाती हैं, माया नष्ट हो जाती है, रागद्वेष के दोनों खम्भे गिर जाते हैं, मोह रूपी वलेंडा टूट जाता है, तृष्णारूपी छप्पर पृथ्वी पर गिर जाता है, कुबुद्धि रूपी पात्र फूट जाता है और जैसे आँधी के बाद जल की वर्षा होती है उसी प्रकार हरिभक्ति रूपी जल से साधक का सर्वांग सराबोर हो जाता है । इस प्रकार ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने पर अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट हो जाता है ।[4]

५. सद्गुरु का महत्त्व

गुरु ही मनुष्य के हृदय से अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर उसे ज्ञान का प्रकाश प्रदान कर आलोकित और आनन्दित कर सकता है । अतः मुनि रामसिंह के विचार से गुरु ही सूर्य है, गुरु ही चन्द्रमा है, गुरु ही दीपक है और गुरु ही देव है, वही आत्म और पर का भेद प्रदर्शित कर सकता है ।[5] लोभ और मोह से ग्रस्त जीव तभी तक विषय सेवन में सुख मानता है जबतक उसे गुरु की कृपा से अविचल

१— कबीर सोचि बिचारिया, दूजा कोई नांहि ।
आपा पर जब चीन्हिया, तब उलटि समाना मांहि ॥
—क० ग्रन्थ विचारको अंग, ३

२— षीर रूप हरि नाव है, नीर आन ब्योहार । हंस रूप कोई साध है तत का जानणहार ॥
—क० ग्रन्थ, सारग्राही को अग, १

३— जो वो एकै जाणिया, तो जाण्यां सब जाण । जो वो एकण जाणियां, तो सब ही जांण अजाण
—क० ग्रन्थ निःकर्मी पतिव्रता को अंग, ८

४— सन्तो भाई आई ज्ञान की आंधीरे ।
भ्रम की टाटी सबै उडानी, माया रहै न बांधी ।
हितचित की द्वै थूं नीगिरानी, मोह बलींडा टूटा ।
तृस्ना छानि परी धर ऊपरि, कुबुधि का भांडा फूटा ।
जोग जुगति करि सन्तो बाधी, निरचूचुवै न पाणी ।
कूड कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाणीं ।
आंधी पाछे जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींनां ।
कहै कबीर भानके प्रगटे, उदित भया तमखीनां ।
—क० ग्रन्थ, पद १६

५— गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु, गुरुदीवउ, गुरुदेउ । अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावई भेउ ।
—रामसिंह, पाहुडदोहा, १

आत्म ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती ।[1] अपभ्रंश के जैन कवि आनन्दा भी उस गुरु पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को उत्सुक हैं जो मन की सम्पूर्ण भ्रान्ति को मिटाकर बिना तेल और बिना बत्ती के ही आत्मा और पर के भेद को दर्शाता है ।[2] वे सद्गुरु की महिमा से प्रभावित होकर गुरु को ही जिनवर, सिद्ध, शिव तथा रत्नत्रय भी कह देते हैं ।[3] मुनि महयन्दण का कथन है—यह जीव गुरु के प्रसाद से परमपद (ब्रह्म) को अवश्य ही उपलब्ध कर लेता है ।[4]

कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियों की इस विचारधारा को मुक्त हृदय से स्वीकार किया है । उनके विचार से गुरु के बिना कभी ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती और ज्ञान के बिना मुक्ति असभव है ।[5] वे अपने गुरु पर अपने शरीर को न्यौ-छावर कर देना चाहते हैं जिन्होंने उन्हें अल्प समय में ही मनुष्य से देवता बना दिया है ।[6] वे अपने गुरु की अनन्त महिमा के अत्यन्त कृतज्ञ है जिन्होंने उनके साथ अनन्त उपकार किया है और उनकी प्रज्ञाचक्षु को खोलकर उन्हे अनन्त प्रभु के दर्शन कराये है ।[7] सत्गुरु ने ही उन्हे ज्ञान का वह अनन्त प्रकाश दिया है जिससे उनका सांसारिक आवागमन और दु:ख दूर हो गया ।[8] अत: वे अपने गुरु को उनकी इस कृपा के बदले क्या देकर सतुष्ट करे ? यही दुविधा उन्हे बेचैन किये रखती है ।[9] गुरु भी सद्गुरु

१— लोहिं मोहिउ ताम तुहुं विसयहं सुक्ख मुणेहि ।
गुरुहं पसाए नाम णवि अविचलु बोहि लहेहि ।
—रामसिंह, पाहुडदोहा, १८१

२— बलि कीजउ गुरु आपणहु फेडी मनह भरांति ।
विणु तेलहिं विणु बातियहिं, आणन्दा । जिणदरिसावयउ भेउ ॥
—आणन्दा, ४३

३— गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयण त्तयसारु ।
जो दरिसावइ अप्प परु आणन्दा भवजल पावइ पारु ॥ -आणन्दा, ३६

४— गुरुहं पसाए परमपउ लब्भई निस्सन्देह ।
-महयन्दण, पाहुडदोहा, हस्तलिखित प्रति, ७

५— पण्डित पढि गुनि पचि मुए, गुरु बिन मिले न ज्ञान ।
ज्ञान बिना नहिं मुक्ति है, सत्त शब्द प्ररमान ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१, ३११.

६. बलिहारी गुरु आपणें द्यौं, हाड़ी के बार ।
जिण मणिस तें देवता, करत न लागी बार ॥
—क० ग्रन्थ, गुरुदेव को अंग, पृष्ठ १, साखी २

७— सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार ।
लोचन अनन्त उघारिया, अनन्त दिखावणहार ॥
—क० ग्रन्थ, पृष्ठ १, ३

८— दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवौं हट्ट ॥
—क० ग्रन्थ, गुरुदेव को अंग, १२

९— राम नाम के पटंतरे, देबे को कछु नाहिं ।
क्या ले गुरु सतोषिए, हौंस रही मनमांहि ॥ —वही, अंग ४

होना चाहिए, कुगुरु नहीं। आणन्दा कवि कुगुरु की भर्त्सना करते हुए कहते हैं—

कुगुरुह पूजिम सिर धुणहु तीरथ काइ भमेहु।
देउ सचेयण संघ गुरु आणन्दा। जो दरिसावइ भेउ ॥[1]

सद्गुरु वही है जो विषय वासनाओं की आशा से मुक्त, आरंभरहित, परिग्रह-रहित तथा ज्ञान, ध्यान और तप में अनुरक्त है।[2]

कबीर ने भी अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही कुगुरु की भर्त्सना की है।[3] कबीर के विचार से तो गुरु सिकलीगर के समान होना चाहिए, जो शब्द रूपी मसकले के द्वारा शरीर को दर्पण की तरह चमकदार बना दे।[4] सत्गुरु अपने प्रयत्नों से शिष्य को उसी प्रकार सुयोग्य बना देता है जिस प्रकार लुहार तप्त लोहे को पीट-पीटकर सुघड़ा और सुडौल बना देता है। यही नहीं गुरु स्वर्णकार की भाँति अपने शिष्य को परीक्षा की अग्नि में तपा-तपाकर इस योग्य बना देता है कि वह शुद्ध कंचन की कसौटी पर खरा उतर कर ब्रह्म को प्राप्त कर ले।[5] गुरु कुम्भकार के समान है और शिष्य कुंभ के समान है। जिसप्रकार कुम्हार घड़े को अन्दर से हाथ का सहारा देकर बाहर से चोट मारता है और उसके आकार प्रकार को ठीक कर देता है उसी प्रकार गुरु भी शिष्य के प्रति आन्तरिक स्नेह से युक्त हो उसे प्रताडित करता है और उसकी बुराइयों को निकाल बाहर करता है।[6] आत्म-अनात्म के भेद को मिटाने वाला गुरु ही सत्गुरु है। वह विषय वासनाओं से उदासीन तथा धन धान्यादि के बंधन से मुक्त होता है।[7] केवल ग्रंथों का पढ़ने वाला गुरु सद्गुरु नही हो सकता। जो ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग दर्शन करे वही सच्चा गुरु है और मार्गदर्शन वही कर सकता है जिसके पास ज्ञानरूपी दीपक है। यह दीपक कबीर के गुरु के पास है और जैन गुरु तो स्वयं दीपक रूप ही है। जीव लोक और वेद के

१- आणन्दा, ३७

२- विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽभोऽपरिग्रहः
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥
स्वामी समन्तभद्र, रत्न करड श्रावकाचार

३- कबीर सतगुरु नामिल्या रही अधूरी सीष।
स्वाग जती का पहरि करि, घरि घरि मागे भीष ॥ —क० ग्रन्थ गुरुदेव को अंग, पृ० ३, २८

४- गुरु सिकलीगर कीजिये, मनहिं मरकला देय।
मन की मैल छुड़ाइकै, चित दपन करि देय ॥ -श्यामसुन्दर दास, कबीर वचनावली,
पृष्ठ ३१, ३०

५- सतगुरु सांचा सूरिवा, तातैं लोहि लुहार।
कसणी दे कन्चन किया, ताइलिया ततसार ॥ -क० ग्रन्थ, पृष्ठ ३, गुरुदेव को अंग, २८

६- गुरु कुम्हार सिप कुंभ है, गढि गढ़ि काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सहारि दे बाहर बाहे चोट ॥ -कबीर वचनावली, पृष्ठ ३१, ३०७

७- गांठी दाम न बाधई नहिं नारी सौं नेह।
कह कबीर ता साध की, हम चरनन की खेह ॥
—कबीर वचनावली, पृष्ठ ३३, ३३०

अन्धकारपूर्ण मार्ग पर चला जा रहा था, आगे सत्गुरु मिल गया, उसने ज्ञान का दीपक हाथ मे दे दिया, मार्ग प्रकाशित हो उठा और उसे अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँचने का पद प्राप्त हो गया।[1] किन्तु वह दीपक साधारण दीपक नही, ज्ञान का दीपक होना चाहिए। साधारण दीपक तो ६४ भी जला दिए जाएँ चन्द्रमा यदि एक साथ चौदह भी उदित हो जाएँ तो भी ज्ञान के प्रकाश के बिना अन्धकार दूर नही हो सकता।[2] किन्तु, कलियुग मे ऐसे गुरु की प्राप्ति दुर्लभ है।[3]

६. शिष्य की सत्पात्रता

केवल गुरु के ही सतगुरु होने से शिष्य का उद्धार नहीं हो सकता, अपितु शिष्य मे भी गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता होनी चाहिए। यदि शिष्य सुयोग्य न होगा तो गुरु उसे किसी प्रकार ज्ञानी नही बना सकता। उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान तो ऐसे ही शिष्य के एक कान मे पहुँच कर दूसरे से निकल जाएगा जैसे बसी मे फूंक क्षण भर रहकर बाहर निकल जाती है और वह बाँसुरी निर्जीव काष्ठ-मात्र रह जाती है।[4] जिस प्रकार ऊसर भूमि में दुगुने बीज बोने पर भी अकुर नही फूटते, उसी प्रकार कुपात्र को सद्‌गुरु कितनी ही शिक्षा दे, उस पर कोई अच्छा प्रभाव नही पडता।[5] अत: आत्मसाधना और मुक्ति की प्राप्ति के लिए जहाँ गुरु का सतगुरु होना आवश्यक है वहाँ शिष्य का सुशिष्य होना भी नितान्त आवश्यक है। सद्‌गुरु ही शिष्य के अज्ञान को दूरकर उसे आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए व्याकुल बना देता है।[6]

१– पाछे लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगे थै सत् गुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि॥
-क० ग्रन्थावली, गुरुदेव को अंग, पृष्ठ २, ११

२– चौंसठ दीवा जोई करि, चौदह चदा माहि।
तिहि घरि किसको चानिणो, जिहि घरि गोविन्द नाहि॥
–वही, गुरुदेव को अंग, पृष्ठ २ १७

३– कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोई।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूं आदर होई॥
-क० ग्रन्थावली, चाणक को अग, पृष्ठ ३१, ८

४– सतगुरु बपुरा क्या करै, जो सिषही माहे चूक।
भावे ज्यूं प्रमोधिलै, ज्यूं बंसि बजाई फूंक॥
–क० ग्रन्थावली, पृष्ठ २, गुरुदेव को अंग, २१

५- पसुआ सो पाला परया, रहु रहु हिया न खीज।
ऊसर बीज न ऊगसी, घाले दूना बीज॥
–कबीर वचनावली, पृष्ठ १६, १५५

६– सिक्ख सुणइ सद्‌गुरु भणइ परमाणन्द सहाउ।
–आणन्दा १६

७. साधक की विरहाकुलता

गुरु के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर साधक की आत्मारूपी प्रेयसी परमात्मा रूपी प्रियतम को पाने के लिए बेचैन हो उठती है। यही प्रेममूलक रहस्यवादी साधना है जिसे कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियों से ग्रहण कर अपनी भावुकता तथा तीव्रतम अनुभूति के मिश्रण से और अधिक पल्लवित एवं पुष्पित किया है। अपभ्रंश के जैन कवि हेमचन्द्र ने एक दोहे मे इसप्रकार की रहस्यवादी प्रवृत्ति का सकेत किया है जिसमें एक नायिका अपनी सखी से कहती है हे सखि, रात्रि यों ही समाप्त हो गयी और मैं अपने प्रिय से मिलने भी न पायी।[1] कवि का तात्पर्य है कि आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप को पाने के लिए प्रयास करती रही। किन्तु, उसका यह प्रयास सफल न हुआ और जीवन ऐसे ही व्यतीत हो गया। मुनि राम सिंह ने भी इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा के विरह का वर्णन दाम्पत्य प्रतीको के माध्यम से किया है।[2] आत्मारूपी प्रेयसी की विरह दशा के ऐसे ही अनेक चित्र कबीर ने अंकित किये है जिनका मूल स्रोत अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य ही प्रतीत होता है। कबीर की साधक आत्मा अपने को हरिरूपी प्रियतम की बहुरिया कहती हुई यह भी अनुभव करती है कि वह हरिरूपी प्रियतम बड़े है और मैं उसकी एक छोटी सी लहरमात्र हूँ।[3] परमात्मा रूपी प्रियतम के विरह में व्याकुल आत्मा रूपी विरहिणी के नेत्रों मे मार्ग देखते-देखते झाइँ पड जाती हैं और नाम रटते-रटते जीभ मे छाले पड जाते हैं, किन्तु मिलन नही हो पाता।[4] विरहिणी आत्मा बडी उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा करती है जिस दिन प्रियतम का मिलन होगा और उसे अलौकिक सुख की प्राप्ति होगी। उसकी विरहाग्नि तो प्रियतम के दर्शन होने पर ही शान्त हो सकती है, वह प्रिय के विरह में ऐसे ही अहर्निश उदास रहती

१— अगहिं अगु न मिलिउ हरि, अहरे अहरु न पत्तु।
पियजो अन्तिहे मुह कमलु, एम्बई सुरइ समत्तु॥
—हेमचन्द्र शब्दानुशासन, अष्टम अध्याय, चतुर्थपाद, ३३२, दोहा २

२— हऊ सगुणी पिउ णिग्गुणिउ, णलिक्खणु णीसगु।
एक्कहिं अगि वसंतयहं मिलिउण अगहिं अगु।
—रामसिंह, पाहुडदोहा, १००

३— हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥
—क० ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६, पद ११७

४— अंषडिया झाइँ पडी पन्थ निहारि निहारि।
जीहड़िया छाला पड़्या, नाम पुकारि-पुकारि॥
—क० ग्रन्थावली, बिरह को अंग, पृष्ठ ८, पद २२

है, जैसे कि चातक स्वाति नक्षत्र के जल के बिना तृषातुर रहता है।[1]

८. ध्यान की अनिवार्यता

यद्यपि परमात्मा रूपी प्रियतम शरीर में ही रहता है, किन्तु उससे मिलन तब तक संभव नही जबतक आत्मा परम समाधि मे तल्लीन न हो जाए। यही कारण है कि हरि, हर आदि भी उसे पाने मे अबतक समर्थ न हो सके।[2] उस अक्षय, निरामय, परमपद में मन को तल्लीन कर देने पर निश्चय से आवागमन की बेल टूट जाती है और परम प्रियतम परमात्मा के सयोग सुख का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है।[3] जोइन्दु मुनि भी अन्य सभी झझटों से मुक्त होकर उस परमात्मा के ध्यान को ही उपादेय मानते है, जिसके ध्यान से एक क्षण में ही परमपद की प्राप्ति हो जाती है।[4] उनका विचार है कि घोर तप करने तथा सम्पूर्ण शास्त्रो का अध्ययन कर लेने पर भी परमसमाधि के बिना परमात्मपद की प्राप्ति नही हो सकती।[5] आनन्दा कवि भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते हुए कहते है कि ध्यान रूपी सरोवर में अमृत जल भरा हुआ है, जो मुनिजन उसमें स्नान करते हैं वे अष्ट कर्ममल को धोकर शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।[6] किन्तु, यह सारा ससार जगत् के जजालो में फँसा हुआ नाना प्रकार के सांसारिक कृत्यों को तो करता है, किन्तु, मोह

१– वे दिन कब आवेंगे भाई,
जा कारणि हम देह धरी है।
मिलिबो अंग लगाई तथा
सो मेरा राम कबै घर आवै
ता देखे मेरा जिय सुख पावै।।
विरह अगिनि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूं होई सिराई।।
—क० ग्रन्थावली, पृष्ठ, १४१, पद २२४

२– देहि वसन्तु वि हरि हरवि ज अज्जवि व मुणंति।
परम समाहि तवेण विणु सो परमप्पु भणति।।
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश ४२

३– अखइ णिरामइ परमगइ, मणु घल्लेपिणु मिल्लि।
तुट्टेसइ मा भंति करि, आवागमण हंबेल्लि।।
—रामसिंह पाहुड़दोहा, १७१

४– अप्पा झायहि णिम्मल उ कि बहुए अण्णेण।
जो झायतहं परमपउ, लब्भइ एक्कखणेण।।
जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, ६७

५– घोरु करन्तु वि तव चरणु, सयलवि सत्थ मुणंतु।
परम समाहि विवज्जियउ णवि देक्खइ सिव सन्तु।।
वही, द्वितीय अध्याय, १९१

६– झाण सरोवरु अमिय जलु, मुणिवरु करइ सण्हाणु।
अट्ठ कम्ममल धोवहिं आणन्दारे। णियड़ा पाहु णिव्वाणु।।
—आणन्दा, ५

के कारण आत्मा का चिन्तन एक क्षण भी नहीं करता, इसी से संसार में भटकता रहता है।[1] आर्त्त तथा रौद्र ध्यान संसार के कारण होने से दुर्ध्यान कहे गये हैं और धर्म तथा शुक्लध्यान मोक्ष के कारण होने से सद्ध्यान हैं और यही साधक के लिए उपादेय हैं।[2]

कबीर की दृष्टि में भी एकमात्र परमात्मा का स्मरण ही सार है, अन्य सब जंजाल है।[3] वे कहते हैं कि केवल हरि (परमात्मा) के नाम की ही चिन्ता करनी चाहिए, अन्य किसी की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। राम नाम के अतिरिक्त अन्य सभी चिन्ताएँ, मृत्यु के समान हैं।[4] अतः वे जिह्वा से राम नाम का मन्त्र जपने तथा उसका ही ध्यान करने का आदेश देते हैं।[5]

ध्यान एक प्रकार की विद्युत लहर के समान है। जैसे चुम्बक पत्थर लोहे को अपनी ओर खींच लेता है। उसी प्रकार ध्यान भी प्राणों को अपनी ओर खींच लेता है। जहाँ ध्यान ठहराया जाता है, वहीं प्राण पहुँच जाते हैं। कबीर ने मन वचन तथा कर्म के द्वारा ध्यान की सिद्धि को उत्तम ध्यान कहा है। उनके अनुसार ध्यान का तारतम्य अखण्डित होना चाहिए। वन में वाद्यध्वनि को सुनकर मृग उसके प्रति दत्तचित्त होकर ध्यानावस्थित हो जाता है वधिक उसे मार डालता है, पर मृग का ध्यान विचलित नहीं होता, फूल में भँवरा ध्यानावस्थित हो जाता है और फूल की पखुडियों के बन्द हो जाने पर वह उसी मे बन्द होकर मर जाता है, जल की मछली जल के सूख जाने पर तडप तडप कर वहीं प्राण त्याग देती है, पर अन्यत्र नहीं जाती। साधक को भी तल्लीन होकर ऐसे ही अखण्ड आत्मध्यान करना चाहिए।[6]

१— धंधई पडियई सयलु जगु कम्मइं करइ अयाणु।
मोक्खह कारणु एक्कु खणु, णवि चिंतइ णिव्वाणु॥
—रामसिंह पाहुडदोहा ७

२— तत्त्वानुशासन, ३४

३— कबीर सुमिरण सार है और सकल जंजाल।
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखो काल॥
—क० ग्रन्थावली सुमिरण को अंग, पृष्ठ ४, साखी ५

४— च्यन्ताती हरि नाव की, और न चिंता दास।
जो कुछ चितवैं राम बिन सोई काल की पास
—क० ग्रन्थावली सुमिरण को अंग, ५

५- कबीर राम ध्याई ले, जिह्वा सो करि मन्तु।
हरि सागर जिनि बीसरें, छीलर देखि अनन्त॥
—वही, सुमिरण को अंग, ३०

६— ऐसे मन लाइ ले राम रसना, कपट भगति कीजै कौन गुणा।
ज्यूं मृग नादें बेध्यो जाई, प्यड परैं वाको ध्यान न जाई॥
ज्यूं जल मीन हेत करि जानि, प्राण तजे बिसरे नहीं बांनि॥
भ्रिंगी कीट रहे ल्यो लाई, ह्वै है लीन भृंग ह्वै जाई॥
—क० ग्रन्थावली पृष्ठ १८७, पद ३९३

कबीर की उन्मनि रहनी ही सहज समाधि है ।[1] इस सहज समाधि में प्राणायाम, आसन, मुद्रा, ध्यान, धारणा आदि की कोई आवश्यकता नही होती । आँख मूँदे बिना और कान बन्द किये बिना ही इसकी सिद्धि हो जाती है । सहज भाव के साथ खुली आँखो से भगवान् को देखना ही सहज समाधि है । इसकी सिद्धि हो जाने पर साधक निरन्तर परमानन्द का रसपान करने में तल्लीन रहता है, मन आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है ।[2] अपभ्रंश के जैन कवियों का शुक्लध्यान ही कबीर की सहज समाधि है ।

९. आश्रव निरोध तथा निर्जरा

अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों के अनुसार कर्मों के बन्धन मे बँधकर ही जीव संसार मे चारों गतियों में परिभ्रमण करता और दुःख उठाता है ।[3] कर्मों से मुक्त हो जाने पर वह ससार सागर से पार होकर अविनाशी परमपद को प्राप्त कर लेता है ।[4] जिन कारणो से कर्मबन्ध होता है, वे आश्रव हैं । आश्रव के दो भेद हैं—पुण्याश्रव तथा पापाश्रव । पुण्यकर्म पुण्याश्रव हैं और पापकर्म पापाश्रव । ज्ञानी पुरुष पुण्य तथा पाप दोनो ही प्रकार के कर्मों से विमुख रहता है । जिस प्रकार लोहे तथा सोने की बेडी दोनो ही बन्धन का कारण होने से त्याज्य है, उसी प्रकार पुण्य तथा पापकर्म भी कर्मबन्धन तथा संसार का कारण होने से हेय हैं । क्योंकि पापकर्म से

१- आपा जानि उलटि ले आप,
अब मन उलटि सनातन हूवा, तब जान्या जब जीवत मूवा ।
—क०ग्र० पृष्ठ ८३, पद १५

२- सन्तो सहज समाधि भली ।
सांइं ते मिलन भयो जा दिन तें सुरत न अन्त चली ।
आख न मूंदूं कान न रूंधूं काया कष्ट न धारूं ।
खुले नैंन मे हसि हंसि देखूं, सुन्दर रूप निहारूं ।
कहूं सो नाम सुनू सो सुमिरन, जो कुछ करूं सो पूजा ।
जहं जहं जाउ सोइ परिकरमा, जो कुछ करूं सो सेवा ।
जब सोऊं तब करूं दण्डवत, पूजूं और न देवा ।
शबद निरन्तर मनवा राता, मलिन बचन का त्यागी ।
कहै कबीर यहु उन्मनि रहनी, सो परगट करिगाई ।
सुख दुःख के इक परे परम सुनि सुख तेहि में रहा समाई ॥
—कबीर, ह० प्र० द्विवेदी में कबीरवाणी, पृष्ठ २६२

३- जिय अणुमित्तु वि दुक्खड़ा सहण ण सक्कहि जोइ ।
चउगइ दुक्खहं कारण हं कम्मइं कुणहि कितोइ ॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय, १२०

४- जीवहं सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पयलाहु ।
कम्मक लंकविमुक्काहं णाणिय बोल्लहिं साहु ॥
—वही, अ० १०

नरक तथा तिर्यंच गति का बन्ध होता है तो पुण्य कर्म से देवगति तथा दोनों के संयोग से मनुष्य गति का बन्ध होता है। किन्तु, मोक्ष की प्राप्ति तो दोनों के ही क्षय होने पर होती है।[1] अत: साधना-मार्ग पर आरूढ़ साधक को एक ज्ञानमय शुद्ध पवित्र भव को छोड़कर वन्दन, निन्दन, प्रतिक्रमण आदि पुण्य कार्य भी अकरणीय हैं।[2] जो व्यक्ति बंध तथा मोक्ष के कारण को नहीं जानता वही मोह के कारण पुण्य तथा पाप कर्मों को करता है, ज्ञानी नही।[3] नवीन कर्मों के आगमन को रोकने तथा पुरातन कर्मों के क्षय से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। पुरातन कर्मों का क्षय ही निर्जरा है और यही मोक्ष का कारण है। मुनि रामसिंह के मतानुसार भी जो व्यक्ति पुरातन कर्मों को क्षय कर देता है और नवीन कर्मों को प्रविष्ट नही होने देता तथा प्रतिदिन जिन देवता का ध्यान करता है, वही परमात्मपद को प्राप्त करता है।[4] आनन्दा मुनि ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये है।[5] जोइन्दु मुनि आवागमन के चक्र में फँसे हुए ससारी जीवों को उद्‌बुद्ध करते हुए कहते हैं कि हे जीव तूने कर्मो के कारण संसार में भ्रमण करते हुए महान् दु:ख प्राप्त किये। अतः ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम तथा गोत्र इन अष्ट कर्मो को विनष्ट कर तू सर्वश्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त कर। जो शम और सुख मे लीन हुआ पडित बार-बार आत्मा को जानता है वह निश्चय ही कर्मो को क्षय कर शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है।[6]

अपभ्रंश के जैन कवियों की इस परम्परा का अनुसरण करते हुए कबीर भी कर्मों को संसार का कारण समझ कर उससे मुक्त होने के लिए राम की कृपा प्राप्त करना चाहते है। उनका मत है कि कर्मो के कारण ही ससार मे महान् पुरुषो को

१– पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णे अमरु वियाणु।
मिस्से माणुस–गई लहइ दोहिं वि खइणिव्वाणु॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, अध्याय २, ६३

२– वंदणु निंदणु पडिकमणु, पुण्णहू कारणु जेण।
करइ करावइ अणुमणइ, एक्कु वि णाणिणतेण॥
—वही, द्वितीय अ०, ६४

३– बधहू मोक्खहू हेउ णिउ, जो णवि जाणइकोइ।
सोपर मोहिं करइ जिय, पुण्ण वि पाउ विदोइ॥
—वही द्वितीय अ०, ५३

४– कम्मु पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ।
अणुदिणु झायइ देउ जिणु, मो परमप्पउ होइ॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, १९३

५– पुव्वकिय मल खिज्जुरइ णयाण होणइ देइ।
अप्पा पुणु पुणु रगियउ, आणन्दा। केवलणाण हवेइ॥
—आणन्दा, ३२

६– पावहि दुक्खु महतु तुहुं जिय संसारि भमंतु।
अट्ठवि कम्मई णिद्दलिवि, वच्चइ मुक्खु महंतु॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, ११९

भी अनेकों विपत्तियों का सामना करना पड़ता है ।[1] राम ही कर्मों को काटने में समर्थ है, राम के बिना कर्म कदापि नही कट सकते है । अतः राम की ही कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।[2] कबीर उस परमपद को जहाँ परमब्रह्म परमात्मा से साक्षात्कार होता है, पुण्य–पाप, सुख–दुःख आदि से रहित मानते है ।[3] अन्यत्र भी उन्होने परमात्मा के स्वभाव का वर्णन करते हुए उसे पुण्य–पाप दोनो से रहित प्रतिपादित किया है ।[4] उनका अभिप्राय भी पुण्य तथा पाप दोनो ही प्रकार के कर्मो को त्याज्य बताने और पूर्वकृत कर्मों को क्षय कर निर्वाण प्राप्त करने का ही है ।

१० इन्द्रिय संयम की आवश्यकता

उत्तम ध्यान की सिद्धि के लिए इन्द्रिय सयम का होना आवश्यक है । मुनि रामसिह इन्द्रिय–सयम की आवश्यकता बताते हुए कहते है कि हे जीव, तू विषयो की चिन्ता मत कर, विषय कभी भले नही होते । सेवन करते समय तो ये मधुर लगते है, किन्तु बाद मे वे दुःख ही देते है ।[5] तू व्यर्थ ही विषय कषायों मे अनुरक्त होकर आत्मा मे चित्त नही देता और दुष्कृत्यो के कारण ससार मे भ्रमण करता है ।[6]

१– करमगति टार नाहिं टरी
मुनि वसिष्ठ से पडित ज्ञानी, सोध के लगन धरी ।
सीता हरन मरन दसरथ को, बन में विपति परी ॥
कहं वह फद कहा वह पारिधि, कहं वह भिरवा परी ।
सीया को हरि लैगो रावन, सुबरन लक जरी ।
नीच हाथ हरिचन्द विकाने, बलि पाताल धरी ।
कोटि गाय नित पुन्न करत नृप गिरगिट जोनि परी ।
पाडव जिनके आप सारथी, तिन पर विपत परी ॥
—कबीर वचनावली, पृष्ठ १४३, पद ११४

२– राम बिन को कर्म काटनहार
—क० ग्र०, पृष्ठ १०९, पद ११९

३– सखि वह घर सबसे न्यारा, जहाँ पूरन पुरुष हमारा ।
जहाँ न सुख दुःख साँच झूठ नहिं पाप न पुन्न पसारा ॥
–कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३५४, पद २३६

४– वेद बिवर्जित, भेदविवर्जित, विवर्जित पापरु पुन्य ।
—क० ग्र०, पृष्ठ १३९, पद २२०

५– विसया चिंत म जीव तुहु, विसय ण भल्ला होंति ।
सेवताहं महुर वढ पच्छइ दुक्खइं दिंति ॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, २००

६– विसय कसायहं रंजियहं, अप्पहिं चित्तु न देइ ।
बधिवि दुक्किय कम्मड़ा, चिरु ससारु भमेइ ॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, २०१

वे पुनः अपने मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि यदि खाते पीते और इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है तो भगवान् ऋषभ-देव जिन्हें सभी इन्द्रिय सुख सुलभ थे, उनका त्याग क्यो करते ? अत: सिद्ध है कि इन्द्रिय सुख मोक्ष प्राप्ति मे बाधक हैं ।[1] जिसको पाँचो इन्द्रियों मे स्नेह लगा हुआ है, वह परमात्मा रूपी प्रियतम के अनुभव का रसास्वादन नही कर सकता ।[2] अतः पाँचों इन्द्रियो से मन को विरक्त करना आवश्यक है । जोइन्दु मुनि के विचार से भी इन्द्रिय विषय शाश्वत सुख के बाधक और दुःख के कारण हैं । वे कहते हैं कि रूप से आकृष्ट होकर पतग दीपक मे जल कर मर जाते हैं, शब्द मे लीन होकर हिरण व्याध के बाणो का लक्ष्य बनते हैं, स्पर्श के लोभ से हाथी गढे मे गिरकर बन्धन को प्राप्त होते हैं, सुगन्ध की लोलुपता से भ्रमर कमल में बन्द होकर प्राण त्यागते हैं और रस के लोभ में पडकर मत्स्य धीवर के जाल मे फँसकर मृत्यु को प्राप्त होते है । जब पतगादिक एक-एक विषय मे लवलीन होकर नष्ट हो जाते है तो पाचो इन्द्रियों के विषयो मे आसक्त मानव की क्या दशा होगी । ऐसा विचार कर मनुष्य को निश्चय ही पाँचो इन्द्रियो के विषयो से विमुख रहना चाहिए ।[3] मुनि रामसिंह कहते है कि इन्द्रियो को नियन्त्रित करने के लिए सर्वप्रथम जिह्वा तथा स्पर्शन इन्द्रिय को वश मे करना चाहिए ।[4] इस प्रकार क्रमशः इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर मन को नियन्त्रित करने वाला साधक निश्चय ही ससार सागर को पारकर शाश्वत सुख को उपलब्ध करता है ।[5] जोइन्दु तथा राम सिंह के समान ही महयदिण कवि ने भी इन्द्रिय निग्रह पर विशेष जोर दिया है । उनके विचार से इन्द्रियो के आकर्षण का कारण सासारिक विषय है और इनमे कचन तथा कामिनी प्रधान है । जो साधक इन दोनों प्रलोभनो का त्याग कर पचेन्द्रियो का दमन करता है वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ।[6]

१- खतु पियतु वि जीव जइ, पावइ सासय मोक्खु ।
रिसह भडारउ कि चवइ, सयलु वि इन्दिरा सोक्खु ।।
—रामसिंह, पाहुडदोहा, ६३

२- पर्चाहि बाहिर णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्म ।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स ।।
—वही, ४५

३- रूवि पयगा सद्दि मय गय फासहि णासन्ति ।
अलिउल गध इ मच्छ रसि किम अणुराउ करन्ति ।।
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, अध्याय २, ११२

४- दिल्ल उ होहि म इन्दिरा हु पंचह विण्णि णिवारि ।
एक्क णिवारिहि जीहडिय, अण्ण पराइय णारि ।।
—रामसिंह, पाहुडदोहा, ४३

५- तोडि वि सयलवियप्पडा, अप्पहं मणु वि धरेहिं ।
सोक्खु णिरतरु तहिं लहहिं, लहु ससार तरेहिं ।।
—वही, १३३

६- झपिय धरि पंचेन्द्रियह णिय णिय विसहंजन्त ।
किं न पेछइ झाणट्ठियउ, जिन उपरास कहत ।। —महयदिण, पाहुडदोहा, १०१

अपभ्रंश के जैन कवियों के इस मत का समर्थन कबीर ने भी किया है। विषय वासना की निन्दा करते हुए वे कहते है कि सारा संसार विषय वासनाओं के सेवन मे तल्लीन है, किन्तु विषयो ने ही जीव को ससार सागर में निमज्जित कर दिया है। हे नराधम ! तू फिर भी हरि से विमुख होकर विषयो मे ही अनुरक्त रहता है।[1] वे विषय वासनाओं मे अनुरक्त योगी को फटकारते है कि हे योगी, तू अन्य अनेको पाखण्डों को छोडकर पाँचो इन्द्रियो का निग्रह कर परमपद को ढूँढ।[2] कबीर अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवि रामसिंह के स्वर मे स्वर मिलाते हुए कहते है कि हे मन, तू विषय वासनाओ की प्राप्ति के लिए क्यो व्यर्थ दशों दिशाओ मे भ्रमण कर रहा है तुझे विषयो से कभी तृप्ति न होगी। जिस-जिस स्थान की तू कल्पना करता है, वही माया मोह का बंधन तुझे बाध लेता हैं, आत्मा रूपी स्वच्छ स्वर्ण के थाल को उसने पापो मे कलुषित कर दिया है। यदि सासारिक विलास वैभव तथा विषय वासनाओ के सेवन मे ही सुख की प्राप्ति होती तो बडे-बडे समृद्धि-शाली राजा-महाराजा लोग अतुलित वैभव का परित्याग कर वन का मार्ग क्यो ग्रहण करते ? विषय वासनाओ के सेवन से पापकर्म कर तू क्यो भिखारी सदृश दीन बन-कर सुख शान्ति की प्रार्थना करता फिरता है। यदि तू विषय वासनाओ के उपभोग और नारी के संसर्ग का परित्याग कर दे तो तुझे वह आनन्द स्वरूप ब्रह्म सहज ही प्राप्त हो जाएगा।[3]

अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु का अभिमत है कि जिसके हृदय मे हरिणाक्षी नारी का निवास है, उसके हृदय मे ब्रह्म विचार नही हो सकता। जिसप्रकार एक ही म्यान मे दो तलवार नहीं समा सकते उसी प्रकार एक ही हृदय मे नारी तथा ब्रह्म दोनो का निवास भी संभव नही है।[4] कबीर ने भी इस मत का पूर्ण समर्थन किया है। कबीर ने नारी को काली नागिन कहा है जिससे हरिभक्त तो बच जाते है, किन्तु

१– विषया व्याप्या सकल ससारु, विषया ले डूबा परवारु।
रेनर नाव चौडि कत बोडी, हरिस्यो तोडि विषया संग जोडी ॥
—क० ग्र० परिशिष्ट, पृष्ठ २७७, पद १९०

२– तजि पाखंड पाँच करि निग्रह खोजि परमपद राई।। —क० ग्र० पृष्ठ १३६, पद २०८

३– काहे रे मन दहदिसि धावै, विषिया संगि सन्तोष न पावै।
जहाँ जहाँ कलपै तहाँ तहाँ बन्धना, रतन को थाल कियो तै रंधना।
जो पै सुख पइयत रन माही, तौ राज छाडि कत बन को जाही।
आनन्द सहित तजो विषनारी, अब क्या झीखै पतित भिखारी।
कहै कबीर यहु सुख दिन चारि, तजि विषया भजि चरन मुरारि।
क० ग्र० पृष्ठ ३८९, पद ८७

४– जसु हरिणच्छी हियवडए, तसुणवि बम्भु वियारि।
एक्कहिं केम वसन्ति बढ़, बेखण्डा पडियारि ॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, १२१

विषयी जीवों को वह डँस लेती है ।[1]

११. मन-संयम की आवश्यकता

आत्म साधना के लिए इन्द्रिय सयम तथा इन्द्रिय सयम के लिए मनसाधना अत्यन्त अनिवार्य है । किन्तु, इस मन की गति बडी विषम है, इसे रोकना बड़ा कठिन है । यह तो बार-बार इन्द्रिय जन्य विषयसुख की ओर आकृष्ट होकर उसे पाने के लिए ही लालायित रहता है ।[2] यदि इसे निवारण नही किया जाएगा और विषयों से व्यावृत नही किया जाएगा तो यह शील रूपी वन को नष्ट कर देगा और आत्मा-रूपी साधक संसार मे भटकता रहेगा । अत. मुनि राम सिह मन रूपी हाथी को विषय वासनाओं से विमुख करने का उपदेश देते हैं ।[3] जोइन्दु मुनि भी पाँचो इन्द्रियों के नायक मन को वश मे करने का निर्देश करते है । वे कहते है कि जिस प्रकार मूल के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के पत्ते अवश्य सूख जाते है उसी प्रकार मन को वश मे करने पर पाँचो इन्द्रियाँ वश मे हो जाती हैं ।[4] अत. सर्वप्रथम इस मन को ही वश मे करना चाहिए । जिसका मन रूपी जल विषय कषाय रूपी वायु के झोंके मे क्षुब्ध नही होता उसी की आत्मा निर्मल होती है और वही आत्म साक्षात्कार कर सकता है ।[5] और जिसने मन को वश मे करके आत्मा को परमात्मा से नही मिलाया वह योग धारण कर भी क्या कर सकता है ! कुछ नही ।[6]

कबीर के विचार से भी भक्ति का द्वार अत्यन्त सँकरा है और मन चचल चोर के समान है । जिसका मन वश मे नही है, वह ऊपर से तो हरि की भक्ति मे

१- कामणि काली नागनी तीन्यूँ लोक मंझारि ।
राम सनेही ऊबरै, विषई खाये झारि ॥
—क० ग्र०, कामी नर कौ अंग, पृष्ठ ३४, १

२— जोइय विसमी जोइगइ, मणु वारण हु ण जाइ ।
इन्दिय विसय जि सुक्खडा, तित्थइँ वलि वलि जाइ ।।
—रामसिंह, पाहुडदोहा, १८६

३— अम्मिय इहु मणु हत्थियउ, विझहँ जंतउँ वारि ।
तँ भंजेसइ सील वणु, पुणु पडिसइ संसारि ॥
—वही, १५५

४— पन्चहँ णायकु वसि करहु, जेण होति वसि अण्ण ।
मूल विणट्टहँ तरुवरहँ, अवसइ सुक्कइ पण्ण ॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय १४०

५— विसय कसायहिं मण-सलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु ।
अप्पा णिम्मल होइ लहु, वढ पँचक्खु वि तासु ॥
—वही, द्वि० अध्याय १५३

६— अप्पा परहुण मेलवियउ मणु मारिवि सहसत्ति ।
सो वढ जाएँ किं करइ, जासुण एही सत्ति ॥
—वही, द्वितीय अध्याय, १५७

तल्लीन रहता है, किन्तु मन में अनेकों बातें उत्पन्न होती रहती हैं।[1] यह मन विषय वासनाओ में तल्लीन होकर हरि का स्मरण नहीं करता। फलत: यमराज के यहाँ पहुँच कर इसे बहुत कष्ट सहना पड़ता है।[2] अतः इस मतवाले मन को घरही में घेर कर मार देना चाहिए और जब भी यह हरिभक्ति या आत्मध्यान से विचलित हो इसे अकुश दे देकर उस ओर मोड़ना चाहिए।[3] इस मतवाले मन के टुकडे-टुकड़े कर देने पर ही आत्मा रूपी सुन्दरी को सुख की प्राप्ति हो सकती है और उसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है।[4] इस मन को शुद्ध कर लेने पर अहकार आदि सभी विकार नष्ट हो जाते हैं और इन विकारो के नष्ट होने पर पगु बनकर साधक की आत्मा प्रिय-प्रिय की रट लगा देती है, ऐसी दशा मे काल उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। वह जन्म–जरा के भय से मुक्त हो जाता है।[5] मन को विकारो से मुक्त कर विशुद्ध स्थिति की प्राप्ति के लिए साधक को कहीं जाने की आवश्यकता नही होती, अपितु मन की वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर देने से ही सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।[6]

१२. प्राणि-रक्षा

प्राणि–रक्षा से अपभ्रंश के जैन कवियों का अभिप्राय पृथ्वीकायिक, जल-कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक और त्रस कायिक इन छह काय

१– कबीर सेरी साकडी, चञ्चल मनवा चोर।
गुण गावै लै लीन होइ कछु इक मन मे और॥
—क० ग्र० मन को अग, ४
तथा
भगति दुबारा सांकडा, राई दसवें भाइ।
मन तो मेगल ह्वै रह्यो, क्यो करि सकै समाइ॥
—वही, २६

२– कबीर मन गाफिल भया, सुमिरण लागे नाँहि।
घणीं सहेगा सासणा, जम की दरगह माहि॥
—क० ग्र०, मन को अग, १७

३– मैमन्ता मन मारि रे, घट ही माहें घेरि।
जब ही चाले पीठि दे, अकुस दै दै फेरि॥
–वही, मन को अग, ६

४– मैमता मन मारि रे, नान्हा करि करि पीसि।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीस॥
—वही, मन को अग, २०

५– यहु मन पटकि पछाड़ लै, सब आपा मिटि जाइ।
पगुल ह्वै पिव पिव करै, पाछे काल न खाइ॥
—क० ग्र०, जीवजी को अग, ४

६– करत विचार मन ही मन उपजी, ना कही गया न आया।
कहै कबीर ससा सब छूटा, राम रतन धन पाया।
—क० ग्र०, पद २३

के जीवों की रक्षा से है। जो अपने जीवन में अहिंसा को अंगीकार कर लेता है तथा उक्त छह काय के जीवों का पूर्ण संरक्षण करता है और किसी भी जीव को कभी मन, वचन काय से भी कष्ट नहीं पहुँचाता, वह महनीय बन जाता है। इन्द्रिय-निग्रह और प्राणि-रक्षा ही वास्तविक संयम है और संयम आत्मोत्थान का प्रथम सोपान है।

जैन कवियो का मत है कि जो हिंसा आदि पापों का त्याग कर अपनी आत्मा में स्थित रहता है वह निश्चय से मोक्ष को प्राप्त करता है।[1] जैन दर्शन के अनुसार सभी जीव समान हैं, मूर्ख मनुष्य ही अज्ञान के कारण उनमें भेदभाव रखते हैं, विवेकी जीव सबको समान समझते हैं।[2] वस्तुत: सभी जीव ज्ञानमय हैं, जन्म-मरण से रहित हैं और अपने-अपने प्रदेशों तथा केवल ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा समान हैं।[3] जीवों के बदर सूक्ष्म आदि शरीर तथा बाल वृद्ध एवं तरुण आदि विभिन्न अवस्थाएँ कर्मों के कारण होती हैं, ये भेद शरीर के हैं, जीव के नहीं, जीव तो सर्वत्र सर्वदा असंख्यात प्रदेशी ही है।[4] जो ज्ञानी राग और द्वेष का परिहार कर सब जीवो को समान समझते हैं, उनमें भेदभाव नही रखते, वे समभाव में स्थिर होकर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[5] अत: ज्ञानी जनो को प्राणिमात्र की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। जैन कवि मुनि राम सिंह का मत है कि वनस्पति तक मे वही आत्मा है, जो मनुष्य मे है। अत: वनस्पतियो को भी कष्ट नही देना चाहिए। वे व्यर्थ में पेड पौधो से पत्तियो पुष्पों आदि को तोडने वाले को फटकारते हुए कहते है कि तू व्यर्थ पत्तियो को क्यों तोडता है। मोह के कारण तू यह नही जानता कि कौन तोडता है और कौन टूटता है और इस प्रकार पत्तियों को तोडता है, जैसे कोई ऊँट प्रविष्ट हो गया हो।[6] उनका कथन है कि पत्ती, पानी, दर्भ, तिल इन सबमें अपने

१– हिंसादिक परिहारु करि जो अप्पाहु ठवेइ।
 सोबियऊ चारित्तु मुणि, जो पचम गइ णेइ॥
 —जोइन्दु, योगसार, १०१

२– जीवहँ तिहुयण संठियउ मूढा भेउ करंति।
 केवलणाणिं णाणि फुडु सयल वि एक्कु मुणंति॥
 —जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० ९६

३– जीवा सयल वि णाणमय जम्मणमरण विमुक्क।
 जीवपएसहिं सयल सम सयल वि सगुणहिं एक्क॥
 —वही, द्वि० अ० ९७

४– अंगइं सुहुमइं बादरइं, विहिवसिं होंति जे बाल।
 जिय पुणु सयलु वितित्तडा सव्वत्थ वि सयकाल॥
 —वही, द्वि० अ० १०३

५– राय दोस वे परिहरिवि, जेंसमभाव णियंति।
 ते समभावि परिट्ठिया, लहु, णिव्वाणु लहंति॥
 —वही, द्वि० अ० १००

६– पत्तिय तोडहि तडतडह, णाइं पइट्ठा उट्ठ।
 एव म जाणहि मोहिया, को तोडइ को तुट्टु॥
 —रामसिंह, पाहुडदोहा, पृष्ठ ४८, दोहा १५८

समान ही जीव हैं। मोक्ष प्राप्ति का कारण इन वस्तुओं को तोड़कर परमात्मा के चरणों में चढाना कदापि नही है।[1] अतः हे योगी! तू पत्तियो को मत तोड़ और फलों पर भी हाथ मत बढ़ा। जिस परमात्मा पर चढ़ाने के लिए इन्हें तोड़ता है उस परमात्मा को ही इन पर चढ़ा दे।[2]

अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही कबीर ने भी सब जीवों को समान दृष्टि से देखा है। उनके विचार से भी जो दया धर्म का पालन करता है और सब जीवो को समान समझता है उसे ही अविनाशी परमपद की प्राप्ति होती है।[3] कबीर जीव हिंसा करने वाले को सबसे बड़ा अधर्मी समझते हैं। वे उसे फटकारते हुए कहते हैं—

जीव बधत अरु धरम कहत हो, अधरम कहाँ है भाई।
आपन तो मुनि जन ह्वै बैठे, कासनि कहौं कसाई।[4]

कबीर देवी देवताओं के सामने जीवों की बलि चढाने वाले की भर्त्सना करते हुए कहते है कि जो लोग निर्जीव की पूजा के लिए सजीव का बलिदान करते हैं उनके लिए अन्तिम काल बहुत भयानक होता है। ऐसे लोग राम नाम की गति न जान सकने के कारण भय मे डूबे रहते हैं, वे देवी देवताओ को तो पूजते रहते हैं किन्तु परब्रह्म को नही जानते। कबीर के विचार से वे विषय वासनाओं से लिप्त हैं, उनकी बुद्धि जाग्रत नही हुई है।[5] जैन मान्यताओं से प्रभावित होकर ही कबीर ने भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि मनुष्य पर्याय मे ही नही, अपितु पशु पक्षियों, वृक्षो वनस्पतियों आदि मे भी समान जीव की कल्पना की है। उनके विचार से जो आत्मा परमात्मा मे है, वही ससार के सभी जीवधारियो मे है, चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो अथवा पशुपक्षी, कीड़ा मकोडा तथा वृक्ष वनस्पति

१– पत्तिय पाणिय, दब्भ, तिल, सव्वइं जाणि सवण्णु।
ज पुणु मोक्खहं जाइवउ त कारणु कुइ अण्णु॥
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, पृष्ठ ४८, दोहा १५६

२– पत्तिय तोड़िम जोइया, फलहिं जि हत्थु म वाहि।
जसु कारणि तोड़ेहि तुहुं, सोसिउ एत्थु चढ़ाहि॥
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, पृष्ठ ४८, दोहा १६०

३– दया राखि धरम को पाले, जगसो रहै उदासी।
अपना सा जिउ सबको जानै ताहि मिले अविनासी॥
—कबीर हु० प्र० द्विवेदी, हि० ग्र० रत्नाकर बम्बई–४
पृष्ठ २७१ (१–२२)

४– क० ग्र०, पद ३६

५– सरजीउ काटहि निरजीउ पूजहि, अन्तकाल कउ भारी।
राम नाम की गति नही जानी, भै डूबे ससारी॥
देवी देवा पूजहि डोलहि, पारब्रह्मु नही जाना।
कहत कबीर अकुल नही चेतिआ, बिखिआ सिउ लपटाना।
—डा० रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, पृ० ४८, राम गउड़ी, पद ४५

आदि ।[1] उनके विचार से वही त्रिभुवनपति जल थल में सर्वत्र समाया हुआ है। जैसे विभिन्न वर्णवाली अनेक गौ का दूध एक सा ही होता है वैसे ही विभिन्न शरीर में स्थित आत्मा ही परमात्मा है ।[2] अतः किसी भी जीव का वध करना महान् अधर्म है।

१३. अन्तरंग-शुद्धि

अन्तरंग शुद्धि से तात्पर्य है चित के विकारों का शमन होना। चित्त में विकारों के रहते हुए सामरस्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु के विचार से जिस प्रकार मेघ पटल से विहीन निर्मल आकाश में ही सूर्य का प्रकाश प्रतिभासित होता है उसी प्रकार निर्मल चित्त मे ही परमशिव परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं।[3] जिस प्रकार दर्पण मे मल लग जाने पर उसमे प्रतिबिम्ब स्पष्ट नही दिखाई देता उसी प्रकार रागद्वेष आदि मल से मलीन हृदय में शुद्ध परमात्मा के दर्शन भी नही हो सकते ।[4] अतः जिसके भाव शुद्ध नही है वह कितना भी वन्दन, प्रतिक्रमण आदि करे, उसके सयम नही हो सकता ।[5] जिसका चित्त विशुद्ध है, उसी

१- नही को ऊंचा, नही को नीचा, जाका पयण्ड ताही का सीचा।
जो तू वामन बभनी जाया, तो आन वाट ह्वै क्यो नही आया।
जो तू तुरक तुरकनीं जाया, तो भीतरि खतना क्यूं न कराया।
कहे कबीर मधिम नहिं कोई, सो मधिम जा मुख राम न होई॥ —क० ग्र०, पद ४१

तथा

दया कौन पर कीजिए का पर निर्दय होय
साइं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।
—कबीर वचनावली, पृष्ठ ६०, ५९८

तथा

पाती तोरे मालिनी, पाती पाती जीउ।
—डा० रामकुमार वर्मा सन्त कबीर, पृ० १०४, रागु आसा, पद १४

२- सोऽहं हंसा एक समान काया के गुण आनहिं आन।
माटी एक सकल संसारा बहुविध भांडे घड़े कुंभारा॥
मन्ध बरन दस दुहिए गाय, एक दूध देखो पतिआय।
करे कबीर ससाकरि दूरि, त्रिभुवन नाथ रह्या भरपूर॥
—कबीर ग्रन्थावली, पद ५३

३- जोइय णिय मणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ सन्तु।
अबरि णिम्मलि घण-रहिए भाणुजि जेम फुरन्तु॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, प्र० अ० ११९

४- राए रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ सन्तु।
दप्पणि मइ लिए बिंबु जिम, एहउ जाणिणिभन्तु॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, प्र० अ० १२०

५- बन्दउ णिदउ पडिकमउ, भाउ असुद्धउ जासु।
पर तसु संजमु अत्थिणवि, जमण सुद्धिण तासु॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वि० अ०, ६६

के शील, संयम तथा दर्शन, ज्ञान आदि होते हैं, उसी के कर्मों का क्षय होता है और वही निर्वाण का अधिकारी होता है।[1] इसके बिना यह जीव कही जाए, कुछ भी करे, उसकी मुक्ति नही हो सकती।[2] मुनि राम सिंह का भी यही मत है। वे कहते हैं कि सिद्धि-प्राप्ति के लिए सभी जीव तड़पते रहते हैं किन्तु सिद्धि प्राप्ति का तो एकमात्र उपाय चित्त की निर्मलता ही है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से सिद्धि नही मिल सकती।[3]

अपभ्रंश के जैन कवियो के इस मत से कबीर पूर्णतः सहमत थे। जोइन्दु मुनि के शब्दो मे ही वे कहते हैं कि यदि तू अपनी आत्मा के दर्शन करना चाहता है तो हृदय रूपी दर्पण को मांज कर शुद्ध बना ले। यदि हृदय रूपी दर्पण मे रागद्वेष आदि की काई लग जाएगी तो उससे आत्मदर्शन न हो सकेगा।[4] कबीर के विचार मे जिसका हृदय मलीन है वह मुख से ज्ञान की अनेक बातें करने तथा स्नानादि के द्वारा शरीर की शुद्धि करने पर भी आत्मदर्शन नही कर सकता। चित्त की निर्मलता के बिना तो उसके अन्य सभी प्रयास पानी को बिलोने के समान ही निष्फल हैं। पानी को बिलोने से उसमे से घृत नही निकल सकता है, दूध को बिलोने से ही घृत की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार चित्त की निर्मलता से ही परमपद की प्राप्ति हो सकती है, अन्य किसी उपाय से नही।[5]

१४. दश धर्म की आवश्यकता

चित्त की विशुद्धि के लिए अपभ्रंश के जैन कवियों ने उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव (मान का त्याग), उत्तम आर्जव (कपट का त्याग), उत्तम सत्य, उत्तम शौच (लोभ का त्याग) उत्तम तप, उत्तम त्याग (दान), उत्तम आकिंचन (अपरिग्रह)

१- सुद्धह संजमु सीलु-तउ, सुद्धह दंसणु णाणु।
सुद्धह कम्मक्खउ हवइ, सुद्धउ तेण पहाणु॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० ६७

२- जहिं भावहिं तहिं जाहि जिय, जं भावइ करि तं जि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्तहं सुद्धि ण जं जि।
—परमात्मप्रकाश द्वि० अ० ७०

३- सयलु वि कोवि तडफडइ, सिद्धत्तणहु तणेण।
सिद्धत्तणु परिपावियइ, चित्तहं णिम्मलएन॥
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, ८८

४- जो दरसन देख्या चहिये, तो दरपन मन्जत रहिये।
जब दरपन लागें काई, तब दरसन किया न जाई॥
—क० ग्रं०, पृष्ठ १५२ पद २६२

५- हृदे कपट मुख गिआनी। झूठे कहा बिलोवसि पानी।
काइया मांजसि कौन गुना। जउ घट भीतरि है मलिना॥
—डा० रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, पृष्ठ १३७, पद ८

तथा उत्तम ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों के पालन को आवश्यक माना है ।[1] महयंदिण कवि ने भी अपने दोहापाहुड़ में दश प्रकार के धर्मों का नामोल्लेख किया है ।[2]

कबीर जैनियों के इस दशलक्षण धर्म से पूर्ण परिचित थे । उन्होंने साधना के लिए इनकी अनिवार्यता उसी प्रकार अंगीकार की है जिस प्रकार जैन कवियों ने । क्रोध को उन्होने कालस्वरूप बताया है और क्षमा को आत्म साक्षात्कार का कारण ।[3] उनका कथन है कि पृथ्वी को कितना भी रौंदा कुचला जाए, खोदा खादा जाए, वृक्षो को उखाडा काटा जाए, उन्हे कभी क्रोध नही आता, वे सब क्षमाभाव से सह लेते हैं, कभी खोदने और काटने वाले का अहित नहीं करते, इसी प्रकार सज्जन व्यक्ति भी दुर्जनों के कुटिल वचन को शान्त परिणामो से सह लेते है ।[4] छोटे व्यक्तियो का कार्य तो उत्पात करना ही होता है, किन्तु महान् व्यक्ति अपनी महानता के कारण उनके प्रति सदैव क्षमा का भाव ही रखते हैं । भृगु ने विष्णु भगवान् को लात मारी, उन्होंने चुपचाप सहन कर लिया, विष्णु भगवान् का इससे कुछ न बिगड़ा । अपितु, यह उनकी महानता का ही प्रतीक सिद्ध हुआ ।[5]

कबीर ने उत्तम मार्दव धर्म की उपादेयता भी प्रतिपादित की है । मान कषाय ने तो बडे-बडे मुनियों को भी पथभ्रष्ट कर दिया है । अतः इस मान का मर्दन आवश्यक है ।[6] प्रभु-प्राप्ति के लिए छल कपट तथा मायाचार का त्याग कर उत्तम आर्जव धर्म का पालन करना उनकी दृष्टि से अतीव अनिवार्य है । उनका कथन है कि जो हृदय में छल कपट रखकर मिलता है उससे प्रभु दूर रहते है किन्तु, जो शुद्ध हृदय से मिलता है, उससे वह दौडकर मिलते हैं ।[7] जैन कवियो के समान ही

१– तउ करि दहविहु धम्मु करि, जिणभासिउ सुपसिद्ध ।
कम्महं णिज्जर सह जिय, फुडु अक्खिय मइं तुज्झु ।।
दहविहु जिण वर भासियउ, धम्मु अहिंसासारु ।
अहो जिय भावहि एक्कमणु, तिम तोड़हि संसारु ।
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, २०८, २०९

२– महयंदिण कवि, दोहापाहुड़

३– जहां क्रोध तहं काल है, जहा क्षमा तह आप ।
—कबीर वचनावली, पृष्ठ ५७, ५७०

४– खोद खाद धरती सहै, काट कूट वनराय ।
कुटिल वचन साधू सहै, और से सहा न जाय ।।
—वही, पृष्ठ ५७, ५७२

५– छिमा बड़न को चाहिये छोटन को उतपात ।
कहा विस्नु को घटि गयो, जो भृगुमारी लात ।।
—वही, पृष्ठ ५७, ५६९

६– माया त्यागे क्या भया, मान तजा नहि जाय ।
जेहि मानै मुनिवर ठगे, मान सबन को खाय ।।
—वही, पृष्ठ ५२, ५१९

७– हेत प्रीत सो जो मिले ताको मिलिये धाय ।
अन्तर राखे जो मिले तासों मिले बलाय ।। —कबीर वचनावली, पृष्ठ ५२, ५२२

उन्होंने हित मित प्रिय वचन को उत्तम सत्य तथा उत्तम तप माना है। उनके विचार से मधुर वचन औषधि के समान तथा कटु वचन तीर के समान हैं, जो कानों के द्वार से पहुँच कर सम्पूर्ण शरीर को कष्ट देता है।[1] अतः ऐसी वाणी बोलनी चाहिए, जिससे दूसरों को भी सुख मिले तथा स्वय भी शान्ति प्राप्त हो।[2] उनका मत है कि सत्य के बराबर कोई तप नही है और असत्य के बराबर कोई पाप नही है। जिनका हृदय सच्चा है उसी के हृदय मे परमात्मा का निवास है।[3] सत्यशील मनुष्य का हृदय निर्मल हो जाता है, वह निर्भीक होता है। कबीर उसी को सत्यव्रत धारी कहते हैं, जो सत्य ही बोलता है, सत्य ही ग्रहण करता है तथा असत्य का परित्याग कर सत्य का ही पालन करता है। ऐसा सत्यशील व्यक्ति जन्म-मरण के भय से मुक्त हो जाता है।[4] कबीर के विचार से जल मिट्टी आदि के शरीर, गृह, वस्त्र आदि को स्वच्छ करना बाह्य स्वच्छता है, बाह्य स्वच्छता के साथ-साथ आन्तरिक स्वच्छता भी साधक का परम कर्त्तव्य है। लोभ से हृदय अपवित्र हो जाता है, लोभी व्यक्ति कभी सच्ची भक्ति का पात्र नही हो सकता। अतः साधक को लोभ का त्याग कर अन्तरग शुद्धि के लिए उत्तम शौच धर्म का पालन करना चाहिए।[5] इन्द्रियसयम तथा मनसयम का विवेचन ऊपर किया जा चुका है, यही इन्द्रियसयम तथा मनसयम जैन कवियो तथा कबीर का उत्तम सयम है। सहनशीलता की पराकाष्ठा ही कबीर के तप की कसौटी है। उनके अनुसार साधक को इतना सहनशील होना चाहिए कि उसकी सहनशीलता के सामने चन्द्रमा की शीतलता तथा हिम का शीतत्व भी म्लान्त हो जाए।[6] इस तप के द्वारा साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, उसके शरीर तथा इन्द्रियों का संयम स्वतः ही हो जाता है। उनका तप भी बाह्य आडम्बर नही है अपितु अन्तरग शुद्धि है। त्याग (दान) के महत्त्व को भी कबीर ने स्वीकार किया है। उनके विचार से दान कभी व्यर्थ नही होता। बसन्त ऋतु

१– मधुर वचन है औषधी कटक वचन है तीर।
श्रवण द्वार ह्वै सचरै, सालै सकल सरीर॥
-कबीर वचनावली, पृष्ठ ४९, ४६६

२– ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख होइ

३– सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
-कबीर वचनावली, पृष्ट ६०, ५९९

४– सांच ही कहत और साच ही गहत है, काचकूं त्याग कर सांच लागा।
कहै कबीर यो भक्त निर्भय हुआ, जन्म और मरण का भ्रम भागा॥

५– जब मन लागे लोभ सों, गया बिषय में सोय।
कहै कबीर बिचारि के, कस भक्ति धन होय॥
—कबीर वचनावली, पृष्ठ १६, १४९

६– नहिं शीतल है चन्द्रमा, हिम नहीं शीतल होय।
कबिरा सीतल सन्तजन, नाम सनेही सोर॥
-कबीर वचनावली, पृष्ठ ३०, ३३९

की याचना पर वृक्ष प्रसन्नता से अपने पत्तों का दान करते हैं। फलतः उन्हें शीघ्र ही नवीन पत्रों की प्राप्ति हो जाती है।[1] मनुष्य को सम्पत्ति पाकर उसी प्रकार उसी प्रकार दोनों हाथों से दान देना चाहिए जैसे नाव में जल बढ जाने पर उसे दोनों हाथों से बाहर निकाला जाता है।[2] मनुष्य जन्म बडा दुर्लभ है, इसकी सार्थकता दान देने मे ही है।[3] कबीर भौतिक साधनों को उदरपूर्ति, कुटुम्बपालन तथा अतिथिसत्कार के लिए ही प्राप्त करना चाहते थे।[4] उनका कथन है कि वही सच्चा साधु है जो अधिक परिग्रह का संग्रह न कर केवल उदरपूर्ति के लिए ही अन्न तथा तन ढँकने के लिए ही वस्त्र ग्रहण करता है।[5] अपरिग्रह की सिद्धि के लिए कबीर ने ईश्वर मे दृढ विश्वास तथा सतोष को आवश्यक माना है।[6] मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सभी अवस्थाओं मे त्याग करके वीर्य की रक्षा करना ही ब्रह्मचर्य है। साधक के लिए वीर्य रक्षा का बडा महत्त्व है। वीर्य रक्षा से शरीर हृष्टपुष्ट एव नीरोग रहता है। शरीर शक्तिशाली होने से साधना के मार्ग की अनेक बाधाओं को साधक सहन कर सकता है। कबीर ने वीर्य रक्षा के लिए अनेक प्रकार के उपदेश दिए हैं। उन्होने दिन रात विषय भोग मे स्थित भोग मे लिप्त रहने वाले को नर्क गामी बताया है।[7] नारी सम्पर्ग दुखों की खान है। नारी की परछाई पडने से सर्प अधा तक हो जाता है, फिर जिनका सदैव नारी का संग है उनकी क्या दशा होगी।[8] यह विचार कर कबीर साधक को नारी

१- ऋतु वसन्त जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात।
तातें नव पल्लव भयः, दिया दूर नहिं जात॥
-कबीर वचनावली, पृष्ठ ३७, ५७४

२- ज्यो जल बाढै नाव मे घर में बाढे दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये यहि सज्जन को काम॥
-वही, पृष्ठ ५८, ५७५

३- देह धरे का गुन यही, देहु देहु कछु देहु।
बहुरि देह न पाइये, अबकी देहु सुदेहु॥ -वही, पृष्ठ ५८, ५७७

४- साइं इतना दीजिये, जामे कुटुम्ब समाइ।
मैं भी भूखा ना रहू, साधु न भूखा जाय॥
-वही, पृष्ठ १६, १४६

५- उदर समाता अन्न ले, तनहिं समाता चीर।
अधिक हि सग्रह ना करै, ताका नाम फकीर॥
-वही, पृष्ठ ४६, ४५६

६- गोधन गज धन बाज धन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥
-कबीर वचनावली, पृष्ठ ५८, ५८१

७- नर नारी सब नर्क है, जब लग देह सकाम।
-कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३४, ७

८- नारी की झाइं परत अधा होत भुजग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी को सग॥
-कबीर वचनावली, पृष्ठ ५५, ५५५

संसर्ग से विमुख कर उसे उत्तम ब्रह्मचर्य का पथ प्रदर्शित करते हैं।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनि रामसिंह तथा महयन्दिण कवि द्वारा वर्णित दश धर्म की महत्ता कबीर ने भी स्वीकार की है।

१५. द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन

चित्त शुद्धि तथा निर्वाण प्राप्ति के लिए अपभ्रंश के जैन कवियों ने अनित्य अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ तथा धर्म इन बारह भावनाओं के चिन्तन को आवश्यक माना है।[2] इन बारह भावनाओं में से अधिकांश को कबीर ने भी ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है।

अनित्य भावना का वर्णन करते हुए लक्ष्मीचन्द ने लिखा है कि यह जीवन जल के बुलबुले के समान अस्थिर है, धन यौवन भी क्षणभगुर है, ऐसा विचार कर अमूल्य मनुष्य जन्म को व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए।[3] लक्ष्मीचन्द के समान ही अनित्य भावना का विवेचन करते हुए कबीर भी कहते हैं कि संसार में सभी कुछ अनित्य है, कोई भी शरीरधारी सदैव स्थिर नहीं रहा है, न रहेगा, चाहे वह राजा, राणा, छत्रपति कुछ भी क्यों न हो।[4] जब राम लक्ष्मण तथा सीता जैसी महान् आत्माओं को जाते देर न लगी, कौरव तथा भोज भी विनष्ट हो गए, पाडव तथा कुन्ती भी परलोक सिद्धार गए, जिस रावण ने सुवर्ण की लका बनाई उसे भी ससार से विदा होने मे रचमात्र भी विलम्ब न हुआ तो ससार में अन्य कौन अमर रह सकता है?[5] अत. हे मन, तू उस दिन का स्मरण कर, जिस दिन मृत्यु निकट आ जाएगी और

१- नारी सेती नेह, बुधि विवेक सब ही हरै।
काइ गमावै देह, कारिज कोई ना सरै॥
—कबीर ग्रं०, पृष्ठ ३४, ८

२- अणुपेहा बारह वि जिय भाविवि एक्कमणेण।
राम सीहु मुणि इम भणइ, सिवपुरि पावहि जेण॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, २११

३- जल बुब्बउ जीविउ चवलु, धणु जोव्वणु तडि तुल्लु।
इसउ वियाणिवि मा गमहि, माणुस जम्म अमुल्लु॥
—डा० वासुदेव सिंह, अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद के अन्तर्गत लक्ष्मीचन्द का दोहाणुवेहा, ५

४- इक दिन ऐसा होइगा, सबसू पड़ै विछोह।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १८, ६

५- गए राम औ गए लछमना सग न गै सीता अरु धना।
जात कौरव न लाग बारा, गए भोज जिन साजलधारा॥
सब गै पाडव कुन्ती सी रानी, गे सहदेव सुमति जिन ठानी।
सर सोन के लक उठाई, चलत बार कछु सग न लाई॥
—कबीर वचनावली, पृष्ठ १७६, पद २०२

कोई भी तुझे बचाने वाला न मिलेगा। माता-पिता, स्त्री-पुत्र, कुटुम्बी सब तुझे देखकर रुदन करेंगे और जो तुझसे बहुत स्नेह दिखाते हैं, वे ही तुझे मिट्टी में मिला देंगे।[1]

अशरण भावना का चिन्तन करते हुए अपभ्रंश के कवि लक्ष्मीचन्द ने कहा है कि इस संसार मे जीव का कोई भी शरण नही है। यदि कोई शरण है तो केवलदर्शन, ज्ञानमय अपनी आत्मा ही शरण है।[2] कबीर भी कहते हैं कि हे जीव! जब यम बाँधकर तुझे ले जाने लगेगा तब स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, दास, दासी अथवा धन दौलत कोई भी तेरी रक्षा न करेगा। अतः संसार मे तुझे शरण देने वाला कोई भी नही है।[3]

संसार भावना का वर्णन करते हुए अपभ्रंश कवि लक्ष्मीचन्द ने लिखा है कि जीव पाँचों इन्द्रियों के बन्धन मे बँधकर ससार में पंच परावर्तन करता है और दुःखी रहता है। इस संसार का स्वभाव दुःखद है। इसमें कही भी कोई सर्वथा सुखी नही है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी दुःख से दुःखी अवश्य है।[4] कबीर भी इस संसार को दुःख और असार समझते है। वे कहते हैं कि इस ससार मे कुछ भी सार नहीं है, यह सेंवल के फूल के समान निस्सार है, कभी दुःखद प्रतीत होता है, कभी सुखद, किन्तु ससार के सुख-दुःख दोनों ही अपने नही हैं, विनाशीक है।[5]

अनन्त गुणो का भाडार यह आत्मा मिथ्यात्व से मोहित होकर अकेला ही चारो गतियो मे भ्रमण करता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर अकेला ही शिव-सुख का उपभोग करता है, दूसरा कोई भी सुख-दुःख का साथी नही बनता। अतः एकत्व भावना का चिन्तन कर स्वयं ही अपनी आत्मा के उद्धार के लिए प्रयत्नशील

१- वा दिन की कछु सुधि करि मन मा।
जा दिन लै चलु लै चलु होई, ता दिन सग चले नहिं कोई।
तात मात सुत नारी रोई, माटी के सग दियो समोई।
सो माटी काटेगी तन मा।
—कबीर वचनावली, पृष्ठ १५३, पद १४२

२- असरणु जाणहि सयलु जिय, जीवहं सरणु ण कोइ।
दसणणाणचरित्तमउ, अप्पा अप्पउ जोइ॥
—दोहाणुवेहा, लक्ष्मीचन्द, ७

३- उलफत नेहा, कुलफत नारी, किसकी बीबी किसकी बादी।
किसका सोना किसकी चांदी, जा दिन जम लै चलि है बाधी।
—कबीर वचनावली, पृष्ठ १५३, पद १४२

४- पंचपयारह परिभमइ, पर्चहिं बधिउ सोइ।
जामण अप्पु मुणेहि फुडु, एम भमति हु जोइ। —दोहाणुवेहा, लक्ष्मीचन्द, १०

५- कबीर यहु जग कुछ नही, खिन खारा खिन मीठ।
काल्हि जु बैठा माडिया, आज महांणा बीठ॥
—कबीर वचनावली, काल कों अंग, १५

रहना चाहिए ।[1] अपभ्रंश कवियों की इस एकत्व भावना का विवेचन भी कबीर के काव्य मे उपलब्ध होता है । कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार बहुत मे पक्षी आकर वृक्ष पर कुछ समय के लिए बस जाते हैं वैसे ही यह जीव भी ससार में सम्बन्धियों के माथ बसेरा करता है ।[2] किन्तु चलते समय इसे अकेले ही गमन करना पडता है, अन्य कोई साथ नही जाता ।[3] जिस नारी से मनुष्य सबसे अधिक स्नेह करता है वह तो द्वार से ही माथ छोड देती है, कुटुम्बी लोग भी मरघट तक ही साथ जाते हैं, आगे तो इसे अकेले ही जाना पडता है ।[4]

यह आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है, न शरीर आत्मा है, न आत्मा शरीर । अत: अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी कुछ त्याज्य है, इस अन्यत्व भावना का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए ।[5] जोइन्दु मुनि ने भी कहा है कि इस शरीर को कितना भी सजाया सँवारा जाए, कितने भी स्वादिष्ट भोजन कराए जाएँ, पर यह आत्मा के लिए कभी उपकारी नही हो सकता । इसकी सेवा करना तो उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे कि दुर्जन का उपकार करना ।[6] कबीर भी इस अन्यत्व भावना का चिन्तन करते हुए कहते हैं कि यह शरीर, जिसकी बड़े यत्न से रक्षा की जाती है, चोवा चन्दन आदि से सजाया जाता है, मृत्यु के उपरान्त अग्नि के साथ जल जाता है । अत यह शरीर भी अपना नही है । अपना तो केवल आत्मा ही है जो शरीर मे भिन्न है ।[7] किन्तु, शरीर के माथ ऐसा एकमेक हो गया है कि साधारण व्यक्ति तो

१– इक्किल्लउ गुणगणनिलउ वीयउ अत्थि ण कोइ ।
मिच्छादंसणमोहियउ चउगइहिंडइ सोइ ।
जइ सद्धंसणु सो लहइ, तो परभाव चएइ ।
इक्किल्लव सिवसुह लहइ, तो परभाव चएइ ॥ —दोहाणुवेहा, लक्ष्मीचन्द, ११, १२

२– रे मन तेरा कोई नही, खीचि लेइ जिनि भारु ।
बिरख बसेरो पंखि को, तैसो यहु संसारु ॥
—रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, पृष्ठ ६७

३– जब गढ़ बिचहोत सकेला, तब हंसा चलत अकेला ।
—कबीर वचनावली, पृष्ठ १५७, पद १५१

४– देहरी लौं वरी नारि सग भई, आगै सुजन सुहेला ।
मरघट लउ सभु कुटुम्ब भइओ आगै हंसु-अकेला ॥
—सन्त कबीर, रागसोरठि, पृष्ठ १३१, पद २

५– अण्णु सरीर मुणेहि जिय अप्पउ केवलि अण्णु ।
तो अण्णु वि सयलु वि चयहि, अप्पा अप्पउ मण्णु ।
—दोहाणुवेहा, लक्ष्मीचन्द, १३

६– उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार ।
देहह सयलु णिरत्थ गय जिमि दुज्जणि उवयार ॥ —परमात्मप्रकाश, अध्याय २, १४८

७– बहुत जतन करि काइआ पाली ।
मरती बार अगनि संगि जाली ॥
चोवा चन्दनु मरदनु अंगा ।
सो तनु जलै काठ कै संगा ॥ —सन्त कबीर, राग गउडी, पृष्ठ १३

शरीर को ही आत्मा समझ बैठते हैं, हंस के समान कोई बिरला विवेकी ही उस सारतत्त्व को जानकर संसार सागर से पार उतरता है।[1]

अशुचि भावना का विवेचन करते हुए कवि लक्ष्मीचन्द कहते हैं कि यह शरीर नरक के समान अपवित्र और रागों से बर्जर है, मूर्ख लोग ही इसमें अनुराग रखते हैं।[2] कबीर भी अपभ्रंश के कवि लक्ष्मीचन्द के कथन का समर्थन करते हुए कहते हैं कि यह शरीर अस्थि, मांस, मज्जा आदि अपवित्र एवं घृणित वस्तुओं से निर्मित है, दुर्गंधयुक्त है, अतः सर्वथा अपवित्र है।[3]

अपने आत्मस्वभाव को छोड़कर परभावों से परिणति होना ही आश्रव है और यही कर्मबन्ध का कारण है। अतः आत्मस्वभाव को छोड़कर कभी परभावों में अनुरक्त नहीं होना चाहिए तथा इस आश्रव भावना का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए।[4] जो आत्मा को सर्वश्रेष्ठ समझकर परभावों का त्याग कर देता है उसके कर्मबन्ध नहीं होता। आश्रव का निरोध ही संवर है।[5] अपभ्रंश के जैन कवि लक्ष्मीचन्द के इस आश्रव तथा संवर भावना का समर्थन करते हुए कबीर ने भी कहा है कि परपदार्थ क्षणभंगुर है, विनाशीक है और दुःखद है, जो स्त्री–पुत्र धन–धान्य आदि का उपभोग करते समय उनमें आसक्ति रखता है उसके कर्मों का आश्रव होता है और जो साधक अनासक्त भाव से कर्म करता है, वह कर्म करते हुए भी कर्मबंधन से मुक्त रहता है। मन की विकारशून्य स्थिति ही मुक्ति है, निस्पृह, निस्संग, निर्वैर और निर्विषय मन से किए गए कर्म का बन्ध नहीं होता। कबीर ने जगत् में रहनेवाले ऐसे परमसंत को श्रेष्ठ कहा है जो निष्काम कर्म करते हुए, जगत् व्यवहारों से जूझते हुए, जगत् के विकारों से लोहा लेते हुए भगवद् भक्ति में मन को लगाता है। उनका मत है कि बिना कर्म किए हुए कोई क्षणभर भी नहीं रह सकता। किन्तु, कर्म करते हुए भी जो उनमें आसक्ति नहीं रखता और हरिभक्ति में तल्लीन रहता है

१– नर जाणै अमर मेरी काया, घर घर बात दुपहरी छाया।
मारग छाडि कुमारग जोवै, आपण मरै औरकूं रोवै॥
—क० ग्रन्थावली, पृष्ठ १०६, पद १०४

२– जेहउ जज्जरु णरय घरु तेहउ जोइय काउ।
णरइ णिंतरु खूरियउ, किम किज्जइ अणुराउ॥
—परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० १०६

३– अस्थि चर्म विष्टा के मूंदे दुर्गंधहि के बेढ़े॥
—क० ग्रन्थावली, पृष्ठ २३६, पद ४०

४– जो ससहाव चएवि मुणि परभावहि परणेइ।
सो आसव जाणेहि तुहुं जिणवर एम भणेइ॥
—दोहाणुवेहा, लक्ष्मीचन्द, १७

५– जो परियाणइ अप्पपरु, जो परभाउ चएवि।
सो संवर जाणेवि तुहुं, जिणवर एम भणेइ॥
—वही, १९

वही अविनाशी परमपद का अधिकारी होता है।[1] यही जैन कवियों द्वारा निर्दिष्ट सवर भावना है जिसे साधक के लिए कबीर ने आवश्यक माना है।

पूर्वकृत कर्मो का क्षय करना ही निर्जरा है। इसके दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा स्वयंफल देकर कर्मों का क्षय हो जाना है और तप आदि के द्वारा फल देने से पूर्व कर्मों का क्षय कर देना अविपाक-निर्जरा है। इसी के द्वारा साधक अपने समस्त कर्मों को नष्ट कर परमपदनिर्वाण की प्राप्ति करता है।[2] कबीर भी राम की कृपा प्राप्त कर संचित कर्मो को क्षय करने का उपदेश देते हैं।[3]

अपभ्रंश के जैन कवियों का मत है कि इस संसार में मनुष्य जन्म दुर्लभ है और उससे भी अधिक दुर्लभ है आत्मज्ञान।[4] मनुष्य जन्म पाकर भी जिसने आत्म ज्ञान की प्राप्ति नही की उसने चिंतामणि रत्न को कांच समझकर फेंक दिया, ऐसा समझना चाहिए। जैन कवियो के इस बोधि दुर्लभ भावना से भी कबीर पूर्णतः सहमत है। उन्होने भी मनुष्य जन्म तथा आत्मज्ञान को दुर्लभ बताया है। उनका विचार है कि जिस प्रकार वृक्ष से फल झड़ जाने पर पुनः वही फल वृक्ष पर नही लगता उसी प्रकार एकबार मनुष्य जन्म पाकर यदि दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति नही हुई तो यह जन्म व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है पुन. इसकी प्राप्ति नही होती।[5]

१६. सत्संग

सत्सङ्गति साधक के आत्मसंयम मे सहायक होती है और कुसगति बाधक। जो जैसी सगति मे रहता है उस पर उसी प्रकार का प्रभाव पडता है और वैसा ही उसका चरित्र बन जाता है। सत्सगति का मनुष्य पर अच्छा प्रभाव पडता है, इसके विपरीत खलों की सगति का प्रभाव सदैव अहितकर होता है। अत. अपभ्रंश के जैन कवियो तथा कबीर ने भी सत्सग को आवश्यक तथा दुर्जनो के सग को त्याज्य

१– कबीर घर्ष तो घूलि, बिन घर्षे घूलें नही।
ते नर विनठे मूलि, जिनि घर्षे में ध्याया नही।
—क० ग्र०, पृष्ठ १६, २१

२– कम्मु पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसुण देइ।
अणु दिणु झावइ देउ जिणु सोपरमप्पउ होइ॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, ११३

३– राम बिन को कर्म काटन हार।
—क०ग्र०, पृष्ठ १०६, पद ११६

४– दोहाणुवेहा, लक्ष्मीचन्द, ३३

५– मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारम्बार।
तरवर थैं फलझयड़ि पड्या बहुरिन लागें डार॥
तथा— जो मैं ज्ञानविचार न पाया, तो मैं यो ही जनम गंवाया॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१, ३४, १४३, पद २३५

बताया है। मुनि रामसिंह का कथन है कि दुर्जनों के साथ रहने से सज्जनों के सद्-गुण भी नष्ट हो जाते हैं। अग्नि का सम्पर्क लोहे से होने पर लोहे के साथ अग्नि पर भी घन बजाया जाता है और उसे वह चोट सहनी पड़ती है।[1] जोइन्दु मुनि ने भी इसी भाव को प्राय: इन्हीं शब्दों मे व्यक्त किया है।[2]

इस दिशा मे भी कबीर के विचार अपभ्रंश के जैन कवियों से मिलते जुलते हैं। उन्होंने कुसग के दुष्प्रभाव को बताते हुए लिखा है कि मुर्खों का सग कभी भी नही करना चाहिए। जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र के जल की एक ही बूंद कदली, सीप और भुजंग के मुख मे पड़कर क्रमश: कपूर, मुक्ता तथा विष का रूप ग्रहण करती है, उसी प्रकार मनुष्य भी सगति के प्रभाव से अच्छे और बुरे गुणो को ग्रहण कर लेता हैं।[3] कबीर का दृढ़ विश्वास है कि सत्सगति कभी निष्फल नही होती, उसका फल अवश्य मिलता है। सत्संगति सुयश का कारण है। चन्दन की सुगन्ध को कोई नीम की गन्ध नहीं कह सकता। इसी प्रकार सत्सगति का परिणाम कभी अपयश नही हो सकता।[4] सत्सगति के बिना मनुष्य कितनी ही तीर्थयात्राएँ करे, उसे कभी सद्-बुद्धि की उपलब्धि नही हो सकती।[5] सत्सगति से ही मनुष्य बैकुण्ठ का भी अधि-कारी बनता है।[6] इसीलिए कबीर का कहना है कि तू दुर्जनो की संगति मे भूलकर भी न जा तथा सज्जनो की सगति मे रहकर हरि के गुणो का गान कर, इसीसे तुझे निर्वाण की प्राप्ति होगी।[7]

१– भल्लार्णवि णासति गुण जहिं सहु सगु खलेंहि।
वइसाणरु लोहह मिलिउ पिट्टिजइ सुघणेंहि॥ -रामसिंह, पाहुडदोहा, १४८
हुयविहि णाइ ण सक्कियउ, धवलत्तणु सखस्स।
फिट्टीसइ मा भति करि, छुड्डु मिलिया खयरस्स॥ –वही, १४९

२– भल्लाहु वि णासति गुण जहं ससग्ग खलेंहि।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ ते पिट्टियइ घणेंहि॥
–जोइन्दु परमात्मप्रकाश, अध्याय २, ११०

३– मूरिख संग न कीजिए, लोहा जल न तिराइ।
कदली सीप भुवग मुषि, एक बूंद तिहु भाइ॥
-क० ग्र०, कुसगति को अग २

४– कबीर संगत साधु की कदे न निरफल होइ।
चन्दन होसी बावना, नीब न कहसी कोइ॥
–वही, पृष्ठ ४३, साधको अंग १

५– मथुरा भावै द्वारिका, भावै जावै जगन्नाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछू न आवै हाथि॥
–वही, पृष्ठ ४३, ३

६– कहै कबीर यहु कहिये काहि, साध संगति बैकुंठहि आहि।
-कबीर ग्रन्थावली, पद २८

७– असगत संगति जिनि जाइ रे भुलाइ।
साधु सगति मिलि हरि गुण गाइ॥
–वही, पृष्ठ १११, पद १२३

१७. बाह्याडम्बर का निरसन

धर्म का वास्तविक स्वरूप आन्तरिक शुद्धि है। जिसका मन शुद्ध है, हृदय निष्कपट है, विचार पवित्र हैं और आचरण सात्विक है, वही व्यक्ति सच्चा धार्मिक है। परमात्मा की प्राप्ति ही प्रत्येक धर्म का लक्ष्य है, जो हृदय शुद्धि के बिना असंभव है। धार्मिक व्यक्ति के विचारो का सच्चा और पवित्र होना आवश्यक है। विचारो की शुद्धता आचारों की सात्विकता और शुद्धता पर आधारित है। इसीलिए धर्म को आचार प्रभाव कहा गया है और प्रत्येक धर्म के आचारो के विस्तृत विधिनिषेध मिलते हैं। अपभ्रंश के जैन कवियों ने भी इन्द्रिय-सयम, अहिंसा, परोपकार, दशविध धर्मपालन तथा द्वादश अनुप्रेक्षाओं के चिन्तनरूप विधि पक्ष के साथ-साथ काम, क्रोध, मान, लोभ आदि कषायों के परित्याग रूप निषेधपक्ष का भी उल्लेख किया है। अपभ्रंश के जैन कवियो के समान ही कबीर ने भी सदाचार के पालन तथा निषिद्ध आचरणो के परित्याग पर जोर दिया है। किन्तु, अपभ्रंश के जैन कवियो तथा कबीर को अन्तरग शुद्धि के बिना आचार का बाह्यरूप विशेष रुचिकर न था। इनका मत है कि इन बाह्यचारो तथा पाखण्डो से धर्म का वास्तविक रूप विकृत हो जाता है। अतः इन्होने आचरण के नैतिक एव मानसिक रूप को ही ग्राह्य माना है। इन्होने न केवल धर्मसाधना को ही मानसिक माना है, अपितु इनकी उपासना एव अर्चना की विधि भी भावात्मक एव मानसिक है। फलतः इन्होने सभी प्रकार के अन्धविश्वासो, पाखण्डो एव बाह्याडम्बरो का खुलकर विरोध किया है।

अपभ्रंश के जैन कवियो तथा कबीर के काव्यों मे, साधक के बाह्यवेष, मिथ्यातप, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आडम्बरपूर्ण जप, तप व्रतादि, स्नान, केशलोंच तथा मूर्तिपूजा तथा पुस्तकाध्ययन आदि सभी को चित्तशुद्धि के बिना साध्य की सिद्धि के लिए निरर्थक कहा गया है। ये बाह्य साधनाएँ साध्य की सिद्धि मे तभी सहायक हो सकती है जब साधक का चित्त निर्मल हो जाए।

उक्त बाह्य साधनो पर व्यक्त किए गए अपभ्रंश के जैन कवियो तथा कबीर के कुछ वक्तव्य पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

अपभ्रंश के जैन कवियों की धारणा है कि बाह्यवेष तथा मिथ्या तप मुक्ति का कारण नही हो सकते। बाह्यदृष्टि से मुनिवेष धारण कर लेने, बाईस परीषह के सहन करने तथा एक पक्ष अथवा एक मास के अन्तराल पर हाथ पर रख कर भोजन करने के उपरान्त भी यदि साधक दर्शन, ज्ञान और चरित्र से रहित है,

आत्मध्यान से वंचित है तो वह शिवपुर को गमन नहीं कर सकता ।[1] मुनि रामसिंह का कथन है कि यदि अन्तरग मलीन है तो बाह्य तप तपने से कोई लाभ नही है । साधक को तो उस निरंजन का ध्यान करना चाहिए जिससे वह स्वय भी निर्मल हो जाए ।[2] रागद्वेष आदि मलीनताओं से घिरा होने पर भी बाह्य लिग धारण करने वाला मुनि तो उस सर्प के समान है जो ऊपर से केंचुल को त्याग देने पर भी अन्दर के विष को नही त्यागता ।[3] जो मुनि विषय सुखो का परित्याग कर भी अन्तरग मे उनकी अभिलाषा रखता है, वह केशलोच करके तथा क्षुधा तृषा आदि की वेदना सहकर व्यर्थ ही शरीर को कृश करता है । क्योकि रागद्वेष का त्याग किए बिना ससार–भ्रमण से मुक्ति नही मिल सकती ।[4] जोइन्दु मुनि के विचार से भी धर्म न पुस्तको का भार ढोने मे है, न पीछीकमडलु धारण करने मे है, न मठो मे रहने और केश मुंडाने मे ही है ।[5] जो मुनि लिंग ग्रहण करके भी इष्ट वस्तुओ मे राग रखते है तथा उन्हे ग्रहण करते है वे मानो वमन करके स्वय उस वमन को निगलते है ।[6]

कबीर भी बाह्यवेष की भर्त्सना करते हुए कहते है कि यदि साधक प्रभु-मिलन के रहस्य से परिचित नही है तो गले में माला तथा माथे पर तिलक लगाने मे क्या लाभ ? जगल मे भागनेवाले पशु के गले मे काठ का पाया पडा रहने पर भी वह भागने से बाज नही आता, इसी प्रकार अज्ञानी जीव ऊपर से गले मे काठ

१– तिण्णि कालु वाहि खर्सहि, सहहि परीसहु भारु ।
दसणणाणइ चाहिरउ, आनन्दा मरिसै ए जमकालु ॥
पाखि मासि भोयण करहि, पणिउ गासुनि रासु ।
अप्पा ज्झाइ ण जाणहि आनन्दा, तिहणइ जमपरिवासु ।।
बाहिर लिंग धरेवि मुणि, जु सइ मूढ णिवन्तु ।
अप्पा इक्क ण झावहि आणन्दा, सिवपुरि जाइ णिभन्तु ॥
–आनन्दा, १०, ११, १२

२– अब्भितरि चित्ति वि मइलियइं बाहिरि काइ तवेण ।
चित्ति णिरजणु कोवि धरि मुच्चहि जेम मलेण ॥
–रामसिंह, पाहुडदोहा, ६१

३– सप्पि मुक्की कचुलिय जं विसु त ण मुएइ ।
भोयह भाउ ण परिहरइ, लिंगग्गहणु करेइ ।।
–वही, १५

४– जो मुणि छडिवि विसयसुहु पुणु अहिलासु करेइ ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ, पुणु समारु भभेइ ॥
–वही, १६

५– धम्मुण पढियइं होइ, धम्मु ण पोत्था पिच्छियइं ।
धम्मुण मठिय पएसि, धम्मु ण मत्था लुंचियइं ।।
–जोइन्दु, योगसार ४७

६– जो जिणु लिंग धरेवि मुणि इट्ठ परिग्गह लेंति ।
छद्दि करेविणु ते जिजिय, सा पुणु छद्दि गिलंति ।।
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, अध्याय २, ६१

की माला डाल लेने पर भी विषयों की ओर भागने से बाज नहीं आता। मुनि का वेष धारण कर लेने पर भी यदि वह विषय वासनाओं में लिप्त है तो गले में माला डालने से कोई लाभ नही है, प्रेमशून्य स्थिति में रोने से क्या लाभ है ? भक्ति पथ में सांसारिक आनन्द नही मिल सकता है, उसके लिए तो बडे धैर्य की आवश्यकता है और वह पथ चन्दन तुल्य शीतल तथा चिकना होता है।[1] कबीर ने बाह्य क्रिया काण्डों का बड़ी दृढता से विरोध किया है। उनका कहना है कि यदि नग्न घूमने से योग मिलता तो वन के सभी पशु पक्षी मुक्त हो जाते। शरीर को नग्न रखने अथवा चर्म लपेटने से क्या लाभ है, जब तक तूने आत्माराम को नही पहिचाना ? मूड मुँडाने से ही यदि सिद्धि प्राप्त हो सकती तो सभी भेड़ों को मुक्ति हो गयी होती। यदि बिन्दु साधक से ही ससार सागर से तरा जा सकता तो खुसरे को भी परमगति की प्राप्ति हो जानी चाहिए थी। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि रामनाम के बिना किसी ने सद्गति नही पायी है।[2] मन को प्रभु भक्ति मे अनुरक्त किए बिना जोगियावस्त्र धारण करने, मूर्तिपूजा करने, कान फडवाकर जटा बढाने, धूनी रमाने केश मुँडाने, माला पहिनने, गीता पाठ करने आदि बाह्य क्रियाओ पर कबीर ने

१— कहा भयो तिलक गरै जपमाला, मरम न जाने मिलन गोपाला।
दिनप्रति पसू करै हरिहाई, गरै काठ वाकी बानि न जाई॥
स्वाग सेत करणी मनि काली, कहा भयो गलि मालाछाली।
बिनही प्रेम कहा भयो रोये, भीतरि मैल बाहरि कहा धोये।
गल गल स्वाद भगति नही धीर, चीकन चदवा कहै कबीर॥
—क० ग्र०, पृष्ठ ११४, पद १३६

२— नगन फिरत जो पाइअै जोगु।
बन का मिरग मुकति सभु होगु॥
किआ नागे किया बांधे चाम।
जब नही चीनसि आतमराम॥
मूंड मुंडाए जो सिधि पाई।
मुकति भेड न गइआ काई॥
बिन्दु राखि जो तरीअै भाई।
खुसरै किउ न परमगति पाई॥
कहु कबीर सुनहु नर भाई।
राम नाम बिनु किनि गति पाई॥
—डा० रामकुमार वर्मा, सन्त कबीर, पृष्ठ ६, पद ४

करारे व्यंग्य किए हैं।[1] मन को विषय वासनाओं से विमुख किए बिना माला जपने को वे निरर्थक समझते हैं।[2] उनका कहना है कि माला पहिनने से कोई लाभ नही है जब तक हृदय की गांठ नही खुलती। यदि चित्त राम के चरणों में अनुरक्त है तो परमपद की प्राप्ति सहज ही हो जाती है।[3]

मूर्ति पूजा—अपभ्रंश के जैन कवियों का मत है कि आत्मा ही परमात्मा है और वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित है, किसी देवालय की मूर्ति, चित्र अथवा लेप आदि में नही है। अतः यदि आराधना और अर्चना ही करनी है तो अपने आत्मदेव की करनी चाहिए, अन्य किसी की नही।[4] मुनि रामसिंह ने पत्रों, पुष्पो

१— मन ना रंगाये रंगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मन्दिर मे बैठे,
ब्रह्म छाडि पूजन लागे पथरा॥
कनवा फड़ाय जटवा बढ़ौले।
दाढ़ी बढाए जोगी होइ गेले बकरा॥
जंगल जाए जोगी धुनिया रमौले,
काम जराए जोगी होय गेले हिजरा॥
मथवा मुडाए जोगी कपड़ा रगौले,
गीता बाचके होए गेले लबरा॥
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो,
जम दरवजवा बाधल जैबे पकड़ा॥ —कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २७२, १-२१
तथा—
साधो भजन भेद है न्यारा।
का मालामुद्रा के पहिरे, चंदन घसे लिलारा।
मूंड मुडाए जटा रखाए, अग लगाए छारा॥
का पानी पाहन के पूजें, कद मूल फलहारा॥
कहा नेम तीरथ व्रत कीन्हें, जे नहि तत विचारा।
का गाए का पढ़ि दिखलाए, का भरमे संसारा
का सध्या तरपन के कीन्हे, का षटकर्म अचारा॥
जैसे बधिक ओट टाटी के, हाथ लिये विषचारा॥
यों बक ध्यान धरे घट भीतर, अपने अंग बिकारा।
—कबीर वचनावली, पृष्ठ १७७, पद १८९

२— कबीर माला काठ की कहि समुझावे तोहि।
मन न फिरावै आपणां, कहा फिरावै मोहि॥ —वही, भेष को अंग, ५

३— माला पहर्यां कुछ नही, गाठ हिरदा की खोइ।
हरि चरनूं चित राखिये, तौ अमरापुर होइ॥ —वही, ६

४— मूढा देउलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा देवलि देउ जिणु, सो बुज्झहि समचित्ति॥ —जोइन्दु, योगसार, ४४
तथा—को सुसमाहि करउं को अचउं, छोपु अछोपु करिवि को वंचउं।
हलसहि कलह केण सभाणउ, जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउ॥
—जोइन्दु, योगसार ४०

आदि सभी सजीव वस्तुओं में उस परमात्मा की स्थिति मानी है, इसीलिए वे मूर्ति पर चढ़ाने के लिए पत्र पुष्प तोड़नेवालों को फटकारते हुए कहते हैं—'हे योगी, तू पत्तियों को मत तोड़, फलों पर भी हाथ मत बढ़ा, जिस ईश्वर की मूर्ति पर चढ़ाने के लिए तू पत्तों, पुष्पों और फलों को तोडना चाहता है, उस मूर्ति को ही इन पर चढा दे। क्योकि पत्थर की मूर्ति तो निर्जीव है और पत्र पुष्प आदि सजीव हैं।[1] ठीक इसी प्रकार के भाव कबीर ने भी व्यक्त किए हैं। वे ईश्वर पर चढ़ाने के लिए पत्र, पुष्प आदि तोड़नेवाली मालिन को समझाते हुए कहते हैं कि हे मालिन ! तू भूल कर पत्तियों को तोड़ रही है, जिस देवता पर चढ़ाने के लिए तू इन पत्तियो को तोड रही है वह तो निर्जीव है और इन पत्तियों में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीनों देवता निवास करते हैं। जब तू पत्र, पुष्पादि तोडकर इन तीनो देवताओं को ही नष्ट कर रही है तो इनमे सेवा किसकी करेगी ?[2] आत्मदेव को जाने बिना मूर्ति पूजा करने को वे कोरा पाखण्ड समझते हैं। अत: मूर्तिपूजा के प्रति उनका कथन है 'तुम क्या विचार कर पूजा करते हो, वह प्रभु तो आत्माराम ही है जो हृदयस्थ है, अन्यत्र कही नही है। बिना विश्वास के पूजा मे नैवेद्य चढाना पत्ती तोड़ने के समान तथा बिना ज्ञान के मूर्ति पर मस्तक झुकाना पत्थर पर सिर फोड़ने के समान है। विषय वासनाओं मे लिप्त साधक को सावधान करते हुए वे कहते हैं कि वह परमात्मा तो तेरे द्वार पर ही खडा तुझे आवाज दे रहा है, किन्तु विषयान्ध होने के कारण तू उसे नही देख पाता।[3] वे पत्थर की पूजा करनेवाले से तो मेहनत मजदूरी करके उदरपूर्ति करनेवाले को कहीं अधिक श्रेष्ठ समझते है।[4] इसीलिए वे सभी

१– पत्तिय तोडि म जोइया, फलहिं जि हत्थु मा वाहि।
जसु कारणि तोड़ेसि तुहुं, सो सिउ एत्थु चढ़ाहि॥ —रामसिंह, पाहुड़दोहा, १६०

२– पाती तोरे मालिनी, पाती पाती जीउ।
जिसु पाहन कउ पाती तोरे सो पाहन निरजीउ।
भूली मालिनी है एउ, सतिगुरु जागता है देउ।
ब्रह्म पाती बिसनु डारी, फूल संकर देउ।
तीनि देव प्रतखि तोरहि, करहि किसकी सेउ॥
—डा० रामकुमार वर्मा, संत कबीर, पृष्ठ १०४ रागुआसा १४

३– कौन विचारि करत हो पूजा,
आतमराम अवर नही दूजा।
बिन प्रतीतें पाती तोड़े, ज्ञान बिना देवलि सिर फोड़े।
लुचरी लपसी आप सँवारे, द्वारे ठाढा राम पुकारे॥
—क० ग्र० पृष्ठ ११४, पद १३५

४– पाहन पूजै हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
तातें यह चाकी भली, पीसि खाय संसार॥
तथा—
पाहन को का पूजिए जो जनम न देइ ज्वाब।
आँधा नर आसामुखी, यो ही खोवै आब॥
—वही, भ्रम विधौंसण को अंग

सम्प्रदाय के मूर्तिपूजकों को भ्रान्त समझते हैं।[1]

तीर्थयात्रा—एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ पर भटकनेवाले योगियों को अपभ्रंश के जैन कवि भ्रान्त समझते हैं। उनका कहना है कि हे योगी, तू तभी तक कुतीर्थों में भ्रमण करता और धूर्तता करता है जब तक गुरु के प्रसाद से देह में स्थित आत्मदेव को नही जानता।[2] जोइन्दु मुनि का कथन है कि एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ पर भटकने वाले को कभी मुक्ति नही मिल सकती और आत्मज्ञान से रहित व्यक्ति कभी सच्चा साधक नही हो सकता।[3]

कबीर तीर्थों-तीर्थों भटकनेवालो का परिश्रम व्यर्थ समझते है।[4] उनके विचार से तीर्थस्थानों पर जाकर रहने तथा गगा आदि नदियों का जल पीने वालो को भी हरि का नाम लिए बिना मुक्ति नही मिल सकती।[5]

आडम्बरपूर्ण जप-तप व्रत आदि का निराकरण—अपभ्रंश के जैन कवियों ने परम परमेश्वर आत्मदेव के ज्ञान के बिना व्रत, तप, सयम, शील तथा महाव्रत आदि सबको भारस्वरूप कहा है।[6] उनका मत है कि जप जपने तथा तप करने पर भी आत्मज्ञान के बिना कर्मो का क्षय नही होता और आत्मज्ञान के होने ही चारो गतियो का भ्रमण मिट जाता है।[7] जोइन्दु मुनि का भी यही अभिमत है कि व्रत, तप, सयम तथा मूल गुण के धारण करने पर भी पवित्र भाव से आत्मदेव को जाने

१– देव पूजि पूजि हिन्दू मुए, तुरक मुए हज जाई।
जटा बाधि बाधि योगी मुए, इनमें कीनहू न पाई॥
क०ग्र० पृष्ठ १६७, पद ३१७

२– तामकुतित्थइ परिभमइं, धुत्तिम ताम करन्ति।
गुरुहि पसाएँ जामणवि, देहहं देउ मुणन्ति॥
–रामसिंह, पाहुडदोहा, ८०

३– तित्थहि तित्थु भमताह, मूढह मोक्खण होइ।
णाणविवज्जिउ जेण जिय, मुणिवरु होइण सोइ॥
–जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय ८५

४– तीरथ करि करि जग मूवा, डूधे पाणी न्हाइ॥
–कबीर ग्रन्थावली, चाणक को अग, पृष्ठ ३२, १८

५– कासी काठै घर करै, पीवै निर्मल नीर।
मुकति नही हरि नाव बिन, यों कहै दास कबीर।
––वही, १९

६– वउ तउ संजमु सीलु गुण सहय महव्वय भारु।
एक्क ण जाणइ परमकुल आणन्दा भमियउ बहु संसारु॥
-आणन्दा ८

७– जापु जपइ बहु तव तवइ, तोविण कम्म हणेइ।
एक्क समय अप्पा मुणइ, -आनन्दा! चउगइ पाणि उ दोऊ॥
—वही, २१

बिना मुक्ति नही मिल सकती ।[1]

अपभ्रंश के जैन कवियों की इस विचारधारा का समर्थन कबीर ने भी किया है। उनके विचार से भी जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि सब थोथे कर्म हैं, इनसे सारवस्तु की प्राप्ति नही हो सकती। जैसे तोता फल की आशा से सेंबल के फूल का सेवन करता है, किन्तु अन्त में उसे फल की प्राप्ति नही होती और वह निराश ही रह जाता है वैसे ही तीर्थ, जप, तप, व्रतादि करने पर भी जीव को अन्त में फल की प्राप्ति नही होती, अपितु निराशा ही मिलती है।[2] उन्होने अन्यत्र भी कहा है कि जिसके हृदय में आत्मज्ञान नही है, जिसका हृदय पवित्र नही है उसके जप, तप, व्रत तथा पूजा करने से क्या लाभ है ?[3]

स्नान की निरर्थकता—अपभ्रंश के जैन कवियो ने चित्त का प्रक्षालन कर उसके रागद्वेष आदि मल को मिटा देने मे ही मुक्ति माना है। उनके विचार से यह चित्त शुद्धि आत्म ध्यान से ही सभव है, स्नानादि से नही। स्नान करने से केवल शरीर का बाह्यमल ही छूटता है अन्तरग मल तो ज्यो का त्यो बना रहता है।[4] मुनि रामसिंह भी गगा आदि तीर्थक्षेत्रो मे स्नान करनेवाले मूढ़ साधक को ललकारते हुए कहते है कि तू व्यर्थ ही तीर्थो-तीर्थों मे भटक रहा है और अपने चर्म को जल से प्रक्षालित कर रहा है। क्या कभी तूने अपने मन को भी प्रक्षालित किया, जो पाप रूपी मल से अत्यन्त मलीन हो रहा है।[5]

कबीर भी शरीर तथा वस्त्रो की सफाई करनेवाले साधक को फटकारते हुए कहते है कि तू शरीर को क्यो माँजता है और कपडो को क्यों धोता है, इनके उजले हो जाने पर भी तेरा अन्तरंग मल नही छूट सकता और न तू सुख की नीद ही सो सकता है।[6] एक स्थल पर उन्होने कहा है कि प्रतिदिन सध्या, प्रातः स्नान करनेवाले

१– वय तव सजम मूलगुण, मूढह मोक्खुण वुत्तु।
जाव ण जाणइ एक्क पर, सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥
—जोइन्दु, योगसार, २९

२– जप तप दीसै थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सैंवल सेविया, यो जग चल्या निरास ॥
—क०ग्रं० भ्रम विधौसण को अंग ८

३– किआ जप, किया तपु किया व्रत पूजा।
जाके हिरदै भाइ है दूजा ॥ —सन्त कबीर, पृष्ठ ८, पद ६

४– भितरि भरिउ पाउमल मूढ़ा करहिं सण्हाणु।
जे मल लाग चित्त महि आणन्दा ! रे किम जाइ सण्हाणि ॥
—आणन्दा, ४

५– तित्थहिं तित्थ भमेहि वढ़, धोयेहि चम्मु जलेण।
एहु मण किम धोएसि तुहु मइलइ पाव मलेण ॥
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, १६३

६– काया मन्जन क्या करै, कपड़ा धोइम धोइ।
ऊजल हुआ न छूटिए, सुख नीदड़ी न सोइ ॥
—कबीर ग्रं० चितावणी को अंग ११

जीव तो पानी में रहनेवाले मेंढक के समान हैं। यदि वे स्नान करने के उपरान्त भी राम नाम से अनुराग नहीं रखते हैं तो वे अवश्य ही काल के ग्रास बनेंगे।[1]

केशलोंच की निरर्थकता—स्नान के समान ही केशलोंच भी मुक्ति का कारण नहीं है। आनन्दा कवि कहते हैं कि कोई तो केशलोंच करते हैं और कोई सिर पर जटाओं का बोझ लाद लेते हैं, किन्तु आत्मज्ञान इनमें से किसी को भी नहीं है, बिना आत्मज्ञान के इन्हें मुक्ति नहीं मिल सकती है।[2] मुनि रामसिंह भी चित्त को निर्मल किए बिना सिर मुँडानेवालों की भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि तूने सिर को तो मुँड़ा लिया पर चित्त को नहीं मुँडाया तो तेरे सिर मुँडाने से ही क्या लाभ है? जिसने चित्त का मुंडन किया है निर्वाण की प्राप्ति तो उसी को हो सकती है।[3] जोइन्दु मुनि भी अन्तरंगपरिग्रह–क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष आदि का परिहार किए बिना जिनलिंग धारण कर केशलोंच करनेवालों को आत्मवंचक समझते हैं।[4]

कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियों की इस खण्डनपद्धति को भी पूर्णतः अपनाया है। वे भी मुनि रामसिंह तथा आनन्दा के विचारों का समर्थन करते हुए केशलोंच करनेवालो को फटकारते हुए कहते है कि केशों ने तेरा क्या बिगाड़ा है जो तू इन्हें बार-बार मुँड़ाता है, मन को क्यों नहीं मुँड़ाता, जिसमे विषय विकार भरे पड़े हैं।[5] हे योगी, तू केशो को न मुँडाकर मन रूपी डाकू को मूड। क्योकि जो भी पाप कर्म किए हैं वे मन रूपी डाकू ने किए हैं, केशों ने नहीं।[6] यदि मन विषय वासनाओं में लिप्त है तो मुख से राम नाम का उच्चारण करने तथा सिर को मुँडाने

१— सधिआ प्रात इस्नान कराहीं।
जिउ भए दादुर पानी माहीं॥
जउपै राम राम रति नाही।
ते सभि धरमराइ के जाही॥
—डा० रामकुमार वर्मा, संत कबीर रागगउड़ी, पृष्ठ ७

२— केई केस लुचावहि, केइ सिर जटा भारु।
अप्प बिन्दु ण जाणहि रे आनन्दा! किमयावहिं भव पारु॥
—आणन्दा, ६

३— मुंडिय मुंडिय मुंडिया, सिर मुंडिय चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जिं कियउ, ससारहं खंडणु ति कियउ॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, १३५

४— केण वि अप्प उ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण।
सयल वि सग ण परिहरिय, जिणवरलिंग धरेण॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय ९०

५— केसों कहा बिगारिया, जो मूंडे सौ बार।
मन को काहे न मूंडिये, जामे विषै विकार॥
—क० ग्र० भेष को अंग, पृष्ठ ४०, १२

६— मनमेवासी मूंड ले, केसो मूंडे काइ।
जो कुछ किया सु मन किया, केसो कीया नाहिं॥
—वही, १३

से तेरा उद्धार कदापि नहीं हो सकता ।[1]

आत्मज्ञान के अभाव में पुस्तकाध्ययन की निरर्थकता—अपभ्रंश के जैन कवियों ने उस एक अक्षर के अध्ययन को ही सार्थक माना है जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो सके, उसके बिना अनेक ग्रन्थों के पठन–पाठन को भी वे व्यर्थ का परिश्रम समझते हैं ।[2] क्योंकि श्रुतियों का अन्त नही है, समय अल्प है और हमारी बुद्धि भी इतनी विलक्षण नहीं कि सभी श्रुतियों को उस अल्पकाल मे ग्रहण कर सके । अतः केवल उसी एक अक्षर को सीखना चाहिए जिससे जरामरण का भय दूर हो सके ।[3] परमार्थ को जाने बिना केवल ग्रन्थों तथा उनके अर्थों से संतुष्ट हो जाना तो कण को छोड़कर तुष को ग्रहण करके सतुष्ट होने के समान ही है ।[4] सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान हो जाने पर भी जिसके मन मे आत्मज्ञान नही उत्पन्न हुआ, उस योगी को कभी सच्चे सुख की उपलब्धि नही हो सकती ।[5] जोइन्दु मुनि भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अनेक शास्त्रों का पाठी साधक भी मूर्ख है यदि उसने अपने रागद्वेष आदि विकल्पो को नही नष्ट किया तथा शरीर मे बसनेवाले निर्मल परमात्मा को नही जाना ।[6] जिसने सर्वश्रेष्ठ आत्मदेव को नही जाना और न परभावो का ही त्याग किया वह सम्पूर्ण शास्त्रो को जानते हुए भी कभी शिव सुख को नही प्राप्त कर सकता है ।[7]

कबीर भी एक राम नाम के ज्ञान के बिना अनेक पुस्तको के अध्ययन को

१– मूंड मुंडावत दिन गए, अजहू न मिलिया राम ।
राम नाम कहु क्या करै, जे मन के ओरे काम ॥
—क० ग्रन्थावली १४

२– बहुयइं पढियइ मूढ पर, तालु सुक्कइ जेण ।
एक्कु जि अक्खरु त पढहु, सिवपुरि गम्मइ जेण ॥
—रामसिंह, पाहुडदोहा, ९७

३– अन्तो णत्थि सुईण कालोथोओ वयं च दुम्मेहा ।
त ठावर सिक्खियव्वं, जिं जरमरणक्खय कुणहिं ॥
—वही, ९८

४– पडिय पढिय पडिया, कणु छंडिवि तुस कुंडिया ।
अत्थे गथे तुट्ठो सि, परमत्थु ण जाणिहि मूढोसि ॥
—वही, ८५

५– जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्महं हेउ करन्तु ।
सो मुणि पावइ सुक्खुणवि, सयलइं सत्थु मुणतु ॥
—वही, २४

६– सत्थु पढन्तु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु ।
देहि वसन्तु वि णिम्मलउ, णवि मण्णइ परमप्पु ॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय ८३

७– जो णवि जाणइ अप्पु पर, णवि परभाव चएवि ।
सो जाणउ सत्थइ सयल णहु सिवसुक्खु लहेइ ॥
—जोइन्दु योगसार, ९६

व्यर्थ का श्रम समझते हैं। वे कहते हैं कि संसार के अनेकों व्यक्ति अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करते-करते थक गए किन्तु पण्डित न हो सके और जिसने परमात्मा के नाम का एक ही अक्षर पढ़ लिया वह बड़ी सरलता से पण्डित हो गया। अतः वे पढ़ने-लिखने को अधिक महत्त्व न देकर बावन अक्षरों में से आत्मज्ञान करानेवाले "र" तथा 'म" इन दो अक्षरों में ही चित्त को अनुरक्त करने का उपदेश देते हैं।

इस प्रकार अपभ्रंश के जैन कवियों तथा कबीर ने बाह्य आडम्बरों और साधनों को निरर्थक सिद्ध करते हुए विषय कषायादि परपदार्थों से मन को रोक कर उसे परमात्मा में तन्मय करने को ही सच्ची साधना माना है। उनके विचार से रत्नत्रय (सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र) ही मोक्ष का कारण है और यही साधना मार्ग है। अपभ्रंश के जैन कवियों ने साधना मार्ग के दो भेदों का निरूपण किया है—व्यवहार साधनामार्ग और निश्चय साधनामार्ग।[1] निश्चय साधनामार्ग साधना ही नहीं अपितु साध्य भी है। इस परमसाध्य की सिद्धि का साधन व्यवहार साधनामार्ग है।[2] अपभ्रंश के जैन कवियो के इस निश्चय तथा व्यवहार साधनामार्ग से भी कबीर पूर्णतः परिचित थे। अत. यहाँ दोनो मे प्राप्त समानता का अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा।

१८. व्यवहार साधनामार्ग

व्यवहार रत्नत्रय—व्यवहार सम्यक्दर्शन, व्यवहार सम्यक्ज्ञान तथा व्यवहार सम्यक्चरित्र ही व्यवहार साधनामार्ग है। यह व्यवहार साधनामार्ग ही निश्चय साधनामार्ग का साधक है। यही व्यवहार साधनामार्ग व्यवहार मोक्षमार्ग है। व्यवहार सम्यक्दर्शन, व्यवहार सम्यक्ज्ञान तथा व्यवहार सम्यक्चरित्र का विश्लेषण जोइन्दु मुनि ने अपने परमात्मप्रकाश मे किया है, जिसका विवेचन कबीर काव्य मे भी प्राप्त होता है।

छहो द्रव्यों तथा सातों तत्त्वो का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन है।[3] यही मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है। अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु के द्वारा वर्णित आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान तथा आत्मध्यान रूपी रत्नत्रय को कबीर ने भी मोक्ष का मार्ग स्वीकार किया है। वे जोइन्दु कवि के सम्यक्दर्शन का महत्त्व स्वीकार करते

१– परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय १२ से १४ तक

२– मोक्षहेतु पुनर्द्वेधा निश्चयात् व्यवहारतः,
तत्राऽद्य: साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधकः।
—तत्त्वानुशासन रामसेनाचार्य स० जुगल किशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, प्र० स० पृष्ठ ३५, २८

३– दव्वइं जाणइ जहठियइं तह जगि मण्णइ जा जि।
अप्पह केरउ भावडउ अविचलु दसणु सोजि॥
—परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० १५

हुए कहते हैं कि जो अभिमान का त्याग कर ब्रह्म का विश्वास करता है और द्वैत-भाव को मिटा देता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[1] जो व्यक्ति परमात्मा का नाम कभी नहीं लेता उससे तो परमात्मा दूर रहता ही है, किन्तु जो परमात्मा के नाम का उच्चारण करते हुए भी सम्यक् श्रद्धान नहीं रखता, उसे भी उसकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। परमात्मा तो उसी के हृदय मे निवास करता है जो विश्वासपूर्वक उसका स्मरण करता है।[2]

आत्मा तथा जगत् के अन्य समस्त पदार्थों के यथार्थ ज्ञान को जोइन्दु मुनि ने सम्यक्ज्ञान कहा है।[3] कबीर ने भी आत्मश्रद्धान के साथ-साथ आत्मज्ञान को परमात्मपद की प्राप्ति के लिए परमावश्यक माना है। उनके अनुसार जो माया, मोह तथा अज्ञान की स्थिति से ऊँचा उठ जाता है और साधना के फलस्वरूप अपने शुद्ध बुद्ध स्वरूप को जान लेता है वही सच्चा विद्वान्, साधक और ज्ञानी है।[4] उनका कथन है कि जिसने उस एक को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया और जिसने उस एक को नही जाना उसने कुछ भी नहीं जाना।[5] जिसने उस एक आत्मा (परमात्मा) को नहीं जाना, उसने संसार की अन्य बहुत सी बातें जान भी ली तो क्या लाभ ? एक आत्मतत्त्व के ज्ञान से तो सभी कुछ हो सकता है, किन्तु ससार के ज्ञान से कुछ नहीं हो सकता।[6] कबीर ने हरि के नाम को क्षीर के समान तथा ससार के अन्य व्यवहार को नीररूप कहा है। हस के समान कोई विरला साधु ही वास्तविक तत्त्व को जानकर उसे ग्रहण कर सकता है।[7] उन्होने हरि (परमात्मा) को

१- मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म बिसास।
अब मेरे दूजा को नही, एक तुम्हारी आस॥
—क०ग्रं० बेसास को अंग, पृष्ठ ५२, १७

२- गाया तिनि पाया नही अणगाया थें दूरि।
जिनि गाया बिसवास सूं, तिन राम रह्या भरिपूरि। —वही, पृष्ठ ५२, २१/२८०

३- जं कह थक्कउ दव्वु जिय तं तह जाणइ जो जि।
अप्पहँ केरउ भावडउ, णाणु मुणिज्जहि सो जि॥
—परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय २९

४- कथता बकता सुरता सेई, आप विचारै सो ज्ञानी होई।
—क०ग्रं०, पृष्ठ ९०, ४२

५- जो वो एकै जाणियां, तो जाण्या सब जांण।
जो वो एक न जांणियां तो सब ही जांण अजांण॥
—क०ग्रं० नि:कर्मापतिव्रता को अंग, पृ० १६, १८

६- कबीर एक ण जांणिया तौ बहु जाण्या क्या होइ।
एक तें सब होत हैं, सबतें एक ण होइ॥
—वही, पृष्ठ १६, १९

७- षीररूप हरि नाव है, नीर आन व्यौहार।
हंसरूप कोई साध है, तत का जानणहार॥
—वही, साराग्राही को अंग, पृष्ठ ४७, १

हीरा कहा है, जिसे पारखी ही परख सकता है। जैसे पारखी जौहरी के अभाव में हीरा कौड़ी के मूल्य बिक जाता है वैसे ही आत्मज्ञान के अभाव में परमात्मा रूपी हीरा भी निर्मूल्य हो जाता है।[1] किन्तु, जिस प्रकार जौहरी हीरे को परख कर उसका उचित मूल्यांकन करता है उसी प्रकार हरि का भक्त भी हरि रूपी हीरे को पहिचान कर उसका समुचित मूल्य चुकाता है।[2] ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान हो जाने पर साधक को दुःख तथा मृत्यु का भय नही रहता। उसका निर्मल तथा पवित्र हृदय सत्य के प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है, भ्रम तथा अज्ञान का लेशमात्र भी अकुर नही रह जाता है और ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान की अभिन्न स्थिति हो जाती है। वहाँ परम सत्य का प्रकाश प्रकाशित रहता है।[3]

जोइन्दु मुनि के विचार से परभावों को छोड़कर आत्मा का निज शुद्ध भाव ही सम्यक्चारित्र्य है।[4] जो जीव केवल ज्ञानादि अनन्त गुणरूप, द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म से रहित निर्मल आत्मा का ही निरन्तर ध्यान करते है वे ही परममुनि निश्चय से निर्वाण को प्राप्त करते है।[5]

अपभ्रंश के जैन कवियो के सम्यक्चारित्र्य से भी कबीर परिचित थे। जैन मुनियो के ही समान कबीर का भी मत है कि केवल जानने अथवा मुख से कथन करने से ही निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती। अपितु उसकी प्राप्ति के लिए शुद्ध आचरण की भी आवश्यकता है। जो जैसा मुख से कहता है, यदि वैसा ही आचरण भी करे तो परमात्मा सदैव उसके निकट होकर उसे निहाल कर दे।[6] इसीलिए वे पढने लिखने को छोडकर केवल राम मे ही चित्त को अनुरक्त करने का उपदेश

१- एक अचम्भा देखिया, हीरा हाट बिकाइ।
परिखणहारे बाहिरा, कोडी बदले जाइ।।
—वही, अपारिख कौ अग, पृष्ठ ६६, २

२- हरि हीरा जन जौहरी, लेले मडिय हाटि।
जबरे मिलैगा पारिख तब हीरा की सांटि।।
—वही पारिख को अंग, पृष्ठ ७०

३- अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्मगियानं
सहज समाधे सुख मे रहिबोकोटि कलाप बिश्राम।
गुरु कृपालकृपा जब कीन्ही हिरदै कवल बिगासा।।
भागभ्रम दसो दिस सूझ्या परम ज्योति प्रकासा।। —क०ग्र०, पृष्ठ ८६

४- जाणवि मण्णवि अप्पुपरु, जो पर भाउ चएइ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ।।
—परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय ३०

५- अप्पा गुणमउ णिम्मलउ, अणुदिणु जे झायति।
ते पर णियमें परम मुणि लहु णिव्वाणि लहति।। —वही, ३३

६- जैसी मुख तै नीकसै, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल मे करै निहाल।।
—क० ग्रन्थावली करणीं बिना कथणी की अंग, पृष्ठ ३३, २

देते हैं ।[1]

१९. सयोग केवली अथवा जीवन्मुक्त की स्थिति

जैन दर्शन में व्यवहार साधनामार्ग के विभिन्न सोपानों का भी विवेचन हुआ है । ये सोपान चौदह हैं, जिन्हें चौदह गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है ।[2] साधक मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त-विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात तथा सयोगकेवली इन त्रयोदश सोपानों पर क्रमश: आरूढ होता हुआ चतुर्दश सोपान पर पहुँच जाता है, जिसे अयोगकेवली कहा गया है, यही पूर्व निर्वाण की स्थिति है जिसमे वह शरीर का भी त्याग कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि सिद्धत्व के आठ गुणों को प्राप्त कर निर्भय निराकार बन जाता है । इस निर्वाण से पूर्व त्रयोदश गुणस्थानो मे साधक की साधना पूर्ण हो जाती है । इस स्थिति का विवेचन अपभ्रंश के जैन कवियों तथा कबीर दोनो ने ही समान रूप से किया है ।

जैन मान्यताओं के अनुसार शिव पथ का पथिक साधक ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय तथा अन्तराय इन चार प्रबल घातिया कर्मों को नष्ट कर अरहन्त पद को प्राप्त होता है ।[3] इस दशा मे योगी के मन वचन तथा काय के सभी लौकिक व्यापार शिथिल पड जाते हैं । वह श्वासोच्छ्वास पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसके नेत्र स्पन्दन विहीन हो जाते हैं और वह समस्त सांसारिक व्यापारो से मुक्त हो जाता है । इस प्रकार मन के सभी व्यापारो के मिट जाने पर रागद्वेष आदि से मुक्त अपनी आत्मा मे स्थित साधक निर्वाण को प्राप्त करता है ।[4] अपभ्रंश के जैन कवियो ने साधक की इस अवस्था को सयोगकेवली कहा है । अपभ्रंश के जैन कवियो की इस मान्यता को भी कबीर ने स्वीकार किया है । उन्होंने जीवन्मुक्त की दशा का वर्णन किया है । उनके अनुसार जब साधक जीवित अवस्था मे ही सासारिक इच्छाओ, आशाओ और मन को मारकर मृतक तुल्य हो जाता है तभी वह हरि

१– कबीर पढ़िबा दूरि करि पुस्तक देइ बहाइ ।
बावन आखर सोधकरि, ररै मर्मै चित लाइ ॥
—क०ग्र० कथणी बिण करणी को अग पृष्ठ ३३, २

२– आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती, गोम्मटसार, जीवकाड, परमुत प्रभावकमण्डल बम्बई, रायचन्द जैन शास्त्रमाला, सन् १९२७, गाथा १७ से ६५ तक ।

३– सयल वियप्पहं तुट्ठाह सिव-पय मग्गि वसन्तु ।
कम्मचउक्कइ विलउ गइ, अप्पा हुइ अरहन्तु ॥
—परमात्मप्रकाश, द्वितीय अध्याय १९५

४– णिज्जियसासो णिप्फदलोयणो मुक्क सयलवावारो ।
एयाइं अवत्थगओ सो जोइय णत्थि सन्देहो ॥
तुट्टे मणवावारे भग्ग तह रायरोस सब्भावे ।
परमप्पयम्मि अप्पे परिट्ठिए होइ णिव्वाणं ॥ —रामसिंह, पाहुडदोहा २०३, २०४

भक्ति का अधिकारी बनता है ।[1] जीवन्मुक्त साधक विकारविहीन होता है, उसके हृदय की अज्ञान-ग्रन्थि का उच्छेद हो जाता है । वह निर्वैर, निष्काम, निर्विषय तथा निस्संग हो जाता है ।[2] वह सबके प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करके निर्भीक हो जाता है । उसे अपने मुक्त, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप मे विश्वास रहता है और वह उसी में लीन रहता है, एक प्रकार से वह भगवान् स्वरूप ही होता है ।[3] कबीर ने अपनी जीवन्मुक्त दशा का वर्णन करते हुए लिखा है 'अब मुझ गोविन्द का अनुभव होते ही सर्वत्र कुशल क्षेम प्रतीत होने लगा । शरीर के भीतर जितनी उपाधियाँ हुआ करती थी वे सभी परिवर्तित होकर सहज समाधि का सुख देने लगी, यमराज स्वय राम के रूप में परिणत हो गया, बैरीलोग मित्रवत् जान पडने लगे, दुर्जन सज्जन दीख पड़े, तीनो प्रकार के ताप दूर हो गये और जीवन्मुक्त की स्थिति आ गयी । इसमे न तो मुझे किसी प्रकार का भय लगा करता है और न मैं किसी को भयभीत करता हूँ ।[4]

२० निश्चय साधनामार्ग

निश्चय सम्यक्दर्शन, निश्चय सम्यक्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र्य ही निश्चय मोक्षमार्ग है । अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु के मतानुसार शुद्ध आत्मा ही निश्चय सम्यक्दर्शन निश्चय सम्यक्ज्ञान तथा निश्चय सम्यक्चारित्र्य है। अतः निश्चय रत्नत्रय रूप परिणत शुद्ध आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है ।[5] जो जीव निज शुद्धात्मा

१- जीवन्मृतक ह्वै रहे, तजै जगत की आस ।
तब हरि सेवा आवरण करै, मति दुख पावै दास ॥
क० ग्र० जीवन्मृतक को अंग १

२- निरबैरी निहकामता साईं, सेती नेह ।
विषया सूं न्यारा रहै संतनि का अंग एह ॥ —वही पृष्ठ ४४, १

३- मैमता अविगतरता अकलप आमातीत ।
राम अमल माता रहै, जीवत मुकति अतीत ॥ —वही, पृष्ठ १४, ६
तथा— अस्तुति निंद्या आसा छाडै तजै मान अभिमाना ।
लोहा कंचन समि कर देखै ते मूरति भगवाना ॥ —वही, पृष्ठ १२६, पद १८४

४- अब हम सकल कुसल करि माना ।
स्वांति भई तब गोव्यंद जाना ॥
तन मे होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि ।
जम थैं उलटि भया है राम, दुःख बिसर्‌या सुख किया बिश्राम ॥
बैरी उलटि भये हैं मीता, साषत उलटि सजन भये चीता ।
आपा जान उलटि ले आप, तौ नही व्यापै तीन्यूं ताप ।
अब मन उलटि सनातन हूवा, तब हम जानां जीवत मूवा ॥
कहै कबीर सुख सहज समाऊँ, आप न डरौ न और डराऊँ ॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८३, पद १५

५- जीवहं मोक्खहं हेउ वर दसणु णाणु चरित्तु ।
ते पुणु तिण्णि वि अप्पु मुणि णिच्छएँ एहउ वुत्तु ॥ —परमात्मप्रकाश, द्वि० अध्याय दोहा १२

ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान रखता है, वीतराग स्वसंवेदनरूप ज्ञान से उसी को जानता है तथा रागादि विकल्पो का त्याग कर निजस्वरूप में ही स्थिर रहता है, वही निश्चय रत्नत्रय को परिणत हुआ आत्मा मोक्ष का मार्ग है।[1] यही निश्चय रत्नत्रय-रूपी मोक्षमार्ग साध्य है और उक्त व्यवहार रत्नत्रय रूपी मोक्षमार्ग उसकी सिद्धि का साधन है।

अपभ्रंश के जैन कवियो के व्यवहार तथा निश्चय दोनो ही साधनामार्ग को कबीर ने स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने व्यवहार तथा निश्चय इन दोनो प्रकार के साधनामार्ग का कही उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान तथा आत्मभाव की प्राप्ति रूप निश्चय सम्यक्दर्शन, निश्चय सम्यक्ज्ञान तथा निश्चय सम्यक्चारित्र्य का उन्होने कथन किया है जिनका उल्लेख उनके व्यवहार साधनामार्ग के अन्तर्गत किया जा चुका है। वास्तव मे उनका साधनामार्ग अपभ्रंश के जैन कवियो के व्यवहार साधनामार्ग तथा निश्चय साधनामार्ग का मिश्रित रूप है।

यह सत्य है कि कबीर ने जैन पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग नही किया है और शास्त्रीय शैली मे साधना मार्ग का ही निरूपण किया है तो भी कबीर का साधना मार्ग जैन साधना के ध्यानमार्ग के बहुत निकट है।

इस प्रकार हम देखते है कि कबीर के साधनामार्ग पर शिव सहिता के समान ही जैन आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव, रामसेन के तत्त्वानुशासन एव अपभ्रंश कवियो द्वारा निरूपित ध्यान सिद्धान्त का भी प्रभाव है। उनकी प्राणायाम क्रिया और योगसाधना पर मुनि रामसिंह के द्वारा वर्णित "णिज्जिय सासो णिटफद लोयणो मुक्कसयलवारो" आदि प्राणायाम साधना का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

□

१- पेच्छइ जाणइ अणुचरइ, अप्पि अप्पउ जो जि।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ, मोक्खहं कारणु सो जि॥
—परमात्मप्रकाश, अ० २ दोहा १३

षष्ठ अध्याय

६. अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति और कबीर

१. प्रास्ताविकम्
२. अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति का स्वरूप
३. कबीर की रहस्यानुभूति का स्वरूप
४. अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति और कबीर

६. अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति और कबीर

१. प्रास्ताविकम्

रहस्यवाद मे आन्तरिक अनुभूति का विशेष महत्त्व है। यही रहस्यवाद की आधारशिला है। लौकिकता से विमुख होकर जब किसी अज्ञात, रहस्यमय अलौकिक शक्ति के प्रति राग, उत्सुकता, विस्मय, जिज्ञासा, लालसा एव मिलनानुभव व्यक्त किया जाने लगता है, तब उस अनुभव वेद्य अवस्था को रहस्यानुभूति की अवस्था कहते है। इसीको दिव्यानुभूति या स्वानुभूति भी कहा जाता है।[1] इस अनुभूति का साधन हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ नही हो सकती। क्योकि इन्द्रियजन्य अनुभूति का आधार नामरूपात्मक जगत् है। रहस्यमय वस्तुतत्त्व अथवा परमसत्ता इस नामरूपात्मक जगत् से सर्वथा भिन्न है। अत: उसकी अनुभूति इन्द्रियो के माध्यम से न होकर किसी विशेष माध्यम से होती है जिसकी अभिव्यक्ति भी साधारण अनुभूति की अभिव्यक्ति के समान सरल नही होती। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है—'वस्तुतत्त्व अथवा वास्तविक सत्ता का अपना एक ऐसा रूप है, जिसे हम अपने समक्ष वर्तमान या दृश्यमान जगत् से सर्वथा भिन्न कह सकते है। इस कारण उसकी अनुभूति हमे किसी साधारण ऐन्द्रिय साधना द्वारा न होकर उनके सम्मिलित प्रयास का अपने पूरे व्यक्तित्व द्वारा हुआ करती है। ऐसा वस्तुत. हमे अपने बाहर से प्रभावित न करके कही भीतर से आकृष्ट करता हुआ प्रतीत होता है, जिस कारण हमे उसकी अनुभूति प्राप्त करते समय अपनी ओर से कोई यत्न विशेष भी नही करना पडता और इसकी पद्धति किसी निष्क्रिय प्रयास जैसी तक हो जाया करती है। यह बाह्य दर्शन न होकर अन्तर्दर्शन और बाह्य श्रवण न होकर अन्त:श्रवण है। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते है कि यह बाह्य रसन एव बाह्य गन्ध ग्रहण न होकर क्रमश: अन्त:स्पर्श, अन्त:रसन एवं किसी गन्ध का अन्तर्ग्रहण भी है।'[2] इस प्रकार की अनुभूति के

१– हिन्दी साहित्य कोष, भाग १, द्वि० संस्करण, ज्ञान मण्डल लि०, वाराणसी १, पृ० ६६४।
२– आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना पृ० ५६।

माध्यम को हमारे यहाँ अन्तर्दृष्टि, अन्तश्चक्षु अथवा प्रातिभ ज्ञान की संज्ञा दी गयी है। इस अन्तर्दृष्टि पर आधारित अनुभूति अत्यन्त स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष हुआ करती है। इनके लिए न किसी आप्त वचन की आवश्यकता है और न तर्क या अनुमान के झमेलों मे पड़ने की। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए सर्वथा सहज तथा स्वाभाविक है और इसीलिए यह विशेष विश्वसनीय तथा दृढ़ भी है।

२. अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति का स्वरूप

आत्मानुभूति और भेदविज्ञान—जैन चिन्तकों ने स्वानुभूति का वर्णन विस्तार-पूर्वक किया है। आत्मविचारक आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, उमास्वामी तथा जोइन्दु सभी ने आत्मानुभूति को ही मोक्ष प्राप्ति का कारण बताया है। यह आत्मा-नुभूति कही बाहर से प्राप्त नही होती है। किन्तु, यह आत्मा ही ऐसी चिन्तन प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कर्म सहज ही नष्ट हो जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस आत्मानुभूति को ही भेदविज्ञान कहा है। उनका अभिमत है कि आत्मा के रागद्वेष मोहरूप भावों का विलय तभी सभव है जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने लगे। भेदविज्ञान या आत्मानुभूति की प्रचुरता से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी तथ्य को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए लिखा है—

जहकणयमग्गितविय पि कणयहावं ण त परिच्चयइ।
तह कम्मोदयत विदो ण जहदि णाणि उ णाणित्त॥
एव जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाण तमोच्छण्णो आदसहाव अयाण तो॥[1]

अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु ने भी इसी भेदविज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की उपलब्धि का कथन निम्न प्रकार किया है—

अप्पा णाणहं गम्मु पर णाणु वियाणइ जेण।
तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहु अप्पा णाणें तेण॥[2]

निश्चय से कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्य का नही है। क्योकि दोनों द्रव्यो के भिन्न-भिन्न प्रदेश होने से एक सत्ता नही हो सकती। अत: एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ आधार आधेय सम्बन्ध है। अत: आत्मा की चैतन्यानुभूति आत्मा मे ही है। जिसे स्वानुभव या स्वानुभूति की उपलब्धि हो जाती है, वह संसार के समस्त पदार्थों को पर रूप अनुभव करता हुआ सोऽहं की प्रतीति करता है।[3]

स्वानुभूति या भेदविज्ञान ही साधक को स्व और पर के स्वरूप की यथार्थ अनुभूति में प्रवृत्त करता है। वस्तु अपने स्वभाव को त्रिकाल में नहीं छोड़ती। स्वर्ण

१– समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द, गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, संवराधिकार, १८४, १८५
२– परमात्मप्रकाश, अध्याय १, १०७
३– जो परमप्पउ णाणमउ सोऽउं देउ अणंतु।
—परमात्मप्रकाश, अध्याय २, १७५

को अग्नि में गर्म करने पर भी स्वर्ण अपने स्वर्णत्व को नहीं छोडता है। इसी प्रकार स्वानुभव द्वारा कर्मोदय से सन्तप्त होने पर भी आत्मा अपने ज्ञानरूप का परित्याग नहीं करता है।[1] चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मस्वभाव मे रागद्वेष मोह का प्रवेश नहीं होता है। अतः रागद्वेष मोह भावों के कारण मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान और योग ये चारों अध्यवसान स्वानुभवकर्त्ता के आश्रव भाव उत्पन्न नही करते। इसी कारण आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने आत्मानुभूति को शुद्धनयात्मिका ज्ञानानुभूति के रूप में प्रतिपादित किया है।[2] शुद्ध नय के द्वारा जो आत्मानुभूति होती है, वही रहस्यानुभूनि या ज्ञानानुभूति है। जो साधक आत्मा मे ही आत्मा को निश्चय स्वभाव से अनुभव करता है और अपने को चिदानन्द सिद्धस्वरूप समझता है, वही अपने उस प्रिय अर्थात् सिद्धपद को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रिय को रहस्यवादियों ने पति के रूप मे अंकित किया है।

निश्चयनय से आत्मा के बंध मोक्ष का अभाव—रहस्यवादी जैन कवियों के मतानुसार अनादिकाल से आत्मा का कर्मों के साथ सम्बन्ध चला आया है और इसी सम्बन्ध के कारण नर नरकादि अनेक पर्यायो मे उसका भ्रमण हो रहा है। ये सब पर्यायें असमान जातीय दो द्रव्यो के सम्बन्ध से निष्पन्न होती हैं। इसी कारण आत्मा बद्धत्व स्पृष्टत्व आदि समझता है। एक द्रव्य स्वयं बन्ध को प्राप्त नही होता। अतः उसमे बद्धत्व भाव मानना सर्वथा असगत है। आत्म द्रव्य का जो नाना रूप परिणमन हो रहा है, वह परसम्बन्ध मे ही है। इसी परसम्बन्ध के कारण शब्द, बध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य आदि पौद्गलिक पर्यायें उत्पन्न होती हैं पर, जब आत्मा अपने को ज्ञाता, दृष्टा और चैतन्यरूप अनुभव करता है और स्वयं को पर से भिन्न अवलोकित करता है, तो बन्ध नहीं होता और बन्धाभाव के कारण नर नरकादि अनेक पर्यायें भी उत्पन्न नही होती। अतः निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा में न बन्ध है, न उदय है, न सत्त्व है और न विभाव जन्य पर्यायें ही हैं। ये सब व्यवहारनय की अपेक्षा वर्णित हैं क्योंकि ये पर पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होते है। अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु ने इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है—

जसु परमत्थे बधु णवि जोइय णवि संसारु।
सो परमप्पउ जाणि तुहु मणि मिल्लिवि ववहारु ॥[3]

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने भी आत्मस्वभाव को समस्त परभावो से भिन्न

१— अप्पा अप्पु जि परु जिपरु अप्पा परु जिण होइ।
परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमे पभणहि जोइ ॥
—परमात्मप्रकाश, अध्याय १, ६७

२— आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिकाया।
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बद्धवा ॥
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प।
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥ —समयसार कलश, जीव अधिकार, १३

३— जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ४६

आद्यन्तरहित, एक, औपधिक, संकल्प विकल्पों से रहित एवं चैतन्यमय स्वीकार किया है। निजानुभूति हो जाने पर निमित्त से उत्पन्न रागादि विभावभाव पररूप अनुभव में आते है, समस्त विकल्प-जाल विलीन हो जाता है और चैतन्यपिण्ड अखण्ड आत्मा का अनुभव होने लगता है। जिस प्रकार सूर्य का उदय होते ही अन्धकार विलीन हो जाता है और प्रकाश व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार स्वानुभूति के प्राप्त होते ही रागादि विभाव, इष्टानिष्ट बुद्धि सभी कुछ समाप्त हो जाते हैं, नय, प्रमाण, निक्षेप आदि भी नही रहते। वे लिखते हैं—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण,
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।
आत्मस्वभावं परभावभिन्न—
मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।।
विलीनसकल्पविकल्पजाल ,
प्रकाशयन् शुद्ध नयोऽभ्युदेति ।।[1]

आत्मा की शरीरादि से भिन्नता—अपभ्रंश के जैन कवि लक्ष्मीचन्द ने भी अपने दोहाणुवेहा मे शरीर और आत्मा की भिन्नत्व प्रतीति को स्वानुभूति की सज्ञा दी है। वे कहते है—

अण्णु शरीरु मुणेहि जिय, अप्पउ केवलि अण्णु ।
तो अणु वि सयलु वि चवहि अप्पा अप्पउ मण्णु ।।[2]

कवि रामसिंह ने भी अपने पाहुडदोहा में आत्मानुभूति का निरूपण करते हुए लिखा है कि ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब कुछ परभाव का त्याग किए बिना शुद्धस्वरूप की उपलब्धि नही हो सकती। यह आत्मस्वरूप वर्ण विहीन है, ज्ञानमय है सद्भावरूप है, निरजन है, शिव है और चैतन्यघन है।

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अवरु परायउ भाउ ।
सो छडे विणु जीव तुहुं झावहि सुद्ध सहाउ ।।[3]

जरामरण शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नही। अत: निजानुभूतिकर्त्ता अपने को जरामरण रोग आदि से रहित एकत्वमय अनुभव करता है। वह कर्मों के सम्बन्ध से होनेवाले विकारो को पर समझता है और परमपद आत्मा को ही निज सम्पत्ति मानता है—

देहहिं उब्भउ जरमरणु देहहिं वण्ण विच्चित्त ।
देहहो रोया जाणि तुहु देहहिं लिगइं मित्त ।।

१- अमृतचन्द्र सूरि, समयसार कलश, ६, १०
२- लक्ष्मीचन्द, दोहाणुवेहा, १३
३- रामसिंह, पाहुडदोहा, ३७

अत्थिण उब्भउ जरमरणु रोयबि लिगइं वण्ण ।
णिच्छइ अप्पा जाणि तहु जीवहो णेक्क वि सण्ण ।
कम्मह केरउ भावडस जइ अप्पाण भणेहि ।
तो वि ण पावहि परमपउ पुणु ससारु भमेहि ॥[1]

मुनि रामसिह ने आत्मानुभूति के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए बताया है कि जो नित्य केवल ज्ञान स्वरूप पर पदार्थों से भिन्न इस आत्मा का अनुभव करता है, उसे चौरासी लाख योनियो मे परिभ्रमण नही करना पडता । सकल शास्त्रो का पारगत होकर भी जो साधक निजानुभूति नही करता वह यथार्थ बोध से रहित रहता है और नर नरकादि अनेक योनियों मे परिभ्रमण करता है । निजानुभूति कर्त्ता को कर्मजनित भावस्व से भिन्न प्रतीत होते हैं—

अप्पा बुज्झिउ णिच्चु जइ केवलणाणसहाउ ।
तापर विज्जइ काइ बढ तणु ऊपरि अणुराउ ॥
जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्मह हेउ करतु ।
मो मुणि पावइ सुक्खुणवि सयलइं सत्थु मुणतु ॥
वोहि विवज्जिउ णीव तुहु विवरिउ तच्चु मुणेहि ।
कम्मुविणिम्मिय भावडा ते अप्पाण भणेहि ॥[2]

मुनि रामसिह का मत है कि आत्मानुभव करनेवाले को कर्मबन्ध नही होता, वह विषय कषाय जन्य विकृति को पर अनुभव करता है । अत: उसके समस्त दोषो का विनाश हो जाता है । वह अपने आत्मा का अनुभव करता हुआ स्वपर प्रकाशक ज्योति को अपनी आत्मज्योति मानता है और उसके आश्रव, बन्ध समाप्त हो जाते हैं तथा सवर एव निर्जरा की स्थिति प्राप्त होती है—

अप्पा अप्पि परिट्ठियउ कहि भिण लग्गइ लेउ ।
सव्वु जि दोसु महतु तसु ज पुणु होइ अछेउ ॥[3]

जोइन्दु मुनि भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि जो आत्मा को आत्मा समझता है और पर भावों का त्याग कर देता है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है—

अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाउ चएइ ।
सोपावहि सिवपुरिगमणु जिणवरु एम भणेइ ॥[4]

ससार के सभी पदार्थ अचेतन है, चेतन केवल आत्मा है तथा वही सारभूत है, जिसको जानकर साधक निर्वाण को प्राप्त करता है—

१- रामसिह, पाहुडदोहा, ३४, ३५, ३६
२- वही, २३, २४, २५
३- वही, ६०
४- जोइन्दु, योगसार, ३४

सव्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयणु सारु ।
जो जाणेविणु परममुणि लहु पावहि भवपारु ॥[1]

जो योगी जीव अजीव के भेद को जानता है, वही सब कुछ जानता है और वही मोक्ष का कारण है—

जीवा जीवहृ भेउ जो जाणइ ति जाणियउ ।
मोक्खहँ कारणु एउ भणइ जोइ जोईहि भणिउ ॥[5]

आत्मा की विकार विहीनता—यद्यपि व्यवहारनय से शुद्धात्मस्वरूप को रोकने वाले ज्ञानावरणादि कर्म अपने-अपने कार्य को करते है, ज्ञानावरण ज्ञान को ढकता है, दर्शनावरण दर्शन को आच्छादित करता है, वेदनीय साता असाता उत्पन्न कर अतीन्द्रिय सुख को घातता है, मोहनीय सम्यक्त्व तथा चारित्र को रोकता है, आयु कर्म स्थिति के प्रमाण शरीर मे रखता है, नामकर्म नाना प्रकार गति जाति, शरीरादि को उपजाता है, गोत्रकर्म ऊँच, नीच गोत्र मे डाल देता है और अन्तराय कर्म अनन्तबल को प्रकट नही होने देता तो भी शुद्धनिश्चयनय से आत्मा के अनन्त ज्ञानादि स्वरूप को इन कर्मों ने न तो नाश किया न नया उत्पन्न किया । आत्मा तो जैसा है, वैसा ही है—

कम्महिं जासु जणतहि वि णिउ णिउ कज्जु सयावि ।
किं पि ण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ॥[1]

आत्मा का कर्म से पृथक्त्व—अनादिकाल से कर्मों से आबद्ध होने पर भी आत्मा कभी कर्म नहीं होता और न कर्म आत्मा होता है—

कम्म णिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कयावि ।
कम्मु वि जोण कयावि फुडु सो परमप्पय भावि ॥[2]

आत्मा आठों कर्मों और रागद्वेष कषाय आदि दोषो से रहित है, वह दर्शन, ज्ञान चारित्रमय है—

अट्ठहं कम्महं बाहिरउ सयलँह दोसहँ चत्तु ।
दंसणणाणचरित्तमउ, अप्पा भाविणिरुत्तु ॥[3]

आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्व—जैन दृष्टिकोण से आत्मा अपने ही भावों का कर्त्ता और भोक्ता है, न वह पुद्गलरूप द्रव्य कर्मो एवं रागद्वेष मोहरूप भाव कर्मों का कर्त्ता है न भोक्ता । निश्चनय से कर्म का कर्त्ता कर्म है और जीव का कर्त्ता जीव है । जीव पुद्गल द्रव्य मे होनेवाले कर्मरूप परिणमन का कर्त्ता है और कर्म जीव द्रव्य में होनेवाले नर नरकादि पर्यायो का कर्त्ता है, यह सब आत्मानुभूति से विपरीत रागादि

१– जोइन्दु, योगसार, ३६
२– वही, १८
३– परमात्मप्रकाश, अध्याय १, ४८
४– वही, ४९
५– वही, ७५

मोहादि युक्त आत्मपरिणति का फल है।[1] तत्त्वाभ्यासी मुनि भी आत्मानुभूति से पराङ्मुख रहने पर आत्मस्वरूप को अवगत नहीं कर पाता। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहारनय के द्वारा होनेवाले समस्त व्यवहारों को भूतार्थ तथा निश्चयनय से उत्पन्न आत्मानुभूति को अभूतार्थ कहा है।[2] जिसे रहस्यानुभूति हो जाती है, वह आश्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पापरूप परिणमन को प्राप्त नहीं होता। जीव और अजीव इन दोनों के मिलन से ही आश्रवादि तत्त्व घटित होते हैं। आत्मा मे विभावशक्ति तथा योगशक्ति है। ये शक्तियाँ निमित्त पाकर जीव में प्रदेश चचलता तथा कलुषता को उत्पन्न करती हैं, जिसके द्वारा आश्रव और बन्ध होना है। जब तीव्र कषाय होती है तो पाप के कारण अशुभ और जब मन्द कषाय होती है तो पुण्य के कारण शुभ परिणाम होते हैं जो आत्मा में पाप और पुण्य की परिणति करते है।

रहस्यानुभूति से शुद्धात्म स्वरूप की उपलब्धि—रहस्यानुभूति से परिणामो मे निर्मलता उत्पन्न होती है जिससे विपरीत श्रद्धान समाप्त हो जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने आत्मानुभूति, आत्मख्याति और सम्यक्दर्शन इन तीनों को समानार्थक स्वीकार किया है। चिरकाल से यह आत्म ज्योति नवतत्त्व के अन्तस्तल मे लुप्त सी हो रही है। जिस प्रकार अन्य द्रव्यो के वर्ण समूह मे स्वर्ण निमग्न रहता है किन्तु, पाकादि क्रिया द्वारा किट्टकालिमादि दोषों के निकलने पर शुद्ध स्वर्ण निकल आता है उसी प्रकार यह आत्मज्योति भी शुद्धनय के द्वारा विकास मे लायी जाती है। अत: साधक अन्य द्रव्यों तथा उसके निमित्त से होने वाले नैमित्तिक भावो से भिन्न एकरूप में आत्मज्योति का दर्शन करता है।[3]

आत्मा का ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप—आत्मानुभूति से युक्त आत्मा मे समस्त

१— कुव्वं सगं सहावं अत्ताकत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गल कम्माणं इदि जिणवयणमुणेयव्वं॥
कम्मपि सग कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवोविय तारिसओ कम्मसहावे ण भावेण॥
कम्म कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुज्जदि अप्पा कम्मं च देहि फलं॥
—पंचास्तिकाय आचार्य कुन्दकुन्द, श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई, प्रथम संस्करण, ६१, ६२, ६३

२— ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो हि सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥
—समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द, जीवाजीवाधिकार, गाथा ११

३— चिरमिति नवतत्त्वच्छिन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमाला कलापे।
अथ सतत विविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम्॥
—समयसार कलश, अमृतचन्द्र सूरि

ज्ञेयों का प्रतिबिम्ब उसी प्रकार पड़ता है जिस प्रकार निर्मल जल में ताराओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है—

तारायण् जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोया लोउ वि तेम ।।[1]

रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता—यह आत्मानुभूति अनिर्वचनीय है शब्दों के द्वारा इसका वर्णन नही किया जा सकता। क्योंकि इसकी ठीक-ठीक अभिव्यक्ति के लिए अब तक कोई शब्द नहीं ढूंढ़ा जा सका है। अतः अनुभवकर्त्ता को ऐसी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के समय मूकवत् रहना पडता है। मुनि रामसिंह ने रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता का विवेचन करते हुए लिखा है कि जो उसका अनुभव करता है वही उसे जानता है, पूछने से उसके विषय मे तृप्ति नही हो सकती। उसके विषय मे न कुछ कहा जा सकता है न लिखा जा सकता है—

ज लिहिउण पुच्छिउ कहव जाइ ।
कहियउ कासु णउ चित्ति ठाइ ।।[2]

आत्मा परमात्मा की समरसता तथा सुखानुभूति—इस रहस्यानुभूति के होते ही साधक आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है। इस स्थिति मे ज्ञान् ज्ञेय ध्याता ध्येय तथा आराध्य अराधक का भेद लुप्त हो जाता है। इस तथ्य की अभिव्यक्ति करते हुए मुनि रामसिंह ने लिखा है कि जब मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से तो फिर पूजा किसकी की जाय।[3] उनका कथन है कि जिनवर को तभी तक प्रणाम किया जाता है, जबतक आत्मानुभूति नही होती, आत्मानुभूति के होते ही पूज्य पूजक का भेद मिट जाता है।[4] कवि आनन्दा ने भी आत्मानुभूति को समरस का सरोवर बताया है। परमानन्द मे लगा हुआ साधक अपने स्वरूप की उपलब्धि द्वारा अहंकार और ममकार से दूर रहकर परमात्मपद की उपलब्धि करता है। यह आत्मानुभूति ही अमृत रस है, इसके प्राप्त होने से आत्मा अजर अमर हो जाता है—

परमाणन्द सरोवरह जे मुणि करइ पवेस ।
अमिय महारस जउ पिवई आणन्दा । गुरु स्वामिहिं उपदेसु ।।
समरस भावे रंगिया अप्पा देखइ सोई ।
अप्पउ जाणइ पर हणई आणन्दा । करई णिरालव होइ ।।[5]

१- परमात्मप्रकाश, प्रथम अध्याय १०२
२- पाहुडदोहा, रामसिंह, १६६
३- मणु मिलियउ परमेसरहो, परमेसरु विमणस्स ।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय, पुज्ज चडावउ कस्स ।।
—वही, ४९
४- णमिओसि ताम जिणवर, जामण मुणिओसि देहमज्झम्मि ।
जइ मुणइ देहमज्झम्मि ता केण णवज्जए कस्स ।।
—वही, १४१
५- आणन्दा, आनन्दतिलक, २९, ४०

संक्षेप में अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा निरूपित रहस्यानुभूति या आत्मानुभूति का स्वरूप निम्न प्रकार निर्धारित किया जा सकता है।

१. निश्चयनय की दृष्टि से रहस्यानुभूति या आत्मानुभूति की उत्पत्ति होती है, यह भेद विज्ञानमूलक है।
२. आत्मानुभूति द्वारा कर्म, नोकर्म पुद्गल के हैं, आत्मा के नही। आत्मा स्व-स्वरूप का ज्ञाता दृष्टा है, पररूप का नही।
३. आध्यात्मिक चर्चा को सरस और उपयोगी बनाने के लिए अपभ्रंश के कवियो ने आत्मानुभूति को समरसता की उपमा दी है, और इससे प्राप्य को प्रिय या उपलक्ष्य कहा है।
४. जैन कवियों की आत्मानुभूति ज्ञानमूलक है, प्रेम मूलक नही क्योकि उन्होंने सिद्धान्त के रूप मे ही आत्मानुभूति का चित्रण किया है, काव्य के रूप मे नही। यही कारण है कि प्रतीकात्मक रूप मे आत्मानुभूति का विवेचन नही हुआ है। एक साधक या ज्ञानी अपने ज्ञान की बातो को तथ्य के रूप में जैसे व्यक्त करता है उसी प्रक्रिया का अवलंबन इन कवियों ने ग्रहण किया है।
५ अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति द्वैत और अद्वैत से भिन्न अनेकान्त मूलक है। विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह अद्वैतवादी है। जहाँ प्रमाण, नय, निक्षेप अस्त है, वहाँ अद्वैत के अतिरिक्ति और हो ही क्या सकता है? पर, अन्त: प्रवेश करने पर यह तर्क उचित नही प्रतीत होता। क्योकि जैन चिन्तको ने अनेक मे एक की ओर ले जाकर आत्मानुभूति को शून्यवत् नही कहा है। वस्तुत: यह निश्चयनयजन्य एक ऐसी अन्तर्दृष्टि है जिसमे आत्म गुणो के अतिरिक्त अन्य की प्रतीति नही होती है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि यह ऐसी तन्मयता है जिसमें समस्त अनुभूतियाँ एक साथ समाविष्ट हो जाती है।
६. जैन रहस्यानुभूति मे इस प्रकार का विरह जाग्रत नही होता जो किसी दूरवर्ती प्रिय को प्राप्त करने के लिए अपेक्षित है। अपभ्रंश के जैन कवि महयदिण तथा लक्ष्मीचन्द ने आत्मानुभूति की जाग्रति के लिए गुरु की सहायता आवश्यक बतलायी है। गुरु साधक को उस वस्तु की उपलब्धि के लिए सचेत कर देता है, एक पिपासा जाग्रत कर देता है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह बेचैन रहता है।
७. यह रहस्यानुभूति अनिर्वचनीय है, शब्दो द्वारा इसका वर्णन सभव नही है।
८. रहस्यानुभूति के प्राप्त हो जाने पर साधक को असीम आनन्द की उपलब्धि होती है।
९. रहस्यानुभूति के द्वारा समरसता की स्थिति आ जाती है, जिसमे पूज्य पूजक, आराध्य आराधक और साध्य साधक का भेद लुप्त हो जाता है।

३. कबीर की रहस्यानुभूति का स्वरूप

कबीर की रहस्यानुभूति का जैन रहस्यानुभूति से साम्य स्थापित करने के

लिए कबीर की रहस्यानुभूति पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। पूर्व में जैन रहस्यानुभूति का विवेचन किया जा चुका है, किन्तु जब तक कबीर की रहस्यानुभूति का विश्लेषण विवेचन न किया जाए तब तक जैन रहस्यानुभूति से कबीर की रहस्यानुभूति की तुलना करना समीचीन न होगा। अतः यहाँ कबीर की रहस्यानुभूति का विवेचन परमावश्यक है।

आत्मा परमात्मा में तादात्म्य सम्बन्ध—कबीर की दृष्टि में आत्मानुभूति या रहस्यानुभूति वह है, जहाँ अहं और इदं की भावना लुप्त हो जाती है और तीव्रता इतनी अधिक मात्रा मे उत्पन्न हो जाती है कि अनुभवकर्त्ता को अनुभूत वस्तु के साथ पूरे तादात्म्य की प्रतीति होने लगती है। वह उसके रग में पूर्णतः रँग जाता है और द्वैतपरक संस्कारों के रहते हुए भी उद्गारों मे अद्वैत की भावना समाविष्ट हो जाती है। जिस प्रकार लोहपिण्ड को अग्नि मे गर्म कर लेने पर अग्नि की उष्णता उसमे सर्वत्र व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार उक्त अनुभूत वस्तु उसके रोम-रोम मे समाविष्ट हो जाती है और ज्ञाता एव ज्ञेय का एकीकरण हो जाता है। इस तथ्य की अभिव्यक्ति करते हुए कबीर कहते हैं—

> तू तू करता तू भया मुझमे रही न हूं।
> वारी फेरी बलि गई, जित देखों तित तू ॥[1]

सामान्यतः कबीर की रहस्यानुभूति दर्शनमूलक है। यह अद्वैत कोटि मे आती है। अद्वैतवादी नाना वस्तुओं मे एकत्व की अनुभूति करता है और शून्यवत् अज्ञेय वस्तु तक पहुँच जाता है। उसकी अन्तर्दृष्टि विकसित हो जाती है और आनन्द मग्न होता हुआ वह अपने को सबसे भिन्न निजरूप मे अनुभव करता है। वह अपनी अनुभूत वस्तु मे उसी प्रकार मिश्रित हो जाता है जिस प्रकार जलबिन्दु समुद्र मे। दोनों के बीच समरसता का भाव आ जाता है—

> हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
> बूंद समानी समद में सो कत हेरी जाइ ॥[2]

कबीर की दृष्टि में समरसता की स्थिति जीवात्मा और परमात्मा के बीच उसी प्रकार है, जिस प्रकार की स्थिति दो मित्रों अथवा पति पत्नी के बीच होती है। विचार करने पर कबीर की रहस्यानुभूति द्वैत और अद्वैत दोनों से विलक्षण है वे एकमात्र एव निरपेक्ष परमतत्व के अस्तित्व मे विश्वास रखते हुए भी जगत् के व्यावहारिक सत्य को पूर्णतया अस्वीकार नही करते।[3] वस्तु का परिचय वे कभी-कभी अद्भुत शब्द द्वारा दिया करते हैं और उसकी गति को अगम बताते

१- कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५, ६

२- वही, पृष्ठ १५, ३

३- कहन सुनन कौं जिहि जग कीन्हा, जग भुलान सोकिनहूं न चीन्हा।
सतरज तम थै कीन्हीं माया आपण मांझै आप छिपाया ॥

—वही, पृष्ठ १६३

है।[1] आत्मा के अगम अगोचर रूप का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं—

वो है तैसो वो ही जानैं ओही आहि आहि नही आने।
नैनां बैंन अगोचरी, श्रवणां करणीं सार।
बोलन के सुख कारणे, कहिये सिरजनहार।।[2]

रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता—कबीर ने स्वात्मानुभूति को अनिर्वचनीय कहा है, उनके विचार से आत्मा का अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन नही। वे कहते हैं—

दीठा है तो कस कहूं कह्या न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहो, तू हरषि हरषि गुन गाइ।।[3]

कबीर ने अपनी रहस्यानुभूति को गूँगे की मिठाई के समान कहा है। जिस प्रकार गूंगा व्यक्ति मिठाई के स्वाद का अनुभव तो करता है, किन्तु वाणी द्वारा उसका वर्णन करने में असमर्थ होकर संकेतों के द्वारा उसे दूसरों को समझाने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार रहस्यानुभूति का अनुभवकर्त्ता भी अपनी अनुभूति को वाणी द्वारा व्यक्त करने मे असमर्थ होकर सांकेतिक भाषा के द्वारा ही उसे व्यक्त करने का प्रयास करता है। वे कहते है—

जे दीसै सो तो है नाही है सो कहा न जाई।
सैना बैनां कहि समुझावों, गूगे का गुड भाई।।[4]

आत्मा का स्वरूप--कबीर ने अपनी आत्मानुभूति का वर्णन करते हुए लिखा है कि आत्मा अलख है, निरजन है, निर्भय और निराकार है, उसका न कोई रूप है, न रेखा, वह न शून्य है, न स्थूल, उसका न कोई वर्ण है, न वह अवर्ण है, न आदि है न अन्त, न मध्य है, वह अपरम्पार है, न उसकी उत्पत्ति होती है न विनाश।[5]

आत्मा की पर पदार्थों से भिन्नता—आत्मा ही आत्मा के द्वारा ज्ञेय है, पर पदार्थ नही। आत्मा पर पदार्थों से भिन्न है—

आप आप थैं जानियै, है पर नाही सोइ।[6]

१- ऐसा अद्‌भुत जिनि कथै, अद्‌भुत राखि लुकाइ।
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १५, साखी ३

२- कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृष्ठ २०७

३- वही, जर्णा को अंग २

४- कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १२६

५- अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।
सुंनि असथूल रूप नही रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नही पेखा।
बरन अबरन कथ्यो नहि जाई, सकल अतीत घट रह्यो समाई।
आदि अंति माहि नही मधे, कथ्यो, न जाई आहि अकथे।
अपरपार उपजै नहीं विनसै, जुगति न जानिये कथिये कैसे।
—कबीर ग्र०, रमैणी, पृष्ठ १९७

६- कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १९८

विभिन्न लौकिक सम्बन्धों की स्थापना—कबीर अनेक स्थलों पर उस निर्गुण निराकार शुद्ध आत्मा के साथ विभिन्न सम्बन्धों की स्थापना करते हुए उसे पूर्ण व्यक्तित्व भी प्रदान करते है। वे उससे "सो दोसत किया अलेख"[1] "हरि गुरु पीर हमारा"[2] "हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया"[3] तथा "हरि जननी मैं बालक तोरा"[4] आदि के द्वारा मित्र, गुरु, पति तथा माता आदि विभिन्न सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अन्य सभी सम्बन्धो की अपेक्षा पति पत्नी का सम्बन्ध अधिक अभिन्नता का द्योतक है। अत: आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता स्थापित करने के लिए कबीर ने दाम्पत्य प्रतीको का प्रयोग अधिक रूप में किया है और उन्होंने दाम्पत्य प्रेम से सम्बन्धित विरह तथा मिलन दोनो के चित्र अंकित किए हैं।

दाम्पत्य सम्बन्ध में विरह तथा मिलन के चित्र—कबीर के दाम्पत्य प्रेम की प्रमुख विशेषता पवित्रता, सात्विकता एवं आध्यात्मिकता है, उसमें कही भी वासना की दुर्गंध नही दिखाई देती। उन्होने आत्मा तथा परमात्मा मे पवित्र प्रेम स्थापित किया है जो शास्त्रीय विधि से विवाह हो जाने के पश्चात् उत्पन्न हुआ है। यह लौकिक विवाह नही है। इस विवाह मे साधक की आत्मा ही वधू है, स्वय राम वर हैं, शरीर वेदिका है, ब्रह्माजी पुरोहित हैं तथा तैंतीस करोड देवता और अट्ठासी हजार ऋषि इस सम्बन्ध के साक्षात् बराती है। आत्मारूपी बधू आनन्दमग्न होकर कहती है "राजाराम अब मेरे भर्त्तार के रूप में आ गए, अब मैं अपना मन तन उनके प्रति न्योछावर कर दूंगी। पच तत्त्व बराती बन जायेंगे और मै यौवन के उमंग मे उन्मत्त हो जाऊँगी। नाभिकमल विवाहविधि की वेदी बन जाएगा, ब्रह्मवाणी उच्चरित होने लगेगी और मैं अपने राम के साथ भावरे लेने लगूगी। मेरा धन्य भाग्य है कि इस विवाह विधि को देखने तैंतीस करोड देवता और अट्ठासी सहस्र मुनिवर भी आ उपस्थित होंगे और मैं उस एकमात्र अविनाशी के साथ विवाह कर लूंगी—

> दुलहिन गावहु मंगलचार।
> हम घरि आये हो राजाराम भरतार।
> तन रत करि मैं मन रत करिहूं पच तत्त बराती।
> रामदेव मोरे पाहुने आये, मैं जोबन मैंमाती।
> सरीर सरोवर वेदी करिहूं, ब्रह्मा वेद उचार।
> रामदेव सगि भावरि लेहूं, धनि धनि भाग हमार।
> सुर तैंतीसू कोतिग आए, मुनियर सहस अठासी।
> कहै कबीर हम व्याहि चले हैं, पुरिस एक अविनाशी॥[5]

१- क० ग्र०, पृष्ठ ११ सा० १२
२- वही, पृ० १५१, पद २५६
३- वही, पृ० १०६, पद ११७
४- वही, पृ० १०७, पद १११
५- वही, पृष्ठ ७८, पद १

इस प्रकार आत्मा तथा परमात्मा का दाम्पत्य सम्बन्ध स्थिर हो जाने पर भी यदि आत्मा मे किसी प्रकार का विकार शेष रह जाता है तो मिलन नही हो पाता। इस परिस्थिति में आत्मारूपीवधू किस प्रकार उद्विग्नता और विह्वलता का अनुभव करती है, कबीर ने इसका सुन्दर चित्र अंकित किया है—

किये सिंगार मिलन केताई, हरि न मिले जग जीवन गुसाई।
हरि मेरो पीव मैं हरिकी बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।
धनिपिय एकै सङ्ग बसेरा, सेज एक पै मिलन दुहैरा।
धन्न सुहागिनिजो प्रिय भावै, कहि कबीर फिरि जनमिन आवै॥[1]

आत्मारूपी वधू का जब परमात्मारूपी प्रियतम से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भी मिलन नही होता तो वह तड़प कर पुकार उठती है—

वे दिन कब आवहिंगे भाय।
जा कारन हम देह धरी है, मिलिबो अंग लगाय।[2]

आत्मारूपी वधू को परमात्मारूपी प्रियतम के बिना एक क्षण को भी चैन नही मिलता, उसे घर अथवा वन कुछ भी अच्छा नही लगता, वह अत्यधिक दुखी हो जाती है और उसका जीवन कठिन हो जाता है। वह कहती है—

बाल्हा आव हमारे गेहरे, तुम्ह बिन दुःखिया देहरे।
सबको कहै तुम्हारी नारी, मोकों इहै अदेह रे॥
एक मेक ह्वै, सेज न सोवै, तब लग कैसा नेहरे॥
आन न भावै, नींद न आवै, गृह वन धरै न धीर रे।
ज्यू कामी को काम पियारा, ज्यू प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सू कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइरे॥[3]

कबीर ने विरह के साथ साथ सयोग कालीन सुखद अनुभूतियो की अभिव्यक्ति कर अपनी रहस्यानुभूति को और अधिक सरस बना दिया है। वे कहते है—मैंने अपने प्रियतम को बहुत दिनो के अनन्तर पाया है। मेरे घर मे अब पूर्ण प्रकाश हो गया है और अब मैं उसे अपने घर मे सौभाग्यवश बैठे बैठे ही पाकर उसके साथ सो गई हूं। मैंने स्वय इसके लिए कुछ नही किया, मेरे राम ने ही मुझे यह सौभाग्य प्रदान किया है—

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये,
भाग बडे घर बैठे आये।
मंगलचार मांहि मन राखौं, राम रसाइण रसना चाखौं।
मन्दिर मांहि भया उजियारा, ले सूती अपना पीव पियारा॥

१– क० ग्रं०, पृष्ठ २२८, पद ४५
२– वही, पृष्ठ १६४, पद ३०६
३– वही, पृष्ठ १६४, ३०७

मैं रनिरासी जे निधिपाई, हमहि कहा यहु तुमहिं बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछू न कीन्हां, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा ।।[1]

कबीर इस आनन्द की स्थिति में बराबर बने रहना चाहते हैं और वे कहते हैं कि हे प्रियतम, तुझे मैंने बहुत दिनों की विरह यातना झेलकर सौभाग्यवश प्राप्त कर लिया है। अब तुझे मैं किसी प्रकार जाने न दूंगी। चाहे जिस प्रकार से हो, तू मेरे साथ ही बना रह और जैसे हो मेरे साथ आत्मीयता का भाव बनाये रह। मैं तेरे चरणों मे पड़कर तुझे हठपूर्वक रोक लूंगी और अपने प्रेम मे उलझाये रहूँगी। मेरे मन मन्दिर मे तू सुखपूर्वक पड़ा रह और कभी किसी के धोखे में न पड़।[2]

आत्मज्ञान ही आत्मानुभूति है—कबीर ने आत्मज्ञान को ही आत्मानुभूति कहा है। उनके विचार से आत्मज्ञान हो जाने पर साधक का सभी भ्रम दूर हो जाता है, उसके रागद्वेष, मोह आदि सभी नष्ट हो जाते हैं।[3]

आत्मानुभूति से अलौकिक सुख की प्राप्ति—आत्मानुभूति हो जाने पर साधक के दैहिक, दैविक और भौतिक तीनो प्रकार के ताप नष्ट हो जाते हैं।[4] यही नही इस रहस्यानुभूति से अलौकिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है। कबीर इस आनन्द की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं—

सहज कलालनि जउ मिलि जाई।
आनन्द माते अनुदिनु जाई ।।[5]

अन्यत्र भी वे कहते है कि परमात्मानुभूति हो जाने पर सभी पाप नष्ट हो जाते है, हृदय हर्ष से परिप्लुत हो जाता है, और सुख का अनुभव होने लगता है—

सब्बु पाया सुख उपना, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजै गए, जब साईं मिल्या हजूरि ।।[6]

१— क० ग्र० पृ० ७८, पद २

२— अब तोहि जानन देहूं राम पियारे।
ज्यूं भावै त्यूं होउ हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे पाये।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेमप्रीति राखौं उरझाई ।।
इत मत मन्दिर रहौ नित चोषे, कहै कबीर परहु मति धोखै ।।
—वही, पृ० ७८, पद ३

३— सन्तो भाई आई ज्ञान की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहै न बांधी।
हितचित की द्वै थूनि गिरानी, मोह बलेंडा टूटा।
त्रिस्ना छानि परी घर उपरि, कुबुधि का भांडा फूटा ।।
—क० ग्र०, पद १६

४— आपपिछानैं आप आप रोगन ब्यापै तीन्यूं ताप।
—वही, पद २७२

५— सन्त कबीर डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २६, पद २

६— कबीर ग्रन्थावली, पद ७०

इस प्रभु मिलन के सुख को कबीर ने अमृत के निर्झर के समान कहा है। वे कहते हैं कि हे अवधूत ! तुम शून्य ब्रह्मरन्ध्र को अपना स्थायी वास बना लो। वहाँ सदैव अमृत स्रवित होता रहता है, जिससे अमित आनन्द की प्राप्ति होती है। सुषुम्ना नाड़ी को वहाँ पहुँचा कर साधक इस अमृत का पान करता है—

अवधू। गगन मँडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नालि रस पीजै ॥[1]

संक्षेप मे कबीर की रहस्यानुभूति का स्वरूप निम्न प्रकार है—

१. कबीर की रहस्यानुभूति द्वैत और अद्वैत से विलक्षण है।
२ कबीर की रहस्यानुभूति आत्मानुभूति है, जो आत्मज्ञान से होती है।
३. आत्मा ही शक्त्येपक्षया परमात्मा है।
४. आत्मा परपदार्थो से भिन्न है।
५. रहस्यानुभूति के क्षणो में साधक शुद्ध आत्मा के साथ विभिन्न लौकिक सम्बन्धो की कल्पना करता है, जिसमे दाम्पत्य सम्बन्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।
६. आत्मानुभूति अनुभवगम्य होने से अनिर्वचनीय है।
७. स्वानुभूति परमानन्ददायक है। इसकी उपलब्धि होने पर साधक समस्त विकारों से रहित होकर परमानन्द सागर मे निमग्न हो जाता है।

४. अपभ्रंश के जैन कवियों की रहस्यानुभूति और कबीर

आत्म वर्णन में अनेकान्त की झलक—अपभ्रंश के जैन कवियो द्वारा निरूपित रहस्यानुभूति और कबीर द्वारा निरूपित रहस्यानुभूति का तुलनात्मक अध्ययन करने मे ज्ञात होता है कि कबीर जैन कवियों की आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं से सहमत है। कबीर की रहस्यानुभूति न द्वैत मूलक है न अद्वैत मूलक। वह जैन दर्शन के अनेकान्तवाद के समकक्ष है। उनके मत से आत्मा माया के कारण रागद्वेष आदि मलीनताओं से युक्त होकर ससार मे परिभ्रमण करता है किन्तु रागद्वेष आदि के नष्ट हो जाने पर वह परमात्मा मे उसी प्रकार विलीन हो जाता है जैसे नमक मे पानी विलीन हो जाता है। वे कहते है—

मन लागा उनमन सौ, उनमन मनहि विलग्ग।
लूण विलग्गा पाणियां पाणी लूण विलग्ग ॥[2]

कबीर के उक्त कथन को विद्वानों ने वेदान्त के अद्वैत से प्रभावित मानकर इसका अर्थ यह लगाया है कि आत्मा परमात्मा का अश है और आत्मानुभूति हो जाने पर वह परमात्मा में ऐसे घुलमिल जाता है जैसे नमक पानी मे घुल मिलकर अपने अस्तित्व को खो देता है। किन्तु गम्भीरता मे विचार करने पर इसका तात्पर्य यह भी हो सकता कि आत्मा शक्त्येपक्षया परमात्मा है। जैसे जल में नमक मिलने

१- क० ग्र०, पद ७०
२- क० ग्र०, परचा को अंग, ४०

पर जल को नमक रूप में परिणत करनेवाले कारणों के नष्ट हो जाने पर वह शुद्ध जल के रूप को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार कर्मकलंक से मलीन आत्मा कर्मकलक के नष्ट हो जाने पर शुद्ध आत्मरूप को प्राप्त कर लेता है। जैन दर्शन मे निश्चय और व्यवहार को दो चक्षु कहा गया है। एक नेत्र से देखने पर वस्तु का सर्वांगीण स्वरूप दृष्टिगोचर नही होता है। दोनों नेत्रो से देखने पर ही वस्तु का प्रत्यक्षीकरण होता है। निश्चयनय आत्मा को शुद्धरूप मे विवेचित करता है और व्यवहारनय उसके अशुद्ध रूपो का कथन करता है। निश्चय से आत्मा सिद्ध स्वरूप है, पर व्यवहार से यह नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव आदि गतियो, गुणस्थानों एव विभिन्न पर्यायो मे अवस्थित है। जोइन्दु कवि ने परमात्मप्रकाश मे अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा से भिन्न जडरूप शरीर मे आत्मा का निवास कहा है और शुद्ध निश्चयनय मे सदा आत्मा अपने आत्मस्वभाव मे ही निवास करता है। जो नित्यानन्द वीतराग निर्विकल्प समाधि मे अवस्थित होकर आत्मानुभूति को उपलब्ध करता है वह सिद्धस्वरूप हो जाता है।

देहादेहहिं जो वसइ भेयाभेयनयेण।
सो अप्पामुणि जीव तुहुकिं अण्णे वहुएण ॥[1]

कबीर ने शास्त्रीय दृष्टि मे नयवाद का कही उल्लेख नही किया है। किन्तु, उनकी रहस्यानुभूति अपभ्रंश के जैन कवियो के स्याद्वाद सिद्धान्त से निम्न नही है। वे भी अपनी रहस्यानुभूति मे इसी प्रकार की चर्चाएँ करते हैं—

जह जह देखो तह तह सोई, सब घट रहल समाई।
लछि विनु सुख दलिद्र विनु दुःख है नीद विना सुखपावं[2]।
जम विनु जाति रूप विनु भामिक, रतन विहूनारोवे।
भ्रमविनु गंजन मनि विनु नीरख, रूह विना वहु रुपा"।
थिति विनु सुरति रहस विन्दु आनन्द, ऐसा चरित अनूपा"

उक्त पद्य मे कबीर ने मोह माया से रहित शुद्ध आत्मा का दर्शन किया है। जो परमब्रह्म रूप इस आत्म रहस्य को अवगत कर लेता है उसके समस्त सशय नष्ट हो जाते हैं। कबीर का कथन है कि चिदाकाश मे तथा निजानदसागर मे विचरण करनेवाला जीव माया या प्रपची गुरुओ की सगति के कारण अनात्मिक पदार्थों मे उलझ गया है और सशय की छुरी ने उसे आहत कर दिया है। जब जीव के साथ माया का सयोग हो जाता है तो यह जीव अपनी समरसता को भूल कर पर पदार्थों मे ही सुख की प्रतीति करता है।[3] कवीरका यह कथन जोइन्दु के निम्न तथ्यो से मिलता जुलता है।

१– परमात्मप्रकाश, अध्याय १, २९
२– कबीर बीजक, विचारदास, २७
३– कबीर बीजक, ३१

जेणियवो हुपिरिद्वियहं जीवहं तुहुइ णाणु ।
इंदिय जणियउ जोइया तिजिउ जडुवि वियाणु ।।[1]

विभिन्न सम्बन्धों की कल्पना—अपभ्रंश के जैन कवियों ने आत्मा को परमात्मस्वरूप कहकर विभिन्न सम्बन्धों द्वारा उसके शुद्धस्वरूप की अभिव्यंजना की है ।[2] पर वे सम्बन्ध कबीर के समान विस्तृत नही हैं । कबीर ने अपनी ज्ञानमूलक रहस्य भावना को सरसता प्रदान करने के लिए मित्र, गुरु माता तथा पति आदि अनेक प्रकार के लौकिक सम्बन्धों की कल्पना कर आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का विवेचन विश्लेषण किया है ।[3]

आत्मा परमात्मा की एकता—जैन रहस्यवाद में मूलत: वे तत्त्व हैं आत्मा और परमात्मा । यहाँ परमात्मा का अभिप्राय शुद्ध आत्मा है जगन्नियंता ईश्वर नही । यह परमात्मा कर्तृत्व आदि धर्मों से युक्त नही है । वस्तुत: आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है, केवल संसार अवस्था मे आत्मा कर्मबन्धन के कारण परमात्मा नही हो सकता है । कर्मों का नाश हो जाने पर वह एकता या समानता का अनुभव करता है । अत: जैन कवियों की परमात्मा सम्बन्धी मान्यता आत्मा कैवल्य के तुल्य है । आत्मा ही परमात्मा हो जाता है—

एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्मविसेसं जापउ जप्पा ।
जामइं जाणइ अप्पें अप्पा तामइं सोजिदेउ परमप्पा ।[4]

कबीर ने भी उक्त मान्यता को ग्रहण किया है । वे कहते हैं—

पाणी ही तें हिम भया हिम ह्वै गया बिलाइ ।
जो कुछ था सोई भया, अबकछु कथ्या न जाइ ।।[5]

सामान्यत: यहाँ वेदान्त का प्रभाव मानकर आत्मा के परमात्मा में विलीन होने का अर्थ लगाया है । किन्तु कबीर के हिम का तात्पर्य कर्मकलक से दूषित आत्मा और पानी का तात्पर्य शुद्ध आत्मा ही है । जैसे जल ही शीतत्व आदि के कारणो को प्राप्त कर हिम रूप में परिणत हो जाता है और शीतत्व के अभाव मे शुद्ध जल का रूप ग्रहण कर लेता है वैसे ही आत्मा कर्मकलंक से दूषित होने के कारण संसारी आत्मा बना हुआ है और निजानुभूति हो जाने पर रागद्वेष आदि मलीनताओ से मुक्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है । जैन मान्यतानुसार आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से है । पर कबीर के "पानी ही तें हिम भया" कथन से यह ध्वनित होता है कि वे माया के कारण शुद्ध आत्मा को विचारग्रस्त मानते हैं । क्योंकि उनपर वेदान्त का भी प्रभाव था । इतना होने पर भी शुद्ध आत्म

१— परमात्मप्रकाश, अध्याय १, ५३
२— हउं सगुणी पिउ णिग्गुणिउ, णीलक्खणु णीसंगु ।
एकहिं अंगि वसंतयहुं, मिलिउण अंगहिं अंगु ।।
३— क० ग्र०, पृष्ठ ११, सा० १२, पद २५६, १११, ११७
४— परमात्मप्रकाश, द्वि० अ० १७४
५— क० ग्र० परचा को अग, १७

तत्त्व के विवेचन में कबीर का कथन जैनों से भी मिलता जुलता है और जहाँ तहाँ उनका कथन अनेकान्तवाद से भी समर्थित है।

बीजवृक्ष न्याय से संसार की उत्पत्ति—अपभ्रंश के जैन कवियों ने "ज वड़मज्झंहं बीउफुडु"[1] आदि के द्वारा बीजवृक्षयाय से संसार की स्थिति को स्वीकार किया है। कबीर भी नैसर्गिक कारणों से सृष्टि का विकास मानते हैं। वे कहते हैं—

जो पे बीजरूप भगवाना, तो पंडित का पूछहु आना।
कहं मन कहं बुधि कहं हंकार, सत रज तम गुन तीनि प्रकार।[2]

उक्तपद्य मे कबीर ने बीजरूप भगवान् का कथन किया है। यह बीजरूप भगवान् अपभ्रंश के कवियों का कर्मकलंकमिश्रित अभूतार्थ चैतन्य आत्मा है, जो शक्त्यपेक्षया भगवान् या परमात्मा है। कर्मकलंक के कारण वह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से कर्मों का आश्रव करता है। आश्रव से बन्ध, बन्ध से गति, गति से शरीर, शरीर से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषयग्रहण और उससे रागद्वेष मोह तथा रागद्वेष मोह से पुनः अशुद्धभाव, अशुद्ध भाव से वन्ध यह अनादिनिधन प्रक्रिया चलती रहती है।[3] इस अनादि निधन संसार निरूपण मे कबीर का आत्मतत्त्व अपभ्रंश के जैन कवियों के आत्मतत्त्व के समकक्ष है।

रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता—अपभ्रंश के जैन कवियो के समान ही कबीर ने भी इस रहस्यानुभूति को अनिर्वचनीय माना है। अपभ्रंश के जैन कवि मुनि रामसिंह इस रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता का विवेचन करते हुए कहते है—

जं लिहिउ ण पुच्छिउ कहव जाइ।
कहियउ कासु ण विणउ चित्तिठाई ॥[4]

कबीर ने भी इस रहस्यानुभूति को अनिर्वचनीय कहा है। उन्होंने जिस रूप में उस परमात्मा की अनुभूति की है, उस रूप में वे उसका वर्णन नही कर सकते और यदि करे तो भी कोई विश्वास नहीं करेगा।[5] अतः वे कहते हैं—

दीठा है तो कस कहूं कह्या न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहो, तू हरषि हरषि गुन गाइ ॥[5]

कबीर द्वारा विवेचित रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता अपभ्रंश के जैन

१- योगसार, ७४
२- कबीर बीजक ६७
३- जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गतिसुगदी ॥
गदि मधिगदस्स देहो, देहादो इन्दियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्ते रागो व दोसो वा ॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधनोसणिधनोवा ॥
—पचास्तिकाय, कुन्दकुन्द, १२८, १२९, १३०
४- रामसिंह, पाहुडदोहा, १६६
५- क० ग्र०, जर्णा को अंग २

कवियों की रहस्यानुभूति से बहुत समानता रखती है।

अलौकिक आनन्द की प्राप्ति—आत्मानुभूति से प्राप्त अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति भी कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियो के समान ही की है। अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु तथा रामसिंह के विचार से आत्मानुभूति के समान सुख अन्यत्र कही नही है।[1] आनन्दा मुनि के अनुसार जो साधक ध्यान रूपी सरोवर में प्रविष्ट होता है, उसे अमृत जल की प्राप्ति होती है, जिसका पान कर वह कृतकृत्य हो जाता है।[2] कबीर का निम्न कथन अपभ्रंश के जैन कवियों के अत्यन्त निकट है—

सचु पाया सुख अपनां, अरु दिल दरिया पूरि।
सकल पाप सहजै गए, जब साईं मिल्या हजूरि ॥[3]

तथा

अमृत बरसै हीरा निपजै, घन्टा पडै टकसाल।
कबीर जुलहा भया पारखू, अनभै उतर्या पार।[4]

निष्कर्ष—सक्षेप में अपभ्रंश के जैन कवियों के समान ही कबीर की रहस्यानुभूति में निम्न तथ्य पाए जाते हैं—

१. आत्मा परमात्मा का एकीकरण
२. स्याद्वादनय से युक्त आत्मदर्शन
३. ज्ञानमूलक आस्था
४. आत्मा परमात्मा की समरसता
५. शुद्ध आत्मा के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध की स्थापना
६. आत्मानुभूति की अनिर्वचनीयता
७. आत्मानुभूति अलौकिक सुख की प्राप्ति

१– तिहुअणि जीवहं अत्थि णवि सोक्खहं कारणु कोइ।
मुक्खु मुएविण एकु पर तेणवि चितहिं सोइ ॥
–परमात्मप्रकाश, अध्याय २, ६
तथा
जं मुणि लहइ अणंतु सुहु, णिय अप्पा झायन्तु।
तं सुहु इन्दु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमन्तु।
–परमात्मप्रकाश, ११७ तथा पाहुड़दोहा ३

२– झाण सरोवरु अमिय जलु मुणिवरु करइ सण्हाणु।
अट्ठकम्ममल धोवहिं आणन्दा रे, णियड़ा पाहुणिव्वाणु ॥
–आनन्दा, ५

३– क० ग्र०, पृष्ठ १२, २६

४– क० ग्र०, परखा कौ अंग, ४७

सप्तम अध्याय

७. अपभ्रंश के जैन कवियों की अभिव्यंजना प्रणाली और कबीर

१. प्रास्ताविकम्
२. अपभ्रंश के जैन कवियों के पारिभाषिक शब्द और कबीर
३. अपभ्रंश के जैन कवियों के प्रतीक और कबीर
४. अपभ्रंश के जैन कवियों के अलंकार और कबीर
५. अपभ्रंश के जैन कवियों के वाक्यप्रयोग और कबीर

७. अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों की अभिव्यंजनाप्रणाली और कबीर

१. प्रास्ताविकम्

भाषा ही भावों की अभिव्यक्ति का प्रधान साधन है और अभिव्यक्ति की स्पष्टता ही भाषा का सर्वप्रमुख गुण है। साधारणतः जहाँ हमारी अनुभूतियाँ स्पष्ट है और उनका बोध करने के लिए निश्चित अर्थबोधक शब्दों एव वाक्यो की प्रचलित गठनप्रणालियो से काम चल जाता है, वहाँ उक्तिवक्रता को काव्यविलास माना जाता है। जनता के समक्ष अपने सिद्धान्तो का प्रचार करनेवाले इस प्रकार की उक्तिवक्रता से यथासम्भव बचने का प्रयत्न करते है। किन्तु आध्यात्मिक साधको के समक्ष अभिव्यक्ति की अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। उनकी साधना का लक्ष्य अमूर्त होने के कारण प्रथम तो उनकी अनुभूति ही अस्पष्ट होती है और यदि अनुभूति मे कुछ स्पष्टता भी रही तो उसे अभिव्यक्त करने के लिए जनसाधारण की भाषा मे उपयुक्त शब्द और वाक्यगठन का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त उन्हे अपनी अनुभूतियो को जिन लोगो के समक्ष प्रकट करना पड़ता है, उनकी बोधशक्ति भी अपने दैनिक कार्यक्रम से सम्बन्धित शब्दो और वाक्य गठनों तक ही सीमित रहती है। उन्हे उन ज्ञात शब्दो एव परिस्थितियो के माध्यम से ही अध्यात्म की जटिल अनुभूतियों का बोध कराने के लिए इन आध्यात्मिक साधको को बाध्य होना पड़ता है। कबीर उस परम्परा के सन्त थे जो मुख्यतः अशिक्षित जनता के बीच अपने ज्ञान को वितरित करने मे संलग्न रहते थे। उन्हे अपने श्रोताओं की ज्ञात शब्दावली और दैनिक जीवन मे प्रचलित वाक्यो अथवा मुहावरों के माध्यम से ही अध्यात्म की जटिल अनुभूतियों को व्यक्त करना पड़ता था।

भारतीय साहित्य मे वैदिक काल से ही अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए ऐसी कथनप्रणाली का गठन हुआ है, जिसमे अनेक शब्द अपने अभिधात्मक अर्थ को छोड़कर एक अव्यक्त आध्यात्मिक भाव के प्रतीक बन गये और दैनिक जीवन में प्रचलित साधारण वाक्यों के द्वारा आत्मा और परमात्मा से सम्ब-

न्धित गूढ रहस्यों को जनसाधारण के हृदयों तक पहुँचाया जा सका। उपनिषदों में इस परम्परा ने भाषा की शक्ति को बढ़ाने में पर्याप्त योगदान किया है। इसी परम्परा को अपभ्रंश के जैन मुनियो ने भी प्रश्रय दिया। इस परम्परा की अभिव्यक्ति में कुछ अंशों तक पूर्ववर्ती शब्दावली और कथनप्रणाली को मान्यता मिल जाया करती थी। क्योंकि पहले से ही विशेष अर्थों में इनका प्रयोग प्रचिलित होने के कारण प्रचार मे अधिक कठिनाई नहीं पड़ती। परन्तु, प्रत्येक साधक को अपनी विशिष्ट विचारधारा को व्यक्त करने के लिए कुछ नये रूपों की भी खोज करनी पडती थी। कबीर ने भी जैन कवियों के द्वारा प्रयुक्त उन रूपों को ग्रहण किया, जिनसे उन्हें अपने विचारों को व्यक्त करने में सहायता मिली। अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा प्रयुक्त कुछ रूपों को उन्होंने साधारण अन्तर के द्वारा अपने विचारो का वाहक बनाया, कुछ को ज्यो का त्यो ग्रहण किया और कुछ नये रूपो की भी उद्भावना की।

कबीर ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा गृहीत निरंजन, निर्वाण, सहज, अमृत, उन्मनि, परमपद, परमगति, आवागमन, जन्म-मरण, पुण्य-पाप, राग-द्वेष आदि अनेक शब्दो तथा करहा, बैल, हाथी आदि अनेक प्रतीकों को ही नही अपनाया है अपितु "आवै न जाइ मरै न जीवै" "काया मांजमि कौन गुना", "पोथी पढि पढ़ि जगमुआ" आदि अनेक वाक्यो को भी ग्रहण किया है। अत: अपभ्रंश के जैन कवियों के आध्यात्मिक विचारों, अनुभूतियो तथा साधनामार्ग के साथ-साथ उनकी अभिव्यंजना प्रणाली को भी उन्होने अपनाया है। प्रस्तुत अध्याय में अपभ्रंश के जैन कवियों तथा कबीर की अभिव्यजना प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

अपभ्रंश के जैन कवियो की अभिव्यजना प्रणाली से कबीर की अभिव्यंजना प्रणाली मे निम्न दिशाओ में साम्य स्थापित किया जा सकता है—

१—पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग
२—प्रतीकों का प्रयोग
३—अलकारों का प्रयोग
४—वाक्य—गठन

२. अपभ्रंश के जैन कवियों के पारिभाषिक शब्द और कबीर

ऊपर कहा जा चुका है कि अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों को कबीर ने ग्रहण किया था। कबीर की अभिव्यंजना प्रणाली और अपभ्रंश के जैन कवियों की अभिव्यंजना प्रणाली की तुलना के लिए दोनों के द्वारा प्रयुक्त कतिपय पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन नितान्त अनिवार्य है। अत: यहाँ दोनों के द्वारा प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्दों का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

निरंजन—"अञ्ज्" धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर अञ्जन शब्द बना है,

जिसका अर्थ है कज्जल या कालिमा। निरञ्जन शब्द की व्युत्पत्ति है "निर्नास्ति अञ्जनं यत्र सः निरञ्जनः" अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का अंजन नहीं है, वह निरजन है। किन्तु इसका प्रयोग परब्रह्म, यम, बुद्ध, परमपद, मन, कालपुरुष, शैतान, दोषी, पाषण्डी और महाठग आदि अनेक अर्थों में हुआ है।[1] वस्तुतः निरंजन शब्द श्रमण संस्कृति का है, जिसके उपासक जैन और बौद्ध हैं। श्रमण संस्कृति के प्रभाव से वैदिक सस्कृति ने भी इस शब्द को अपनाया। यही कारण है कि मुण्डकोपनिषद्[2], भगवद्गीता[3], हठयोगप्रदीपिका[4] तथा पाशुपतदर्शन[5] मे भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन दर्शन में "निरंजन" शब्द का प्रयोग कर्ममुक्त मुक्तात्मा के लिए अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता रहा है। जैन दर्शन के आदि ग्रन्थ षट्खडागम की धवला टीका में वीरसैन स्वामी ने लिखा है—

'सयलकम्मवज्जियओअणतणाणदंसणवीरियचरणसुहसम्मत्तादि
गुणगणा इण्णो णिरामओ णिरजनो णिच्चो कियकिच्चो मुत्तो नाम'[6]

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने समयसार में शुद्ध आत्मा को निरंजन कहा है।[7]

आचार्य नेमिचन्द्र ने भी अष्टकर्मों से रहित सिद्धात्मा को निरजन कहा है—

अट्ठविह कम्मवियला सीदिभूदा णिरजणा णिच्चा।
अट्ठगुणाकिदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥[8]

वस्तुतः निरंजन वह है, जो सब प्रकार के अजन अर्थात् मल से रहित है। अंजन कर्मरूपी मल है, जो आत्मा के साथ अनादिकाल से लगा हुआ है। मुक्तात्मा सब प्रकार के कर्मों द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है, अतः वही निरंजन है। जैन आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि मे निरवशेष निराकृतकर्म मल कलंक स्याशरीरस्यात्मानोऽचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणम व्यावाध सुखमात्यन्तिकमवस्थान्तर मोक्ष.[9] के द्वारा कर्म, नोकर्म तथा भाव कर्म के आत्मा से अलग हो जाने पर आत्मा की अपने ज्ञानादि गुणरूप स्वाभाविक अवस्था को मोक्ष कहा है। जैन साहित्य मे सर्वत्र इसी मुक्तात्मा के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

अपभ्रंश के जैन कवियों ने भी मुक्तात्मा को ही निरजन कहा है।[10] जोइन्दु

१– अपभ्रंश और हिन्दी मे जैन रहस्यवाद, डा० वासुदेव सिंह, पृष्ठ २५५
२– मुण्डकोपनिषद् ३/३
३– श्रीमद्भागवत १/५/१२
४– हठयोगप्रदीपिका ४/१०५ तथा ४/४
५– कबीर की विचारधारा, गोविन्द त्रिगुणायत, पृष्ठ ३६७
६– षट्खंडागम, पुस्तक १६, पृष्ठ ३३८ पर धवला टीका वीरसैन स्वामी
७– एएसु य उवयोगो तिविहो सुद्धो णिरजणो भावो।
—समयसार, कर्तृकर्माधिकार, गाथा ९०
८– गोम्मटसार, जीवकांड, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, गाथा ६८
९– सर्वार्थ सिद्धि, पूज्यपाद, प्रथम अध्याय, प्रथम सूत्र की वृत्ति
१०– जे जाया झाणग्गियए कम्मकलकडहेवि।
णिच्च णिरंजण णाणमय ते परमप्पणवेवि॥ —परमात्मप्रकाश, अध्याय १, १

मुनि के अनुसार आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा। प्रत्येक आत्मा अष्टकर्म मल से रहित होने पर परमात्मा बन सकता है। जोइन्दु मुनि के अनुसार यह परमात्मा त्रिभुवन मे वन्दित है और हरिहर भी उसकी उपासना करते हैं।[1] वह नित्य है, निरजन है, ज्ञानमय है, परमानन्द स्वभाव है और वही शिव है। वह रागादि सभी उपाधियो और कर्ममलरूप अजन से रहित होने के कारण निरंजन है।[2] इस निरंजन की व्याख्या करते हुए जोइन्दु मुनि कहते हैं—जिसके न कोई वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न शब्द या स्पर्श तथा जो जन्म-मरण के चक्र से परे है, उसी का नाम निरञ्जन है।[3] जिसमे न क्रोध है, न मोह, न मद है न मान, जिसका न कोई स्थान है न ध्यान, वही निरजन है।[4] जो न पुण्यमय है न पापमय, जो न हर्ष करता है, न विषाद तथा जिसमे एक भी दोष नही है, उसी का नाम निरंजन है।[5] मुनि रामसिह ने भी इसी वर्णविहीन, परमज्ञानमय शिवरूप निरंजन से अनुराग करने का निर्देश किया है।[6] परमात्मप्रकाश के टीकाकार ब्रह्मदेव ने 'निरजन' शब्द का विश्लेषण करते हुए लिखा है *'भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मांजन-निषेधार्थ मुक्तजीवाना निरजन विशेषण कृतम्'*[7] अतः स्पष्ट है कि अपभ्रंश के जैन कवियों ने मुक्तात्मा परमात्मा के पर्यायवाची के रूप मे 'निरजन' शब्द का प्रयोग किया है।

आठवी शताब्दी के बाद नाथ सम्प्रदाय के समान एक निरजन सम्प्रदाय भी चला था, जिसमे निरजन को सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों मे निरंजन की स्तुति अनादि और अनन्त तत्त्व के रूप मे की गई

१— तिहुअण वन्दिउ सिद्धिगउ हरिहर झायहि जोजि।
लक्खु अलक्खे धरिवि थिरु, मुणि परमप्पउ सोजि॥
—परमात्मप्रकाश, अध्याय १, १६

२— णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणन्द सहाउ।
जो एहउ सो सन्तु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ॥
—वही, १, १७

३— जासुण वण्णु ण गंधु रसु जासुण सद्दु ण फासु।
जासुण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरञ्जणु तासु।
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, अध्याय १, १९

४— जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सोजि णिरञ्जणु जाणु॥
—वही, अध्याय १, २०

५— अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु, अत्थिण हरिसु विसाउ
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु, सो जि णिरञ्जणु भाउ
—वही, अध्याय १, २१

६— वण्णविहीणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ।
सन्तु णिरञ्जणु सो जिसिउ तहिंकिज्जइ अणुराउ॥
—रामसिह, पाहुडदोहा, ३८

७— परमात्मप्रकाश, दोहा १ की टीका

है। उसे निराकार, निर्विकार, निर्गुण, अज और अरूप तत्त्व माना गया है।[1] इस सम्प्रदाय में निरजन को जगत् की समस्त उपाधियों से परे बताया गया है तथा अन्य सभी देवताओं को इससे नीची कोटि मे रखा गया है।

सिद्धों नाथो और योगियों के समय मे यह निरंजन सम्प्रदाय बढ़ रहा था। अत: वे भी इस शब्द से पूर्णत: परिचित थे। सिद्ध सरहपाद ने परमपद को शून्य तथा 'निरजन' कहा है[2], तिलोपा ने आत्मा को बुद्ध और निरजन कहा है।[3] गोरखनाथ ने 'निरजन' शब्द का प्रयोग अपने परमतत्त्व के लिए किया है, जो उदय-अस्त, रात्रि-दिवस, शाखा-मूल, सूक्ष्म-स्थूल आदि सबसे रहित है, सर्वव्यापी है।[4] भरथरी ने तत्त्वज्ञान से परिचित व्यक्ति को निरजन पद का अधिकारी माना है।[5]

किन्तु, आगे चलकर इस निरंजन के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की किवदन्तियाँ गढ़ी गयी। किसी कथा में उसे कालपुरुष बताया गया, तो किसी मे पाखडी और महाठग। किसी ने उसे साधक को भ्रष्ट करने वाला बाधक तत्त्व बताया तो किसी ने विश्व को भ्रम मे डालने वाला।[6] परवर्ती अनेक सन्तो ने निरंजन को परमपुरुष से भिन्न और धोखेबाज कहा है। शिवनारायण के मत से निरजन ने ही सभी जीवों को मोह मे बाँध रखा है। तुलसी के अनुसार भी निरजन सारे जगत् के आध्यात्मिक महत्त्व को लूट लेता है।[7]

किन्तु निरजन के सम्बन्ध मे उक्त किवदन्तियाँ तथा मान्यताएँ केवल अपने-अपने मतो, सम्प्रदायो और देवताओं की श्रेष्ठता तथा दूसरे मतो, सम्प्रदायों और देवताओं की हीनता सिद्ध करने के लिए ही गढी गयी प्रतीत होती है।

कबीर ने जैन परम्परा के अनुसार ही अपने ब्रह्म के लिए निरजन शब्द का प्रयोग किया है। उनका निरंजन भी रूप, रेखा, मुद्रा आदि से रहित है। वह न

१- मध्यकालीन धर्मसाधना, पृष्ठ ७६

२- सुण्ण णिरञ्जण परमपउ सुइणोमाअ सहाव।
भावहुचित्त सहावता, जउ णासिज्जइ जाव॥
—दोहाकोश, राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

३- हउं जग, हउ बुद्ध, हउ णिरञ्जण।
—हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १७४

४- उदय न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन्न।
सोई निरञ्जन डाल न मूल, सर्बव्यापिक सुषमन अस्थूल॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १५८

५- सपत संख का जाणं भेद।
सोई होइ निरञ्जन देव॥
—नाथ सिद्धों की बनिया, पृ० ६७

६- कबीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी,
—पृष्ठ ५४ से ५६ तक

७- हिन्दी मे निर्गुण सम्प्रदाय —डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृष्ठ १६२-१६३

समुद्र है न शिखर, न धरती है न गगन, न सूर्य है न चन्द्र ।[1] उन्होंने सर्वत्र उसी निरंजन की पूजा करने का आदेश दिया है ।[2] निरंजन को राम का ही एक अन्य नाम बतलाते हुए कबीर ने कहा है कि जो कुछ हमें इस दृश्यमान जगत् में दीखता है, वह सभी अंजन है और निरंजन इससे न्यारा है ।[3] उन्होंने निरंजन को ही एकमात्र सार-तत्त्व माना है और उसी को जानकर विचार करने का परामर्श दिया है ।[4]

स्पष्ट है कि कबीर का निरंजन भी जैन मुनियों के समान ही समस्त विकारों से रहित शुद्ध आत्मतत्त्व ही है । अतः कबीर के निरंजन और अपभ्रंश के जैन कवियों के निरञ्जन में पूर्ण साम्य है । यद्यपि यह शब्द सिद्धों, नाथों और अन्य सम्प्रदायों में भी प्रचलित था और कबीर ने सभी से यत्किंचित् प्रभाव ग्रहण किया है ।

सहज—'सहजायते इति सहजः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सहज का अर्थ जन्म के साथ-साथ उत्पन्न होने वाला या नैसर्गिक है । इस शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन-काल से स्वाभाविक या नैसर्गिक के अर्थ में होता रहा है । डा० धर्मवीर भारती के अनुसार सहज का प्रयोग स्वाभाविक वृत्ति के रूप मे ४०० ई० से पूर्व ही होने लगा था और बौदय तथा शैव दोनो ही पद्धतियो ने इस शब्द को किसी तीसरी परम्परा से ग्रहण किया था ।[5] डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने इस शब्द को इससे भी प्राचीन सिद्ध किया है । उनका विश्वास है कि वेदों में वर्णित निवारतीय और निव्युत्तीय सहजवादी ही थे । अथर्ववेद मे वर्णित व्रात्य भी सहज धर्म के अनुयायी थे । ये सहजवादी अधिकतर पुरुषवादी होते थे और मनुष्य को ही सबसे अधिक महत्त्व देते थे ।[6]

मध्यकाल मे 'सहज' शब्द का पर्याप्त प्रचार हुआ । बौद्ध धर्म मे इसी आधार पर 'सहजयान' नामक सम्प्रदाय का विकास हुआ । तत्पश्चात् नाथो, सिद्धों, जैन मुनियों तथा हिन्दी के संत कवियों ने भी इस शब्द को अपनाया ।

सहजयानी सिद्धों ने इसका प्रयोग सहजसमाधि, सहजज्ञान, सहज स्वभाव, सहजमार्ग, परमतत्त्व, परमपद तथा महासुख आदि के लिए किया है ।[7] नाथसिद्धो

१- गोव्यंदे तू निरंजन तू निरजन राया ।
तेरे रूप नाहीं रेख नाही, मुद्रा नाहीं माया ।
समद नाही स्थिर नाही धरती नाही गगना ॥
-क० ग्र०, पृष्ठ १३६, पद २१६

२- क० ग्र०, पद ३३, ३७, १४२, २१६, ३२७, ३२८, ३४५

३- राम निरंजन न्यारा रे, अजन सकल पसारा रे ।
—क० ग्र०, पृष्ठ १७२, पद ३३६

४- अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु विचार
—क० ग्र०, पद ३३७

५- सिद्ध साहित्य, डा० धर्मवीर भारती, पृष्ठ ३६८

६- कबीर की विचारधारा, गोविन्द त्रिगुणायत, पृष्ठ ४०७

७- अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृष्ठ २८२

ने भी सहज शब्द का प्रयोग किया है, उन्होंने इस सहज के साथ शून्य को भी जोड़ दिया है और अपने सहजशून्य को शून्य की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है। कहा है कि इस सहज शून्य में समाकर चित्त स्थिर हो जाता है।[1] डा० धर्मवीर भारती ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि नाथसिद्धों ने सहज का प्रयोग परमतत्त्व, परमज्ञान, योगपद्धति, परमपद, परमसुख तथा जीवन पद्धति के सहज रूप के लिए किया है।[2]

अपभ्रंश के जैन कवियों ने भी इस शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में किया है। जोइन्दु कवि ने सहज स्वरूप में रमण करने पर शिवप्राप्ति का उल्लेख किया है।[3] मुनि रामसिंह ने उस सहजावस्था का उल्लेख किया है, जहाँ पहुँच कर मन की समस्त वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं।[4] मुनि आनन्द तिलक ने सहज समाधि का कथन किया है। उन्होंने बाह्याचार का विरोध करते हुए कहा है कि जाप जपने और तप तपने से कर्मों का विनाश नहीं होता। आत्मज्ञान से ही सिद्धि सभव है और वह आत्मज्ञान तथा सिद्धि सहज समाधि से ही प्राप्त हो सकती है।[5]

कबीर ने भी इस 'सहज' शब्द का प्रयोग अनेकों बार किया है। उन्होंने 'सहज' शब्द का प्रयोग परमात्मा, साधक, सुख, समाधि, ध्वनि आदि अनेको अर्थों मे किया है। वे सहज तत्त्व को समझकर ही राम का भजन करते हैं।[6] सहजध्वनि के रूप में वे इसे अनहदनाद का समानार्थक समझते हैं।[7] सहज रूप को वे परमात्म तत्त्व का रूप मानते हैं।[8] सहज समाधि का प्रयोग उन्होंने न केवल साधना[9] के रूप

१— सहज सुनि तन मन थिर रहै, ऐसा विचार मछिन्द्र कहै।
—गोरखबानी, पृष्ठ १९५

२— सिद्ध साहित्य, पृ० ३६६

३— सहजसरुवइ जइ रमहि, तोपावहि सिव सन्तु।
—योगसार, जोइन्दु, ८७

४— सहजअवत्थहिं करहुलउ जोइय जंतउ वारि।
अखइ णिरामइ पेसियउ, सइ होसइ संहारि॥
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, १७०

५— जापु जपइ बहु तव तवइ तो विण कम्म हणेई।
एक्क समउ अप्पा मुणइ आणन्दा चउग इपाणिउ देर।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अणहुंकरि परिहारु।
सहजसमाधिहि जाणियई, आणन्दा जे जिणमासणि मारु॥
—आणन्दा, २१, २२

६— सहज जानि रामहि भजै कबीरा
—क० ग्र०, पद ११५

७— मूंदे मदन सहज धुनि उपजी सुखमन पीतन हारी॥
—क० ग्र०, पद १५५

८— नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया।
—क० ग्र०, पद ६

९— तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे।
—क० ग्र०, पद १५०

में किया है अपितु उसके द्वारा सुखपूर्वक रहने[1] तथा परमपद मे रम कर सो जाने[2] का भी उल्लेख किया है। जिसने पाँचों इन्द्रियो को वश में कर लिया है, ऐसे साधक के लिए भी उन्होंने 'सहज' शब्द का प्रयोग किया है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने 'सहज' शब्द का प्रयोग स्वाभाविक के अर्थ में यत्र-तत्र किया है और इस शब्द के प्रयोग मे उन्होंने जैनों के साथ-साथ नाथों तथा सिद्धों से भी प्रभाव ग्रहण किया है। किन्तु, सहज रूप तथा सहज समाधि के रूप में इस शब्द का प्रयोग करते समय उनपर अपभ्रंश के जैन कवियो का विशेष प्रभाव रहा है। क्योंकि आत्मा के स्वाभाविक शुद्ध रूप तथा ध्यान, ध्याता, ध्येय आदि समस्त विकल्पों से रहित सहज समाधि के जिस रूप का उन्होंने उल्लेख किया है, वह जैन कवियो से अधिक प्रभावित है।

निर्वाण—व्युत्पत्ति की दृष्टि से निः उपसर्ग पूर्वक 'वा' धातु से निष्ठा अर्थ मे क्त प्रत्यय होकर निर्वाण शब्द बना है, जिसका अर्थ अस्त होना या बुझना है। साहित्य में प्रयुक्त प्रायः सभी शब्दों का अपना इतिहास है। 'निर्वाण' शब्द का भी अपना इतिहास है। प्रो० विमलादास कौन्देय ने अपने 'निर्वाण' शीर्षक निबन्ध मे लिखा है कि निर्वाण शब्द बौद्ध साहित्य में अधिक पाया जाता है और यह बौद्ध दार्शनिकों की देन है। बौद्ध त्रिपिटक मे लिखा है—'शान्त निब्बान' जिसका अर्थ है कि निर्वाण शान्त होता है, निर्वाण की प्राप्ति होने पर आत्मा शान्त हो जाती है। इसी तथ्य का उद्‌घाटन करते हुए अश्वघोष ने सौन्दरानन्द मे लिखा है—

> दीपो यथा निवृतिमभ्युपैति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
> दिश न काचित् विदिश न काचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्
> जीवस्तथा निवृति मभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
> दिशं न काचित् विदिश न काचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।

अर्थात् जिस प्रकार दीपक नष्ट होने के समय न तो पृथ्वी की ओर जाता है न आकाश की ओर, न विदिशा की ओर जाता है और न दिशा की ओर जाता है, केवल तैल के क्षय होने से शान्त हो जाता है उसी प्रकार यह संसारी जीव भी जब निर्वाण को प्राप्त होता है, तब न तो पृथ्वी की ओर जाता है, न आकाश की ओर जाता है, वह केवल क्लेश के क्षय होने से शान्त हो जाता है। अश्वघोष की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि वे निर्वाण को एक बुझने की सी प्रक्रिया मानते हैं और केवल आत्मा की शान्ति का ही उल्लेख करते है, निर्वाण के बाद आत्मा की क्या अवस्था

१- कहै कबीर सुख सहज समाऊ आपन डरौ न और डराऊ।
-क० ग्र०, पद १५

२- तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे।
-क० ग्र०, पद ४

३- पांचूं राखै पर सती, सहज कही जै सोइ॥
-क० ग्र०, पृष्ठ २६, साखी २

होनी है, उसका उल्लेख वे नही करते ।[1] उनके निर्वाण मे आत्मा के नित्यत्त्व और अजरामरत्त्व की प्रतीति भी नही होती ।

जैन साहित्य मे प्रयुक्त 'निर्वाण' शब्द के इतिहास पर विचार करने पर जैन दर्शन के आदि ग्रन्थ षट्षडागम मे भी इस शब्द का उल्लेख मिलता है ।[2] इसके उपरान्त अकिलकदेव ने तत्त्वार्थ सूत्र की वृत्ति मे लिखा है "पूर्वोपात्तभवनियोगात् हेत्वभावाच्चोत्तरस्याप्रादुर्भावात् सान्त: समार दु:खमतीत्य आत्यान्ति कमैकान्तिकं निरूपम निरतिशय निर्वाण सुखमवाप्नोतीति तत्त्वार्थभावना फलमेतत्" ।[3] आचार्य कुन्दकुन्द अपने समयसार मे लिखते है—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मिट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।[4]

अर्थात् जो निश्चय से परमार्थ है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है और ज्ञानी है वही निर्वाण को प्राप्त करता है । आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार शुद्ध आत्मा ही निर्वाण को प्राप्त करता है ।

प्रो० विमलदास के अनुसार जैन आचार्यो ने निर्वाण के निम्न अर्थ ग्रहण किये है[5]—

१—आत्म स्वरूप की प्राप्ति—इसी अर्थ मे 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो के आचार्यो ने किया है ।

२—कर्मकृत विकारो का नष्ट होना—कर्मो का क्षय होना ही मुक्ति है और यही निर्वाण है ।

३—जन्म, जरा और मरण आदि के दु:खो से निवृत्ति होना—निर्वाण की प्राप्ति होने पर जन्म, जरा, मरण के दु:ख समाप्त हो जाते है । क्योकि मुक्तात्मा के ससार की प्रक्रिया नही होती ।

४—निर्वाण का अर्थ सब प्रकार के दु:खो से निवृत्ति होकर आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति भी है । इसी को नि:श्रेयस् की प्राप्ति भी कहते हैं ।

५—कही-कही 'निर्वाण' शब्द का अर्थ अष्ट कर्म के नाश से उत्पन्न कैवल्य आदि गुणो की प्राप्ति भी किया गया है । इसकी प्राप्ति सिद्धत्व के प्राप्त होने पर ही होती है ।

इस प्रकार जैनाचार्यो ने 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग मोक्ष के लिए किया है, जो सब कर्मो के नष्ट हो जाने पर प्राप्त आत्मा की शुद्ध अवस्था का द्योतक है । वे बौद्धो के समान आत्मा की शान्ति को निर्वाण नही मानते ।

१— जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण २, पृ० १०४
२— षट्षडागम, पृ० २६६
३— तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अकलंकदेव दशम अध्याय, –सूत्र ६ की व्याख्या
४— समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा १५१
५— जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १६, किरण २, पृ० १०५, १०६ से उद्धृत

परम्परानुसार अपभ्रंश के जैन कवियों ने भी परमपद (मोक्ष) को ही निर्वाण की संज्ञा दी है। जोइन्दु मुनि कहते हैं—

अप्पा गुणमउ णिम्मलउ अणुदिनु जे झायंति ।
तें परिणियमे परममुणि लहु णिव्वाणि लहंति ।।[1]

अर्थात् जो परममुनि प्रतिदिन निर्मल आत्मा का ध्यान करते हैं वे निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। मुनि रामसिंह ने भी 'निर्वाण' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। वे कहते हैं—

जोइय मिण्णउ झाय तुहुं देहहं ते अप्पाणु ।
जइ देहु वि अप्पउ मुणहि, णवि पावहि णिव्वाणु ।।[2]

उक्त दोहे मे वे आत्मसाधक योगी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे योगी ! तू आत्मा को शरीर से भिन्न समझ। यदि देह को ही आत्मा समझेगा तो निर्वाण को नही प्राप्त कर सकेगा।

आचार्य कुन्दकुन्द के समान ही मुनि जोइन्दु तथा रामसिंह ने भी शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि को ही निर्वाण कहा है, जो अष्ट कर्मों के क्षय हो जाने पर ही होती है।

मध्यकालीन धर्म साधकों में बौद्ध सिद्ध सरह ने भी 'निर्वाण' शब्द का अनेकों बार प्रयोग किया है।[3]

कबीर भी जैन कवियों के समान ही आत्मपद की प्राप्ति को ही निर्वाण मानते हैं और इसी अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग करते है।[4] बौद्धों के समान आत्म-शान्ति को वे निर्वाण नही मानते।

शून्य का प्रभाव—भारतवर्ष में 'शून्य' शब्द अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रयुक्त होता आया है। किन्तु, भिन्न-भिन्न युगो और दर्शनों मे इसकी धारणा अलग-अलग रही है। वैदिक दर्शनों मे इसका प्रयोग सरल सत्ता के अर्थ मे हुआ है।[5] बौद्धों ने भी तत्त्व की अनिर्वचनीयता सिद्ध करने के लिए उसे शून्य रूप माना है।[6] आगे चलकर यही 'शून्य' शब्द अभाव रूप, क्षणिकरूप, द्वैताद्वैतविलक्षणतत्त्व, केवलावस्था आदि अनेकों अर्थों में प्रयुक्त किया जाने लगा। हठयोग प्रदीपिका मे एक स्थल पर यह ब्रह्मरध्र का वाचक है[7], दूसरे स्थल पर उसका अर्थ देशकाल परिच्छिन्न ब्रह्म से

१– परमात्मप्रकाश, अध्याय २, ३३
२– पाहुड़दोहा, १२६
३– दोहाकोश, सरह, पृ० ७७, दोहा १०२, पृ० ७८, दोहा १०३
४– आपा पद निर्वाण न चीन्ह्या, इन बिधि अभिउ न चूके।
क० ग्र०, पद ६३
५– भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० २१६
६– वही, पृ० २१६
७– हठयोगप्रदीपिका ४/१०

लिया गया है[1], तीसरे स्थान पर वह सुषुम्ना नाड़ी के अर्थ का द्योतक है[2] तो अन्यत्र वह अनाहतचक्र के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।[3] नाथपंथियों में 'शून्य' शब्द का और अधिक विकास हुआ । गोरखनाथ ने इसका प्रयोग द्वैताद्वैतविलक्षणतत्त्व और ब्रह्मरन्ध्र के अतिरिक्त समाधि की व्यवस्था के अर्थ में भी किया है ।[4]

अपभ्रंश के जैन कवियो ने 'शून्य' शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए किया है । मुनि रामसिंह का कथन है कि शून्य शून्य नही है, त्रिभुवन मे शून्य शून्य दिखाई देता है । शून्य स्वभाव को प्राप्त आत्मा पुण्य तथा पाप दोनो का अपहार कर देता है ।[5] जोइन्दु मुनि ने भी शुद्ध आत्मा (परमात्मा) को ही शून्य कहा है ।[6] उनका कथन है कि परमात्मा के न तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म है और न क्षुधा, तृषा आदि १८ दोष हैं, अत: वह शून्य आठों कर्मों तथा दोषों से रहित होने के कारण शून्य है ।[7]

इस प्रकार कबीर को 'शून्य' शब्द परम्परा के रूप मे प्राप्त हुआ था, जिसका उन्होंने अनेक अर्थों में प्रयोग किया है । क्योंकि, उनपर प्राय: सभी भारतीय धर्मसाधनाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है । कबीर द्वारा प्रयुक्त 'शून्य' शब्द कही सुषुम्ना[8] का वाचक है, कही ब्रह्मरन्ध्र का द्योतक[9] है तो कही केवलावस्था का परिचायक है ।[10] यहाँ तक तो उन पर बौद्धों तथा सिद्धो का ही प्रभाव कहा जा सकता है । किन्तु, जहाँ उन्होंने 'शून्य' शब्द का प्रयोग भावरूप ब्रह्म के अर्थ मे किया है, वहाँ अपभ्रंश के जैन कवियों का प्रभाव ही प्रतीत होता है ।[11]

अमृत—अमृत शब्द 'मृ' धातु से भाव अर्थ मे क्त प्रत्यय होकर बना है, जिसकी व्युत्पत्ति है 'नास्ति मरण यस्मात् तदमृतम्' । इसके पीने वालों की मृत्यु नही

१- हठयोगप्रदीपिका

२- वही, ४/४४

३- हठयोगप्रदीपिका ४/७३

४- गोरखबाणी सग्रह, पृष्ठ ६०, १

५- सुण्ण ण होइ सुण्णं दीसइ सुण्ण च तिहु अणे सुण्ण ।
अवहरइ पावपुण्ण सुण्णसहावेण गओ अप्पा ॥ —रामसिंह, पाहुड़दोहा, २१२

६- अप्पा देहपमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि । -परमात्मप्रकाश, जोइन्दु-१, ५१

७- अट्ठवि कम्म इँ बहुविहइँ णवणव दोसविजेण ।
सुद्धह एक्कु विअत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइतेण ॥ —परमात्मप्रकाश, जोइन्दु, १, ५५

८- गग जमुन उर अतरे, सहज सुंनि ल्यौं घाट ।
तहा कबीरै मठ रच्या, मुनिजन जोवैं बाट ॥ -कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६, साखी ३

९- एसा कोई ना मिलै सब विधि देइ बताय ।
सुंनिमण्डल मे पुरिष एक ताहि रहैल्यौ लाइ ॥ —क०ग्र०, पृष्ठ ५६, साखी ७

१०- कबीर ग्रन्थावली, पद ६३

११- अबरन बरन घाम नहिछाम,
अबरन पाइये गुरु की साम ।
टारी न टरै आवै न जाइ, सुन्न सहज महि रह्यो समाइ ॥
-क० ग्र०, पृष्ठ २३०

होती, अतः इसे अमृत कहा गया है। योगियों ने इस शब्द का प्रयोग देहस्थ चन्द्र से चूने वाले अमृत के लिए किया है। उनका कथन है कि ब्रह्मरन्ध्र के शीर्ष स्थान में एक सहस्रदल कमल नीचे की ओर विकसित पाया जाता है। इसी सहस्रदल कमल के मध्य स्थित चन्द्राकार बिन्दु के आधार से एक प्रकार का मन्द स्राव होता रहता है, जिसे अमृत या महारस कहते हैं। यह निम्नस्थान की ओर प्रवाहित होता हुआ क्रमशः मूलाधार चक्र के निकटवर्ती किसी सूर्याकार स्थान तक आकर सूख जाता है। यदि अभ्यास द्वारा इसे ऊपर ही रोककर इसका रसास्वादन किया जाए तो इससे अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है। अमृत को ऊपर रोकना निम्नस्थित सूर्य को चन्द्र तक लाकर दोनों का सम्मिलन करा देने से संभव होता है। योगियो के यहाँ इस अपूर्व रस का नाम अमरवारुणी भी प्रसिद्ध है। उनके मतानुसार इस अमृतस्राव की उपलब्धि खेचरी मुद्रा के अभ्यास से की जा सकती है।[1]

अपभ्रंश के जैन कवियो ने आत्मा तथा परमात्मा से उत्पन्न होने वाले आनन्द की अनुभूति को अमृत रस के समान सुखद बताया है। आनन्दा मुनि का कथन है कि जो मुनि परमानन्द रूपी सरोवर मे स्नान करता है, वह अमृतरूपी महा-रस का पान करता है।[2] जैन कवियो ने जिस आत्मरस को अमृत रस माना है, वह योगियो के अमृत रस से सर्वथा भिन्न है।

कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियों के साथ-साथ नाथपंथी योगियो से भी पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। अतः उन्होंने उक्त अमृत शब्द का प्रयोग भी दोनो ही अर्थों में किया है। वे कहते है कि मैंने उस महारस का स्वाद तब पाया, जब सुषुम्ना के माध्यम से कुण्डलिनी ने विस्फोट कर अमृत प्राप्त किया। जब वहाँ से अमृत स्रवित होने लगता है, तब वह ज्योतिस्वरूप परमात्मा ब्रह्म प्रकट होता है और उसका साक्षात्कार होता है।[3] अन्यत्र वे कहते हैं कि हे अवधूता तुम शून्य ब्रह्मरन्ध्र को अपना स्थायी वास बना लो। वहाँ सदैव अमृत स्रवित होता है, जिससे अमित आनन्द की प्राप्ति होती है। सुषुम्ना नाड़ी को वहाँ पहुँचाकर उसके द्वारा साधक को उस अमृत का पान करना चाहिए।[4]

उक्त उदाहरणो मे एक ओर उनका कथन योगियो के देहस्थ चन्द्र से चूने

१- कबीर साहित्य की परख, परशुराम चतुर्वेदी, द्वितीय सं०, भारती भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद पृ० २२६ से २२८ तक

२- परमानन्द सरोवरहं, जो मणि करइ पवेस।
अमिय महारसु जइ पिवइ, आणन्दा गुरुस्वामिहि उपदेसु॥
—आणन्दा, २६

३- कहे कबीर स्वाद जब पाया, बकनालि रस खाया।
अमृत झरै ब्रह्म परकासे, तबही मिलै राम राया॥
—क० ग्र० पद २०९

४- अवधू गगनमंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बकनालि रस पीजै॥
—क०ग्र० पृष्ठ ९६, पद ७०

वाले अमृत की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर अपभ्रंश के जैन कवियों द्वारा प्रयुक्त उस अमृत रूपी महारस की ओर, जो आत्मानुभवकर्त्ता को प्राप्त होता है। कबीर ने इस अमृतरस को ही रामरस, हरिरस, तथा प्रेमरस भी कहा है, इसका पान सबके लिए सुलभ नही है। इसके लिए प्राणों तक की बाजी लगा देनी पड़ती है। अतः इसका पान वही कर सकता है जो अपना सिर समर्पित कर देता है।[1]

उन्मनि—उन्मनि का अर्थ अन्यमनस्क या उदास है, यह हठयोग की पाँच मुद्राओं मे से एक मुद्रा भी है। 'उन्मनि' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश के जैन कवियों तथा कबीर ने ही नही किया है अपितु हठयोग प्रदीपिका और नाथपंथी योगियों के ग्रन्थो मे भी इसका प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। हठयोग प्रदीपिका मे 'उन्मनि' शब्द पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है, इसके अनुसार 'उन्मनि' समाधि से मिलती जुलती ध्यान की अवस्था है, इसे तुरीयावस्था भी कहा जा सकता है।[2] इस अवस्था के प्राप्त होने पर साधक बाह्य बातों से इतना उदासीन हो जाता है कि उसे शख, दुन्दुभि तक की ध्वनि सुनाई नही पडती।[3] इसकी प्राप्ति के लिए साधक को त्रिकुटी पर ध्यान लगाना पडता है। नाथपंथी योगियों ने भी इस शब्द का प्रयोग अनेको बार किया है। उन्होंने अधिकतर इसका प्रयोग समाधि अवस्था के लिए किया है।[4] गोरखनाथ के मतानुसार इस अवस्था मे साधक को आनन्द की भी अनुभूति होती है।[5]

अपभ्रंश के जैन कवियों के काव्यों मे भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। साधक द्वारा मन को संसार से विमुख कर आत्मा मे स्थिर करने को जैन कवियो ने उन्मनि स्थिति कहा है। मुनि रामसिंह कहते है—

उम्मणि थक्का जासु मणु, भग्गा भूवहिं चारु।
जिम भावइ तिम संचरउ, णवि भउ णवि ससारु॥[6]

अर्थात् जो साधक इस प्रकार की उन्मनि स्थिति को प्राप्त कर लेता है वह संसार के भय से मुक्त हो जाता है।

कबीर भी कहते हैं कि जो इस मन को उन्मन कर लेता है, वह तीनो लोक के रहस्य को प्रकट कर सकता है—

यहु मनु ले जउ उन्मनि रहै, तउ तीनि लोक की बातै कहै॥[7]

१— राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मागे सीस कलाल॥
—क० ग्र०, पृष्ठ १४, सा० २

२— हठयोग प्रदीपिका, ४/६१

३— वही, ४/१०६

४— गोरखबानी, पृष्ठ ३३, सा० ६०

५— उन्मनि लागा होई अनन्द —गो० बानी, पृष्ठ ४५

६— पाहुडदोहा, रामसिंह १०४

७— संत कबीर, रामकुमार वर्मा पृष्ठ ८२, राग गउड़ी, ३३

अन्यत्र वे कहते हैं कि परमात्मा को बाहर खोजते-खोजते जन्म व्यर्थ ही नष्ट हो गया और मन को उन्मन कर ध्यान लगाने पर वह घर के भीतर अनायास ही प्राप्त हो गया—

बाहरि षोजत जनम गंवाया।
उनमनी ध्यान घर भीतरि पाया।[1]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'उन्मनि' शब्द का प्रयोग कबीर से पूर्व हठयोग-प्रदीपिका, नाथपथी योगियों के ग्रन्थों तथा अपभ्रंश के जैन कवियो के काव्यो मे एक प्रकार की समाधि के लिए किया गया था। कबीर ने सभी से प्रभाव ग्रहण किये हैं। अतः उक्त शब्द को कबीर ने हठयोग तथा नाथसिद्धों के साथ-साथ अपभ्रंश के जैन कवियो से भी ग्रहण किया होगा। क्योंकि उनकी समाधि जैनो की समाधि के समकक्ष कही जा सकती है। जिसमे मन को बाह्य पदार्थों की ओर से विमुख कर आत्मा की ओर उन्मुख किया जाता है।

नाद बिन्दु—नाद और बिन्दु शब्दों का सम्बन्ध हठयोग से है। नद् धातु से घञ् प्रत्यय होकर नाद शब्द बना है, जिसका अर्थ शब्द है। हठयोग मे नाद शब्द का अर्थ अनहद नाद से लिया गया है।[2] कही-कहीं यह परमात्मा का भी वाचक है।[3] बिन्दु शब्द स्थूल रूप से वीर्य का पर्यायवाची है और ब्रह्मचर्य साधना के लिए प्रयुक्त होता है।[4] किन्तु, योगी लोग इससे जीवात्मा का भी अर्थ लेते है।[5]

नाद मे बिन्दु के लय को नाद बिन्दु साधना कहा गया है। यह 'नाद' परमात्मतत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है, इसे शिव का नाम भी दिया गया है। 'बिन्दु' उस शक्ति का परिचायक शब्द है, जिसके शिव के साथ मिलन को प्रत्येक साधक अभीष्ट समझा करता है।[6] नाद बिन्दु साधना का उदय सबसे पहले तान्त्रिको मे हुआ था। सिद्धो मे नादबिन्दु साधना का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। किन्तु, सिद्ध-मत मे इस साधना को इतना महत्त्व नही दिया गया है, जितना योगियो मे।[7] गुरु गोरखनाथ के विचार से जो नाद मे लय की सिद्धि पा लेता है, वह सिद्ध हो जाता है।[8] इसी प्रकार इन्होंने बिन्दु साधना के सम्बन्ध मे भी कहा है और इसमे भी

१– कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८३, पद १७
२– हठयोग प्रदीपिका ४/७२ की टीका
३– वही, ४/७२
४– वही, ४/१०५
५– हठयोग प्रदीपिका ४/७२
६– कबीर साहित्य की परख, परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ २३५
७– कबीर की विचारधारा, गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० ४०१, ४०२
८– नाद नाद सब कोई कहै, नादहि ले को विरला रहै।
नादबिंद है फीकी सिला, जिहि साध्या तें सिधै मिला॥
—रमैणी ३ पृ० २६, हरक संस्करण

किसी विरले को ही सफल होना माना है ।[1]

प्राचीन जैन साहित्य मे 'नाद विन्दु' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । अपभ्रंश के जैन कवि महयन्दिण ने 'नाद–विन्दु' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उनका प्रयोजन नादविन्दु साधना से नही था । उन्होंने शुद्ध आत्मा को नाद विन्दु से रहित बताया है ।[2] अपभ्रंश के जैन कवि आनन्दा ने शुद्ध आत्मतत्त्व के लिए 'विन्दु' शब्द का प्रयोग किया है । वे कहते है—

अप्पा विन्दु ण जाणहि आणन्दा रे । घटमहि देव अनन्तु ।[3]

कबीर ने योगियो के समान नादविन्दु साधना का भी उल्लेख किया है । उनका कथन है कि चाहे नाद मे विन्दु का जाना कहो या बिन्दु का नाद मे लय होना कहो, यह निश्चय है कि इन दोनो के सम्मिलन द्वारा ही परमात्म तत्त्व की अनुभूति होती है ।[4] अन्यत्र उन्होंने अपने ब्रह्म को नाद विन्दु आदि से रहित कहा है ।[5]

कबीर ने सिद्धो, नाथो तथा जैनो सभी से सारतत्त्व को ग्रहण किया है। किन्तु, 'नाद विन्दु' शब्द का प्रयोग उन्होने हठयोग तथा नाथयोगियो से ही ग्रहण किया होगा, अपभ्रंश के जैन कवियो से नही ।

राग–द्वेष --रज् धातु मे घञ् प्रत्यय होकर राग शब्द बना है, जिसका अर्थ अनुराग या प्रेम है । इसी प्रकार द्विष् धातु से घञ् प्रत्यय होकर द्वेष शब्द बना है, जिसका अर्थ वैर या शत्रुता है । किसी वस्तु या व्यक्ति से अनुराग करना राग है और उससे वैर विरोध करना द्वेष है ।

जैन दर्शन मे जीव के राग और द्वेष भावो को ही बध का कारण कहा गया है । आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति शरीर मे तैल लगाकर धूलि वाले स्थान मे व्यायाम करे अथवा वृक्षादि को काटे तो उसके शरीर मे तैल के कारण रज लिपट जाते है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव सासारिक कार्यों को करते हुए रागद्वेष से युक्त होने के कारण कर्मरूपी रज से लिप्त हो जाता है ।[6] रागद्वेष से युक्त भाव ही बध का कारण है । अतः जो रागद्वेष से रहित है उसके बन्ध नही होता ।[7] अपभ्रंश के जैन कवियो ने भी परम्परा से प्राप्त 'रागद्वेष' शब्द का प्रयोग

१- व्यद व्यद सब कोइ कहै, महाव्यद कोइ विरला लहै ।
इह व्यद भरोसे लावै बध, असथिरि होत न देखो कध ॥ -गो० बा०, पृ० १७

२- नादबिन्दु कलवज्जियउ, सन्तु णिरञ्जणु जोइ ।
महयंदिण, दोहापाहुड, २७८

३- आणन्दा, आनन्द तिलक, ३

४- नादहि व्यंद कि व्यदहि नाद, नादहि व्यद मिलै गोव्यंद।
क० ग्र०, पद ३२६, पृ० १६८

५- जहां नाद न व्यद दिवस नहीं राती, नही नरनारि नही कुल जाती
कहै कबीर सरब सुखदाता अविगत अलख अभेद विधाता ।।
क० ग्र०, पद २६७

६- समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा २३७ से २४१ तक

७- वही, गाथा १६७

इसी अर्थ में किया है। जोइन्दु मुनि कहते हैं कि साधक शरीर से न राग करता है, न द्वेष। क्योंकि शरीर आत्मा से भिन्न है। इसी प्रकार वह प्रवृत्ति और निवृत्ति मे भी राग तथा द्वेष नही करता है। क्योकि व्रत अव्रत रूप प्रवृत्ति और निवृत्ति ही बध के कारण हैं। मुनि लक्ष्मीचन्द कहते हैं कि हे साधक ! यदि तू सिद्धि की प्राप्ति चाहता है तो राग और द्वेष का त्याग कर।[1]

कबीर ने 'राग-द्वेष' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश के जैन कवियो से ही ग्रहण किया है। वे भी राग तथा द्वेष को बन्धन का कारण मानते हैं और उससे मुक्त रहने का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं—

रागदोष दहूँ मैं एक न भाखि, कदाचि उपजै तौ चिंता न राखि ॥[2]

पुण्य–पाप—पुण्य शब्द की व्युत्पत्ति है पूयतेऽमेनेति पुण्यम्। यह शब्द पूङ् धातु से यणुक् प्रत्यय होकर बना है और धर्म, सुवृत आदि के पर्यायवाची के रूप मे प्रयुक्त होता है। 'पाप' शब्द की व्युत्पत्ति है 'पाति रक्षति अस्मादात्मानम् इति पापम्' यह शब्द अधर्म, दुरित, दुष्कृत और अघ आदि के पर्यायवाची के रूप मे प्रयुक्त होता है। जैन दर्शन मे ये दोनो शब्द अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित हैं। शुभ भाव से किये गये कार्य पुण्य कहलाने है और अशुभ भाव से किये गये कार्य पाप कहलाते हैं। जिस प्रकार बेड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की, दोनों ही बधन का कारण हैं, अतः त्याज्य हैं, उसी प्रकार पुण्यकर्म तथा पापकर्म दोनो ही बन्धन का कारण हैं। अन्तर इतना ही है कि पुण्य कार्य शुभ कर्म का कारण है और पापकार्य अशुभ कर्म का कारण हैं। किन्तु, दोनो ही कर्म का कारण होने से हेय हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपाव च।
आसवसंवरणिज्जर बधो मोक्खो य सम्मत्त ॥[3]

अर्थात् निश्चय से जाने गए जीव–अजीव, पुण्य–पाप, आश्रव, संवर निर्जरा, बंध और मोक्ष ही सम्यक्त्व हैं। अर्थात् सम्यक्त्वी जीव ही इन्हे भली प्रकार से जानता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी गोम्मटसार मे लेश्या का वर्णन कहते हुए पुण्य-पाप का उल्लेख किया है।[4] आचार्य उमास्वामी ने मन वचन तथा काय की क्रियाओं को योग तथा योग को ही आश्रव (कर्मों के आने का कारण) कहा है। शुभ योग अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पुण्याश्रव है और हिंसा, असत्य, स्तेय, ईर्ष्या आदि पापाश्रव है। किन्तु दोनो ही कर्मबन्ध का कारण होने से त्याज्य

१- रायरोस वे परिहरिवि जइ चाहहि सिवसिद्धि।
दोहाणुवेहा, लक्ष्मीचन्द

२- कबीर ग्रन्थावली, पद १०७

३- समयसार, गाथा १३

४- लिपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्ण पुण्ण च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुण जाणयक्खादा ॥
—गोम्मटसार, जीवकाड, गाथा ४८८

है ।[1] इन दोनो के नष्ट होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

अपभ्रंश के जैन कवियों ने भी परम्परा–प्राप्त पुण्य पाप शब्द को उक्त अर्थ मे ही ग्रहण किया है । वे पुण्य कार्य को पुण्य कर्म का तथा पाप कार्य को पाप कर्म का कारण कहते हैं । जोइन्दु मुनि का कथन है कि पाप से नरक गति की प्राप्ति होती है तथा पुण्य से देव गति की प्राप्ति होती है । किन्तु निर्वाण की प्राप्ति तो दोनो के नष्ट होने पर ही होती है ।[2] मुनि रामसिंह साधक को उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए उपदेश देते हैं जिससे पुण्य तथा पाप दोनो ही एक क्षण मे नष्ट हो जाएँ ।[3] जोइन्दु मुनि शुद्ध आत्मा (परमात्मा) को पुण्य पाप से रहित मानते है ।[4]

अपभ्रंश के सिद्ध कवियो ने भी 'सुण्ण णिरंजन परमपउ ण तहिं पुण्ण ण पाउ' कहकर अपने शून्य निरंजन तथा परमपद को पुण्य पाप से रहित कहा है ।[5]

कबीर पुण्य तथा पाप दोनो को कर्मों के आने का द्वार (आश्रव) मानते है । वे कहते है कि सुख तथा दुःख की प्राप्ति का कारण पाप तथा पुण्य रूपी दरवाजे हैं ।[6] वे पुण्य–पाप को भी माया समझते हैं[7] और अपने परमात्मा परमब्रह्म को पाप-पुण्य से रहित बताते हैं ।[8] जहाँ कबीर ने अपने ब्रह्म को पुण्य और पाप से रहित कहा है, वहाँ उनपर सिद्धो तथा जैनो दोनो का प्रभाव रहा होगा किन्तु जहाँ उन्होने पुण्य और पाप को कर्मों के आने का द्वार कहा है, वहाँ वे अवश्य ही अपभ्रंश के जैन कवियों से प्रभावित रहे है ।

१– कायवाङ्मन: कर्मयोग:, स आश्रव:, शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य ।
—तत्त्वार्थ सूत्र षष्ठ अध्याय सूत्र १, २, ३

२– पावेणारय तिरिउ जिउ पुण्णे अमरु वियाणु ।
मिस्से माणुस गइ लहइ, दोहिं वि खइ णिव्वाणु ।।
—परमात्मप्रकाश, अध्याय २, ६३

३– णाणतिडिक्की सिक्खि वढ किं पढियइं बहुएण ।
जा सधुक्की णिड्डहइ, पुण्ण वि पाउ खणेण ।।
—पाहुडदोहा, रामसिंह, ८७

४– अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु, अत्थिण हरिसु विसाउ ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सोजि णिरंजण भाउ ।।
—परमात्मप्रकाश, अध्याय १, २१

५– दोहाकोश, राहुल सांकृत्यायन,
—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० ३०

६– क्यूं लीजै गढ बंका भाई, दोवर कोट अरु तेवड खाई ।
काम किवाड दुख सुख दरवानी, पाप पुनि दरवाजा ।।
—कबीर ग्रन्थावली, पद ३५६

७– पाप पुन बीज अंकूर जामै मरै ।
उपजि विनसै जेती सर्वमाया ।
—क० ग्र०, पद १६६

८– भेद विवर्जित, भेद विवर्जित, विवर्जित पाप रु पुन्य ।।
—क० ग्र०, पद २६३

जरामरण—'जीर्णत्यनया इति जरा, वयः कृतश्लथमांसाद्यवस्थाभेदः । 'म्रियतेऽनेनेति मरणं विजातीयात्ममनः सयोगध्वसः ।[1] इस व्युत्पत्ति तथा अर्थ के अनुसार जरा शरीर की वृद्धावस्था तथा मरण एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर को ग्रहण करना है । जैन दर्शन के अनुसार जबतक आत्मा ससार अवस्था मे कर्मों से लिप्त है तभी तक जरा मरण आदि के कष्ट उठाता है, कर्मों मे मुक्त हो जाने और सिद्धत्व की प्राप्ति हो जाने पर जरामरण आदि के कष्टों से वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है । क्योंकि जरामरण शरीर मे होता है, आत्मा मे नही । आचार्य नेमिचन्द्र इसी तथ्य का उद्‌घाटन करते हुए कहते हैं—

जाइजरामरणभया सजोगवियोग दुक्खसण्णासो ।
रोगादिगा य जिस्से ण सति सा होदि सिद्धगइ ।।[2]

परम्परानुसार अपभ्रंश के जैन कवि मुनि रामसिंह ने भी जरा और मरण को शरीर का धर्म कहा है । वे कहते हैं कि हे जीव ! जरा और मरण को देखकर तू भयभीत न हो । क्योंकि जो शुद्ध आत्मा या परमात्मा है, वह तो जरा मरण से रहित अजर और अमर है—

देह हो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु बभु परु सो अप्पाण मुणेहि ।।[3]

अपभ्रंश के जैन कवियों के समान कबीर भी आत्मा को जरा-मरण से रहित मानते है । उनके विचार से भी आत्मा को जरामरण से युक्त मानना भ्रम है । जब तक अज्ञान के कारण जीव भ्रम मे पड़ा रहता है, तभी तक वह आत्मा को जरा-मरण से युक्त मानता है । ज्ञान की प्राप्ति होने पर उसका जरा मरण का भ्रम दूर हो जाता है—

जरा मरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि ले ।[4]

तथा

जुरामरण दुःख फेरि करन सुख, जीव जनम थैं छूटै ।[5]

स्पष्ट है कि 'जरा मरण' शब्द का प्रयोग कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियों के अनुसार ही किया है ।

आवागमन तथा जन्म मरण—'आवागमन' का तात्पर्य है ससार मे जन्म लेना तथा मरना । अपभ्रंश के जैन कवि मुनि रामसिंह के अनुसार जीव जबतक ससार मे आसक्त रहता है तथा परमात्मपद से विमुख रहता है तबतक आवागमन के चक्र मे फँसा रहता है और जब मन को स्थिर कर परमात्म–पद मे लीन कर देता है

१– शब्दकल्पद्रुम,
चौखम्बा सस्कृत सिरीज, आफिस वाराणसी–१
२– गोम्मटसार, जीवकाड, गाथा १५१
३– पाहुड़दोहा, ३२
४– कबीर ग्रन्थावली, पद ४
५– वही, पद १७६

तब आवागमन से मुक्त हो जाता है ।[1] कबीर ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है ।[2] 'जन्ममरण' भी इसी आवागमन का ही द्योतक है जिसका प्रयोग अपभ्रंश के जैन कवियों तथा कबीर ने भी किया है । मुनि रामसिंह कहते हैं कि जिसके हृदय में जन्ममरण से रहित एक परमदेव निवास करता है वह परलोक को प्राप्त करता है ।[3] कबीर भी अपने राम की शरण मे पहुँचकर जन्म-मरण से मुक्त होने की प्रार्थना करते हैं ।[4]

'आवागमन' तथा 'जन्म मरण' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश के जैन कवियो ने ही विशेष रूप से किया है । अत: इस शब्द को कबीर ने जैन कवियों से ही ग्रहण किया होगा ।

परमपद—'पद्यते ज्ञानिभि: प्राप्यते इति पद:' 'परम: य: पद: परमपद:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार परमपद का अर्थ है उत्कृष्ट पद । इस 'परमपद' शब्द का प्रयोग मध्यकालीन साधकों ने अनेकों बार किया है । सिद्ध कवि सरह ने अपने दोहाकोश में परमपद उसे कहा है जो शून्य है, निरंजन है, जहाँ न पुण्य है न पाप ।[5] सिद्धों ने अपने ब्रह्म या परमात्मा को परमतत्त्व माना है और इसी के साम्य पर उन्होंने परमपद, परमगति आदि शब्दों को ही श्रेष्ठ पद या श्रेष्ठ गति मोक्ष के लिए अपना लिया है । अपभ्रंश के जैन कवियो ने भी मोक्ष को परमपद कहा है । जोइन्दु मुनि कहते हैं कि जो केवलदर्शन, केवलज्ञान, केवलसुख तथा केवलवीर्य स्वभाववाला निराकार ईश्वर है, वह परमपद मे स्थित है ।[6] अन्यत्र वे कहते हैं कि निर्मल आत्मा का ध्यान करो जिसका ध्यान करने से क्षणमात्र में ही परमपद (मोक्षपद) की प्राप्ति

१— अखइ णिरामइ परमगइ मणु धल्लेपिणु मिल्लि ।
तुट्टेसइ मा भंति करि, आवागमण हु वेल्लि ।।
—पाहुडदोहा, रामसिंह, १७१

२— तार्थे आवागमन न होई फुनि फुनि ता पर संग न चूरा ।
—क० ग्र०, पद १६१
तथा
कहै कबीर हम बनज्या सोई, जाथैं आवागमन न होई ।।
—क० ग्र० २६१

३— जोइय हियडइ जासु पर, एक्कु जि णिवसइ देउ ।
जम्मण मरण विवज्जियउ तो पावइ परलोउ ।।
—रामसिंह, पाहुड़दोहा, ७६

४— कहै कबीर सरणाई आयौ, मेटि जामनमरणा ।।
—क० ग्र०, पद २४८

५— दोहाकोश, राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० ३०

६— एयहिं जुत्तहिं लक्खणहिं, जो परु णिक्कलु देउ ।
सोतहिं णिवसइ परमपइं, जो तइलोयहं झेउ ।।
—परमात्मप्रकाश, २५

हो जाती है ।[1]

कबीर ने भी 'परमपद' शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ में ही किया है । वे कहते हैं कि राम का नाम लेने से 'परमपद' की प्राप्ति हो जाती है और सब विघ्नविकार नष्ट हो जाते हैं ।[2] इस परमपद की प्राप्ति हो जाने पर 'आवागमन' नष्ट हो जाता है । जो एक बार परमपद को प्राप्त कर लेता है वह फिर संसार मे नहीं आता ।[3]

कबीर अपभ्रंश के जैन कवियो के साथ-साथ सिद्ध कवियों से भी परिचित थे । अतः इस शब्द को उन्होंने दोनों से ग्रहण किया होगा ।

परमगति का प्रभाव—गम् धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर गति शब्द बना है और उत्कृष्ट या सर्वश्रेष्ठ के अर्थ मे पर शब्द का प्रयोग होता है । अतः परमगति का अर्थ है उत्कृष्ट या सर्वश्रेष्ठ गति । 'परमगति' शब्द का प्रयोग भी जैन कवियों ने मोक्ष के अर्थ में किया है । जोइन्दु मुनि अपने शिष्यों को समझाते हुए कहते हैं कि यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे तथा आत्मा के द्वारा आत्मा को समझे तो तू शीघ्र ही परमगति को पा जाए और फिर ससार में आवे ।[4] मुनि रामसिंह के विचार से भी अक्षय, निरामय, परमगति (मोक्ष) मे मन को तल्लीन कर देने से आवागमन की बेल नष्ट हो जाती है ।[5]

कबीर ने भी 'परमगति' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश के जैन कवियो के समान मोक्षपद के लिए ही किया है । वे कहते हैं कि मन्दबुद्धि वाले परमगति (मोक्ष) को नही जान सकते ।[6]

परमानन्द—आ उपसर्ग पूर्वक नन्द् धातु से घञ् प्रत्यय होकर आनन्द शब्द बना है जिसका अर्थ सुख, आल्हाद, हर्ष आदि है ।[7] परमानन्द का अर्थ है अत्यधिक आनन्दमय । जो स्वय आनन्द स्वभाववाला है तथा अन्य व्यक्तियों को भी आनन्द प्रदान करने वाला है, ऐसे नित्य, निरंजन, परमात्मा को ही अपभ्रंश के जैन कवियो

१- अप्पा झायहि णिम्मलउ कि बहुएँ अण्णेण ।
जो झायंतह परमपउ लब्भइ एक्कखणेण ।।
—परमात्मप्रकाश, ६७

२- राम के नाव परमपद पाया, छूटै विघन विकारा ।
—क० ग्र०, पद २६७

३- क० ग्रन्थावली

४- इच्छा रहियउ तव करहि अप्पा अप्पु मुणेहि ।
तो लहु पावहि परमगई, फुड ससारु ण एहि ।।
—जोइन्दु, योगसार, १३

५- अखइ णिरामइ परमगइ मणु घल्लेप्पिणु मिल्लि ।
तुट्टेसइ मा भंति करि, आवागमणह वेल्लि ।।
—रामसिंह, पाहुडदोहा, १७१

६- ओछी बुधि अगोचरवाणी, नही परमगति जांणी ।
—क० ग्र०, पृ० १३३, पद १६७

७- शब्दकल्पद्रुम, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, आफिस वाराणसी १

ने परमानन्दस्वरूप माना है। आनन्दा कवि कहते हैं कि शुद्ध आत्मा ही नित्य है, निरंजन है, परमशिव है और परमानन्द स्वभाववाला है।[1] जोइन्दु मुनि ने भी 'परमात्मप्रकाश' में अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट को उसी परमानन्द स्वरूप परमात्मा का ध्यान करने का उपदेश दिया है।[2] वे कहते हैं कि जो समभाव में प्रतिष्ठित है अर्थात् रागद्वेष आदि से रहित शुद्ध भाव का धारक है, ऐसे योगियों को जो परम आनन्द प्रदान करता है वही परमात्मा है।[3]

अपभ्रंश के जैन कवियों के समान कबीर ने भी परमात्मा को परम आनन्द-स्वरूप होने के कारण ही परमानन्द संज्ञा दी है। वे भी अपने मन को उस गोविन्द को जपने का आदेश देते है जो परमानन्द स्वरूप है।[4] यही नहीं, वे उस परमानन्द परमात्मा मे मन के लीन हो जाने पर स्वय भी आनन्द का अनुभव करते हैं।[5] शुद्ध आत्मा अथवा परमात्मा को परमानन्द स्वरूप मानना जैन चिन्तकों की विशेषता है। क्योंकि जैन दर्शन में आत्मा की मुक्ति होने पर उसके गुणों का उच्छेद नही होता, नहीं उसका आत्यन्तिक अभाव ही होता है, अपितु उसके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनतसुख और अनतवीर्य आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। अतः आत्मा को परमानद कहते समय कबीर अवश्य ही अपभ्रंश के जैन कवियो से प्रभावित हुए होगे।

सद्गुरु—साधु या सत्य अर्थ में 'अस्' धातु से शतृ प्रत्यय होकर सद् शब्द बना है तथा 'गृणात्युपदिशति वेदादिशास्त्राणि इन्द्रादिदेवेभ्यः' अथवा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्व मनुष्यादिभिः इति गुरुः।[6] इस व्युत्पत्ति के अनुसार गृ धातु से उत्प्रत्यय होकर 'गुरु' शब्द बना है। अतः सद्गुरु शब्द का अर्थ है सच्चा गुरु अथवा साधु गुरु।

अपभ्रंश के जैन कवियो ने सद्गुरु शब्द का प्रयोग उस तपस्वी गुरु के लिए किया है जो राग-द्वेष, क्रोध, मान आदि से रहित है, विषयों की आशा से रहित है, आरम्भ और परिग्रह से रहित है।[7] ऐसा ही गुरु अपने शिष्य को पापो से मुक्त कर

१- अप्पु णिरंजणु परमसिउ अप्पा परमाणन्दु।
—आणन्दा, २

२- णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणद सहाउ।
जो एहउ सो सन्तु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ॥
—परमात्मप्रकाश, १७

३- जो समभाव परिट्ठियह जोइहं कोइ फुरेइ।
परमाणन्दु जणन्तु फुडु सो परमप्पु हवेइ॥
—परमात्मप्रकाश, ३५

४- जपि जपि रे जीयरा गोव्यंदो, हित चित परमानन्दो रे।
—क० ग्र०, पृ० १८८, पद ३९८

५- कहै कबीर मन भया अनन्द, जगजीवन मिलियो परमानन्द।
—क० ग्र०, पृ० १८४, पद ३८२

६- शब्द कल्पद्रुम, चौखम्बा सस्कृत सिरीज

७- विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः
ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥
रत्नकरंडश्रावकाचार, स्वामी समन्तभद्र

परमात्मा का ज्ञान कराने तथा मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ है। सद्गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए आनन्दा कवि कहते हैं कि सद्गुरु ही शिष्य को ससार सागर से पार कर सकता है, कुगुरु नही।[1] अत: कुगुरु की आराधना न कर सद्गुरु की ही आराधना करनी चाहिए, उसी से मोक्ष सुख की प्राप्ति हो सकती है।[2]

कबीर ने भी सद्गुरु को ही आराध्य माना है, कुगुरु को नही। कुगुरु की आराधना करने को वे निरर्थक समझते हैं।[3] इसके विपरीत सद्गुरु की महिमा का उन्होंने मुक्तकंठ से गान किया है।[4]

गुरु के महत्त्व को तो सभी आध्यात्मिक साधको ने स्वीकार किया है। किन्तु 'सद्गुरु' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से जैन कवियों ने ही किया है। अत: 'सद्गुरु' शब्द का प्रयोग कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियो से ही ग्रहण किया होगा।

त्रिभुवन—'भवन्त्यस्मिन् भूतानि' इति भुवनम् तथा 'त्रयाणां भुवनाना समाहार: त्रिभुवनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'त्रिभुवन' शब्द का अर्थ है तीन भुवन अर्थात् तीन लोक। प्राय: सभी मध्यकालीन साधको ने उर्ध्वलोक, मध्यलोक और पाताललोक इन तीनो लोकों के लिए त्रिभुवन शब्द का प्रयोग किया है। अपभ्रंश के जैन कवि मुनि जोइन्दु कहते हैं कि मैं उन सिद्धों को नमस्कार करता हूँ, जो ज्ञान के कारण तीनो लोको में श्रेष्ठ होते हुए भी संसार सागर मे नही पडते।[5] अन्यत्र वे कहते है कि वह सिद्धि को प्राप्त हुआ परमात्मा त्रिभुवन के द्वारा वन्दित है अर्थात् तीनो भुवन के लोग उसकी वन्दना करते हैं।[6]

अपभ्रंश के सिद्ध कवियों ने भी 'त्रिभुवन' शब्द का प्रयोग किया है। वे

१– कुगुरु म पूजहु सिर धुनहु, तीरथ काइं भमेहु ॥
—आणन्दा, ३७

२– सद्गुरु तूठा पावयइ मुक्ति तिया घर वासु।
सो गुरु निरूत्साहय आणन्दा ! जब लगि हियड़इ सासु।
—आणन्दा, ३५

३– कबीर सतगुरु ना मिल्या रही अधूरी सीष।
स्वाग जीत का पहरि करि, घरि घरि मागै भीष।
—क० ग्र०, पृ० ३, ८७

४– सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपगार।
लोचन अनन्त उघाडिया, अणन्त दिखावनहार ॥
—क० ग्र०, गुरुदेव कौ अग, ३

५– ते पुणु वंदउँ सिद्धगण जे णिव्वाणि वसति।
णाणिं तिहुयणि गरुया वि भवसायरि ण पडंति ॥
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, ४

६– तिहुअण–वंदिउ सिद्धिगउ, हरिहर झायहिं जो जि।
लक्खु अलक्खें धरिवि थिरु, मुणि परमप्पउ सोजि ॥
—परमात्मप्रकाश, १६

कहते हैं कि तीनो लोक के सभी जीव एक ही रंग में रँगे हुए हैं ।[1] कबीर भी कहते है कि जो राम मे तन्मय हो जाता है, उसे तीनो भुवन दिखाई देने लगते है ।[2]

स्पष्ट है कि त्रिभुवन शब्द का प्रयोग कबीर से पूर्व अपभ्रंश के जैन कवियों के समान अन्य कवियों मे भी हुआ था । अतः कबीर ने इस शब्द को सभी के सम्मिलित प्रभाव से ग्रहण किया होगा ।

भवसागर—'भवति उत्पद्यतेऽस्मिन्निति भवः' तथा 'सगरस्य राज्ञोऽयं सागरः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ जीव उत्पन्न होते हैं, वह भव है । सागर शब्द समुद्र का पर्यायवाची है जिसका अर्थ दुर्लंध्य है । वह भव जो दुर्लंध्य है, भवसागर है । आध्यात्मिक विचारकों ने इस भव अर्थात् ससार को दुर्लंध्य कहा है । जिस प्रकार सागर को पार करना कठिन है, कोई मरजीवा ही उसमे प्रविष्ट होकर उसे पारकर सकता है, उसी प्रकार इस ससार सागर से मुक्त होना भी अत्यन्त दुष्कर है । कोई विरला साधक ही सत्गुरु की कृपा से इसे पार कर सकता है ।

अपभ्रंश के जैन कवि महयंदिण मुनि ने इस भवसागर को अत्यन्त कठिन बताया है, उनके विचार मे जिनदेव की कृपा से ही कोई इसे पार कर सकता है ।[3] कबीर ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है ।[4]

विषय सुख—इन्द्रियो के द्वारा अनुभव मे आने वाले सुखो को अध्यात्म चिन्तको ने विषय सुख कहा है । क्योकि ये सुख विषयो से प्राप्त होने वाले है और विषय पर पदार्थ हैं । अतः इनसे प्राप्त होने वाला सुख शाश्वत सुख नही है । यह भोगते समय तो सुखद प्रतीत होता है । किन्तु, इसका परिणाम दुःखद होता है । व्यावहारिक जीवन मे आवश्यक विषयभोग का सर्वथा त्याग नही किया जा सकता । किन्तु, आत्मकल्याण के अभिलाषी को विषय सुखो का उपभोग करते हुए भी उनमे आसक्ति नही रखनी चाहिए । स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि से प्राप्त सभी सुख विषय सुख है । अतः अपभ्रंश के जैन कवि मुनि रामसिंह कहते है कि विषय सुखो का उपभोग करते हुए भी जो उसमे आसक्त नही होता, वही शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त करता है ।[5] कबीर भी 'विषय सुख' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे करते है और विषय

१– एक्के रंगे रंजिया, तिहुअण मअलासेस ।
—दोहाकोश, पृष्ठ ४७, २६

२– वहि जोगिया की जुगति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै ।।
—कबीर बीजक, शब्द ६६

३– दुलहउ भवसायर तरणि, जिणदेवण जिणयाव ।
—पाहुडदोहा, महयंदिण, २८४

४– भेला पाया श्रम सों, भवसागर के माँहि ।
जे छाडौं तो डूबिहौं, गहौ त डसिये बाहं ।।
—क० ग्र० पृष्ठ ६, ४३

५– आ भुंजता विसयसुहु जे ण वि हियइ धरंति ।
ते सासय सुह लहु लहहिं जिणवर एम भणेइ ।।
—पाहुडदोहा, रामसिंह, ४

सुख में आसक्ति रखनेवालों की भर्त्संना करते हुए कहते हैं—

बिषिया सुख के कारणें, जाइ गनिका सू प्रीति लगाइ ।।[1]

कर्म—जैन विचारकों के अनुसार कर्म एक प्रकार की पौद्गलिक वस्तु है। मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण ये कर्म आत्मा के प्रदेशों से बँध जाते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म हैं, जो सदा आत्मा को दुःख देते रहते है।[2] आचार्य नेमिचन्द्र ने भी इन आठ कर्मों का उल्लेख किया है। मुक्त जीव इन कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।[3]

अपभ्रंश के जैन कवि मुनि रामसिंह कहते हैं कि जो पुरातन कर्मों को क्षय कर देता है और नवीन कर्मों को प्रविष्ट नही होने देता वही सब प्रकार के अंजन से रहित होकर परमपद को प्राप्त करता है।[4]

कबीर ने जैन कवियो के समान कर्म को पुद्गल नही माना है, न आठ प्रकार के कर्मों का ही उल्लेख किया है। उनके विचार से मनुष्य के शुभ तथा अशुभ कार्य ही कर्म हैं और यही बन्धन का कारण हैं। वे कहते हैं—

करम का बाध्या जीयरा, अहनिसि आवै जाइ ।[5]

इस प्रकार कबीर ने अपभ्रंश के जैन कवियो के समान कर्म शब्द को ग्रहण करते हुए भी उस रूप में कर्म को अंगीकार नही किया है।

सोऽहम्—'सः' का अर्थ है वह और 'अहम्' का अर्थ है मैं। 'सोऽहम्' शब्द का अर्थ है कि मैं ही वह परमात्मा हूँ जो शुद्ध है, बुद्ध है, नित्य निरामय और अनंत ज्ञानमय है। अपभ्रंश के जैन कवि मुनि जोइन्दु ने 'सोऽहम्' शब्द का प्रयोग दो बार किया है। वे कहते हैं कि जो ज्ञानमय परमात्मा है वही मैं हूँ, और जो मैं हूँ वही परमात्मा है।[6] जो जिण है सो ही मैं हूँ।[7]

१– कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११२, पद १२७।
मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाय योगा: बन्धहेतव. ।।
—तत्त्वार्थसूत्र, अष्टम अध्याय, सूत्र १

२– अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फल तं वुच्चइ, दुक्ख ति विपच्चमाणस्स ।।
–समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द ४५

३– अट्ठविहकम्मवियला सीदीभू दा णिरंजण णिच्चा।
–गोम्मटसार, जीवकांड, ६८

४– कम्मु पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ।
परम णिरंजनु जो णवइ सो परमप्पउ होइ।।
—पाहुड़दोहा, रामसिंह, ७७

५– कबीर ग्रन्थावली, रमेणी, पृष्ठ १६५।

६– जो परमप्पा णाणमउ सो हउ देउ अणंतु ।
जो हउ सो परमप्पु परु एहउ भाउ णिभंतु ।।
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, १७५

७– जो जिण सो हउ सोजि हउं एहउ भाउ णिभन्तु ।। –जोइन्दु, योगसार, ७५

कबीर ने भी अपभ्रंश के जैन कवियों के समान 'सोऽहम्' शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ मे ही किया है। वे कहते हैं कि जो 'सोऽहम्' शब्द का जाप करते हैं उन्हें पुण्य और पाप नही होता।[1] स: के साथ अहम् की समानता स्थापित करते हुए वे कहते हैं—

सोऽहम् हंसा एक समान काया के गुण आनंहि आन।[2]

चौरासी लाख योनि—अपभ्रंश के जैन कवियों ने अनेक स्थलो पर चौरासी लाख योनियो का वर्णन किया है जहाँ सम्यक्त्व की प्राप्ति न होने के कारण जीव अनादिकाल से अनन्तकाल तक भ्रमण करता रहता है।[3] मुनि रामसिंह का कथन है कि चौरासी लाख योनियो मे ऐसा कोई प्रदेश नही है जहाँ जिनवचन को न पाने के कारण यह जीव भ्रमण न कर चुका हो।

अपभ्रंश के जैन कवियो के समान कबीर ने भी चौरासी लाख योनियो की चर्चा की है। वे कहते है कि मैं चौरासी लाख योनियों मे भ्रमण कर चुका हूँ[4] और तैंतीस करोड व्यक्ति चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करते रहते हैं।[5]

३ अपभ्रंश के जैन कवियों के प्रतीक और कबीर

प्रतीयते अनेन इति प्रतीक: अर्थात् जिससे प्रतीत हो या किसी वस्तु की अभिव्यक्ति हो वह प्रतीक है। प्रतीक का अर्थ साधारणतया चिह्न या संकेत है।

मानव अपने भावातिरेक को अभिव्यक्त करने के लिए सदैव व्याकुल रहता है, उसकी इसी व्याकुलता के फलस्वरूप प्रतीकों का उद्भव हुआ है। जब वह अन्य किसी प्रकार से अपने भावातिरेक को अभिव्यक्त करने मे असमर्थ हो जाता है तब प्रतीको का आश्रय लेता है। क्योंकि वाणी की गति परिमित है और स्वर व्यंजन-युक्त सार्थक शब्दो की शक्ति भी अत्यल्प है। अभिधा के लिए जब भावो का आवेग दुर्भर हो जाता है तब लक्षणा और व्यंजना की शक्ति अपेक्षित होती है और वाच्यार्थ से आगे बढकर लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की खोज करनी पडती है तभी प्रतीकों की आवश्यकता होती है।

अपने दैनिक जीवन मे भी हम देखते है कि साधारण सुखमय अनुभव की

१- सोऽहम् हंसा ताको जाप, ताहि न लिपै पुन्य न पाप।
—क० ग्र०, पद ३२८

२- कबीर ग्रन्थावली, पद ५३

३- चउरासी लक्खहिं फिरिउ कालु अणाइ अणन्तु।
पर सम्मत्तु ण लद्धु जिय एहउ जाणि णिभन्तु॥
—योगसार, जोइन्दु, २५

४- लाख चौरासीहि जोनि भ्रमि आयो।
—क० ग्रं०, परिशिष्ट, पद १७३

५- कोड़ि तेतीसूं अरु खिलखाना, चौरासी लख फिरै दिवानां॥
—क०ग्रं० पद ३१९

मात्रा जिस समय हमारे ऊपर अधिक प्रभावशाली हो जाती है और अनुभूत वस्तु में तन्मयता का भाव ग्रहण कर जब हम आनन्दित हो उठते हैं तो उसे उपयुक्त शब्दों मे प्रकट करने मे अत्यधिक कठिनाई होती है। बार-बार स्पष्ट करने का प्रयत्न करने पर भी हम उसे अच्छी तरह नही समझा पाते और एक ही बात को अनेकों प्रकार से कहने की चेष्टा करते हैं। बीच-बीच में अन्य अवयवों से सकेत भी करते रहते हैं, फिर भी हमें सतोष नही होता। उस समय हमारी भाषा सर्वथा असहाय और असमर्थ हो जाती है। इन्द्रियगम्य विषयो में तो भाषा की कुछ सहायता मिल भी जाती है, किन्तु, अतीन्द्रिय भावना का वर्णन करते समय तो उस साधन का भी पूर्ण सहारा नही मिल पाता। परमात्मानुभव इन्द्रियातीत वस्तु है जिसको केवल भावना मे ही अनुभव किया जा सकता है और केवल प्रतीकों के द्वारा ही जिसका वर्णन किया जा सकता है। इन प्रतीको का आधार इन्द्रियगम्य वस्तुएँ ही हुआ करती है।

रहस्यवादी कवि इस जीवन और जगत् मे परे इन्द्रियातीत जगत् से सम्बन्धित होता है। उसके अनुभव इस भौतिक जगत् के अनुभव से सर्वथा भिन्न होने है। वह ज्ञान और भावना के जगत् मे विचरण करता है। अतः उसे अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष जगत् के आलम्बनो का आश्रय लेना पडता है। यही कारण है कि सभी देशो और सभी कालो मे रहस्यवादियो ने अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का आश्रय लिया है। दाम्पत्य भाव इनका अत्यन्त प्रिय प्रतीक रहा है। इसके अतिरिक्त अपने आसपास के वातावरण, प्राकृतिक दृश्यो तथा व्यवसायों आदि से भी इन्होने प्रतीक ग्रहण किए हैं। अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों तथा कबीर का उद्देश्य भी परमात्मानुभव को व्यक्त करना था। अतः अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए स्वभावतः उन्हे भी प्रतीकों का आश्रय लेना पडा। यहाँ दोनो के द्वारा प्रयुक्त समान प्रतीको का उल्लेख किया जाएगा।

प्रिय—अपभ्रंश के जैन कवियो ने परमात्मा के लिए 'प्रिय' का प्रतीक ग्रहण किया है। मुनि रामसिंह का कथन है कि मैं (आत्मा) सगुण हूँ और प्रिय (परमात्मा) निर्गुण है। दोनो का निवास एक ही शरीर में है, पर मिलन नही हो पाता।[1] कबीर ने भी 'प्रिय' को परमात्मा के प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त किया है। उनकी विरहिणी आत्मा प्रिय (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए तडपती रहती है।[2]

प्रिय अर्थात् पति पत्नी के लिए सबसे प्रिय वस्तु है, वह उसको पाने के

१- हउ सगुणी पिउ णिग्गुणिउ णीलक्खणु णीसंगु।
एकहिं अग वसतयह मिलिउ ण अगहिं अगु॥
-पाहुडदोहा, रामसिंह, १००

२- विरहिणि पिउ पावै नही जियरा तलपै भाई॥
—क०ग्र० श्यामसुन्दर दास, पृष्ठ ९

तथा- इस तन का दीवा करौं बाती मेलों जीव।
लोही सींचो तेल ज्यो तब मुख देखौं पीव॥
-वही, पारसनाथ तिवारी, पृष्ठ १४४, २२

लिए तड़पती रहती है और पा लेने पर आनन्दमग्न हो जाती है, उसी प्रकार साधक की आत्मारूपी वधू भी परमात्मारूपी प्रिय के विरह में व्याकुल रहती है और पा लेने पर आनन्दसागर में निमग्न हो जाती है। इसीलिए अपभ्रंश के जैन कवियों तथा कबीर ने परमात्मा के लिए 'प्रिय' प्रतीक का प्रयोग किया है।

हाथी—जिस प्रकार हाथी मतवाला होकर जंगल में विचरण करता है, उसी प्रकार यह मन भी विषयवासनाओं के वन में भटकता रहता है। अतः अपभ्रंश के जैन कवियों ने 'हाथी' को मन का प्रतीक माना है और उस मनरूपी हाथी को विषय वासनाओं की ओर जाने से रोकने का उपदेश दिया है।[1]

अपभ्रंश के जैन कवियों ने ही नहीं तत्कालीन सिद्धों तथा नाथों ने भी 'हाथी' को मन का प्रतीक माना है। कबीर ने भी अपभ्रंश के जैन कवियों तथा सिद्धों और नाथों के समान ही हाथी को मन का प्रतीक बनाया है।[2]

करहा—करहा ऊँट को कहा जाता है। ऊँट अत्यन्त चंचल प्रकृति का पशु है, मन भी ऐसा ही चंचल है। अतः अपभ्रंश के जैन कवियों ने 'करहा' को मन के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया था।[3] उन्हीं के समान कबीर ने भी 'करहा' को मन का प्रतीक बनाया है।[4]

घर जिस प्रकार घर में घर का स्वामी रहता है उसी प्रकार शरीर में उसका स्वामी आत्मा रहता है। अतः आध्यात्मिक कवियों ने 'घर' को शरीर का प्रतीक माना है। अपभ्रंश के जैन कवि मुनि रामसिंह कहते हैं कि मुझे तो यह संसार विचित्र ही प्रतीत होता है जिसमें घर (शरीर) के रहते हुए भी घर का स्वामी (आत्मा) नहीं दिखाई देता।[5] अपभ्रंश के जैन कवियों के प्रभाव में कबीर ने भी 'घर' को शरीर का प्रतीक माना है। वे उसी व्यक्ति को अपना मानते हैं जो उनके घर (शरीर) के झगड़े को मिटा दे।[6]

१– अम्मिय इहु मणु हत्थिया विंझहं जंतउ वारि
अखइ णिरामइ पेसियउ, मइ होसइ महारि॥
—रामसिंह, दोहापाहुड, १७०

२– मन गयन्द मानै नहीं, चलै सुरति के साथ।
दीन महावत का करै, अंकुश नाही हाथ॥
—क० बीजक' पृ० ३१३, साखी, १४६

३– अज्जु जिणिज्जइ करहुलउ, लइयइ देविणु लक्खु।
जित्थु चडेविणु परमुणि, सव्व गयागय मोक्खु॥
—पाहुडदोहा, रामसिंह, ११

४– वन ते भागि बिहुडे, परा करहा अपनी बान।
बेदन करहा कासो कहै, को करहा को जान॥ —क० बीजक, पृ० ३०१

५– घरवासु मो जगु पडिहासइ।
घरि अच्छन्तु न घरवइ दीसइ॥ —पाहुडदोहा, रामसिंह १२२

६– कहहिं कबीर सोई जन मेरा, घर की रारि निबेरे॥
-क० बीजक, पृ० ६६, ३

'बैल'—आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए इन्द्रियों के लिए बैल के प्रतीक का प्रयोग किया गया है। क्योंकि जिस प्रकार बैल को चराने के लिए उसके स्वामी को उस पर नियंत्रण रखना पड़ता है उसी प्रकार विषयों का उपभोग करनेवाली इन्द्रियो को भी मन के नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता है। इसीलिए अपभ्रंश के जैन कवि साधक को सम्बोधित कर कहते हैं—

पंच बलद्ध ण रक्खियइं णंदणवणु ण गओ सि।
अपु ण जाणिउ ण वि परु वि एमइ पव्वइओ सि ॥[1]

अपभ्रंश के जैन कवियो के समान ही कबीर ने भी बैल प्रतीक को अपनाया है, एक स्थल पर तो वे 'बैल पचीस को संग साथ'[2] कहकर बैल को पाँचो इन्द्रियो के पच्चीस विषयों का प्रतीक मानते हैं और अन्यत्र 'पच बैल जब सूध चलाऊ'[3] कहकर अपभ्रंश के जैन कवियो के समान इन्द्रियों के प्रतीक के रूप में 'बैल' शब्द का प्रयोग करते है।

संख्यावाची प्रतीक—सख्यावाची प्रतीको का प्रयोग अपभ्रंश के जैन रहस्य-वादी कवियो तथा कबीर ने पर्याप्त मात्रा मे किया है, जिनमे 'चौरासी लाख' तथा 'पाँच' का प्रयोग दोनो मे ही अनेक स्थलो पर हुआ है। अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु कहते हैं कि अनादि काल से अनन्तानन्तजीव चौरासी लाख (योनियो) मे भ्रमण कर रहे हैं।[4] कबीर ने भी जीव के चौरासी लाख योनियो मे भटकने का संकेत किया है।[5]

पाँच इन्द्रियों के लिए 'पाँच' के प्रतीक को ग्रहण किया गया है। जोइन्दु मुनि कहते हैं कि पाँच इन्द्रियो के नायक मन को वश मे करो, जिससे पाँच स्वय ही वश में हो जाते है।[6] अपभ्रंश के जैन कवियो के समान ही कबीर ने भी इसी अर्थ मे पाँच के प्रतीक का प्रयोग किया है।[7]

४. अपभ्रंश के जैन कवियों के अलंकार और कबीर

'अलङ्करोतीति अलकार:' अर्थात् जो किसी वस्तु को सुशोभित करे, वह

१– पाहुडदोहा, रामसिंह ४४
२– कबीर ग्रन्थावली, पद ३८३
३– वही, पद ३८६
४– चउरासी लक्खहिं फिरिउ, कालु अणाइ अणन्तु।
—जोइन्दु, योगसार, ३५
५– चौरासी लख फिरै दिवाना
—क० ग्र०, पद ३३६
६– पंचहं णायकु वसि करहु, जेण होति वसि अण्ण।
—जोइन्दु, परमात्मप्रकाश, १४०
७– कहै कबीर भई उजियारा, पच मारि एक रह्यो निनारा।
क० ग्र०, पद १७०

अलंकार है। काव्य को अलंकृत या सुशोभित करनेवाली सामग्री ही साहित्य का अलंकार है। भारतीय साहित्य मे अलंकार का विशेष महत्त्व है। प्राचीनकाल से ही साहित्य को सुसज्जित करने के लिए अलंकारो का प्रयोग होता आ रहा है। अत: अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों तथा कबीर के काव्य में भी अलकारों का प्रयोग प्रचुर परिमाण मे हुआ है, जिनमें से निम्न अलकार दोनों के ही काव्य मे समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

रूपक—अपभ्रंश के जैन कवियों ने देह को देवालय का रूप दिया है। जोइन्दु मुनि कहते हैं कि देहरूपी देवालय में जिनेन्द्र देव रहते है, लेकिन उन्हे वही जान सकता है जिसका चित्त समता को प्राप्त हो गया है।[1] कबीर भी कहते हैं कि शरीर रूपी देवालय में ही परमात्मा का निवास है; वह शरीर रूपी देवालय मे उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त है, जैसे तिल में तेल।[2]

उपमा—अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियों ने आत्मा तथा परमात्मा की तादात्म्य अवस्था की उपमा नमक के पानी मे विलीन होने से दी है। वे कहते है कि जिस प्रकार नमक पानी में और पानी नमक मे घुल मिल जाता है, उसी प्रकार यदि मन परमात्मा मे लीन हो जाए तो समाधि की क्या आवश्यकता है।[3] कबीर ने भी आत्मा तथा परमात्मा की समरसता को नमक और पानी की उपमा दी है।[4]

उक्त अलकारो मे कबीर ने उन्ही उपमानो का प्रयोग किया है, जिनका अपभ्रंश के जैन कवियो ने किया है।

५. अपभ्रंश के जैन कवियों के वाक्यप्रयोग और कबीर

रहस्यवादी होने के कारण कबीर में अपभ्रंश के जैन कवियो की अभिव्यंजना प्रणाली से समानता केवल शब्दों, प्रतीकों तथा अलकारो तक ही सीमित नही है अपितु अपभ्रंश के जैन कवियो के वाक्यों से भी उनमें पूर्ण साम्य दृष्टिगोचर होता है। समान भाव के लिए दोनों ने ही समान वाक्यो का प्रयोग किया है, जिनका विभाजन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

१. आत्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित वाक्य
२. ससार तथा शरीर की अनित्यता से सम्बन्धित वाक्य

१— देहादेवलि देउ जिणु, सो बुज्झहि समचित्ति।
-जोइन्दु, योगसार, ४४

२— देवल माहै देहुरी तिल जेता विस्तार॥ -क० ग्र०, परचा को अंग ४२

३— जिमि लोण विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवडा, काइं समाहि करिज्ज॥
-रामसिंह, पाहुडदोहा, १७६

४— मन लागा उनमन सो, उनमन मनहिं विलग्ग।
लूंण बिलग्गा पाणिया पाणीं लूंण विलग्ग॥ —क० ग्रं०, परचा को अंग १६

३. आत्मा परमात्मा की समरसता से सम्बन्धित वाक्य

४. बाह्याडम्बर के निराकरण सम्बन्धी वाक्य

यहाँ दोनो के द्वारा प्रयुक्त कुछ समान वाक्यो को उद्धृत कर अपभ्रंश के जैन कवियो के वाक्यो से कबीर की समानता स्थापित की जाएगी।

आत्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित वाक्य—अपभ्रंश के जैन कवियो ने आत्मा को अजर, अमर तथा अजन्मा बताते हुए कहा है—

जरइ ण मरइ ण सम्भवइ को परि को वि अणन्तु।[1]

कबीर ने भी इन्ही शब्दो के द्वारा आत्मा की अजरता तथा अमरता का कथन किया है। वे कहते है—

आवै न जाइ मरै न जीवै, तासु खोजु बैरागी।[2]

अपभ्रंश के जैन कवियो ने परमात्मा की अनिर्वचनीयता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उसके बारे मे न कुछ लिखा जा सकता है न पूछा जा सकता है, न कहा जा सकता है और न कहने से किसी को विश्वास हो सकता है—

जं लिहि उ ण पुच्छिउ कहव जाइ।
कहियउ कासु वि ण उ चित्ति ठाइ॥[3]

कबीर भी परमात्मा की अनिर्वचनीयता का विवेचन निम्न शब्दो मे करते हैं—

दीठा है तो कस कहूँ कह्या न को पतियाइ।[4]

अपभ्रंश के जैन कवियो तथा कबीर दोनो ने ही आत्मा तथा परमात्मा की एकता का कथन बीज और वृक्ष के उदाहरण द्वारा किया है। जोइन्दु कवि का कथन है—

जं वड मज्झह बीउ फुडु बीयह वडु विहु जाणु।
त देहह देउ वि मुणहि जो तइलोयपहाणु॥[5]

कबीर भी इन्ही शब्दो मे कहते है—

बीजमध्ये ज्यो वृक्षा दरसे वृक्षामध्ये छाया।
परमातम मे आतम तैसे आतम मध्ये माया॥[6]

आत्मा तथा परमात्मा दोनो का निवास एक ही शरीर मे होने पर भी ज्ञान की प्राप्ति तथा भावो की विशुद्धि के बिना दोनो का मिलन नही हो पाता। मुनि रामसिंह का कथन है—

१- पाहुड़दोहा, रामसिंह, ५४
२- सन्त कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ५०, पद ४७
३- पाहुड़दोहा, रामसिंह, १६६
४- कबीर ग्रन्थावली, जर्णा कौ अंग २
५- योगसार, जोइन्दु, पृ० ७४
६- कबीर बचनावली, पृ० १२६

एक्कहिं अग वसन्तयहं मिलिउ ण अंगहि अंगु ।[1]

कबीर ने भी इन्ही शब्दों को दोहराया है । वे कहते हैं—

धनि पिय एकै सङ्ग बसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा ।[2]

संसार तथा शरीर की अनित्यता सम्बन्धी वाक्य—संसार की अस्थिरता तथा जीवन की क्षणभगुरता की अपभ्रंश के जैन कवियो तथा कबीर दोनो ने ही पानी के बुलबुले से समानता स्थापित की है । अपभ्रंश के कवि लक्ष्मीचन्द जी कहते है—

जलबुब्बुउ जीविउ चवलु धणु जोव्वणु तड़ि तुल्लु[3]

इसी के समकक्ष कबीर का कथन है—

पानी केरा बुदबुदा इसी हमारी जात ।
देखत ही छिप जायगा ज्यो तारा परभात ।[4]

मृत्यु के पश्चात् राजा रक सभी को श्मशान घाट जाना पडता है और सभी की एक सी गति होती है । अपभ्रंश के जैन कवि सुप्रभाचार्य इस दशा का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

सुप्पउ भणइ रे धम्मियहु मा खमुहु धम्मणियाणि ।
जे सूणामि धवल हरि ते अथ वणि मसाणि ।।[5]

कबीर भी कहते है कि यह ससार एक क्षण के लिए सुखद प्रतीत होता है तो दूसरे ही क्षण दुखद बन जाता है । कल जो व्यक्ति मडप मे दिखाई देता था, वही आज श्मशान घाट मे दिखाई दे रहा है—

कबीर यहजग कुछ नही, षिन खारा षिन मीठ ।
काल्हि जु बैठा माडिया, आज मसाणा दीठ ।।[6]

ससार मे कोई स्थिर वस्तु नही है । यहाँ तक कि जिस शरीर को हम अपना समझते है वह भी एक दिन हमारा साथ छोड देता है तो अन्य सगे सम्बन्धियो तथा इष्ट वस्तुओ का तो कहना ही क्या है । जोइन्दु कवि कहते है—

देहु वि जित्थु ण अप्पणउ तहि अप्पणउ कि अण्णु ।
परकारणि मण गुरुव तुहु सिवसगमु अवगण्णु ।।[7]

कबीर भी सगे सम्बन्धियो तथा इष्ट वस्तुओ के विनाश पर रुदन करनेवालो को सम्बोधित करते हुए कहते है—

१- रामसिंह, पाहुडदोहा, ११०
२- क० ग्रन्थावली, पृ० २२८, पद ४५
३- दोहाणुवेहा, लक्ष्मीचन्द ५
४- क० ग्र०, पृ० ६५, १४
५- जैन सिद्धात भास्कर भाग १६, किरण २ के अन्तर्गत वैराग्यसार प्राकृतदोहाबन्ध २
६- कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६५, १५
७- परमात्मप्रकाश, जोइन्दु, १४५

अउर मुए किआ रोइऔ, जउ आपा थिरु न रहाइ ।
जो उपजे सो विनसिहै, दुःख करि रोवै बलाइ ।।[1]

इस शरीर का उबटन, तैलमर्दन, आदि के द्वारा कितना भी संस्कार किया जाए, कितना भी सुस्वादु भोजन कराया जाए किन्तु, अन्त में यह हमारा साथ छोड़ देता है और हमारी सारी सेवाएँ निष्फल हो जाती हैं । अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु तथा कबीर दोनों ने ही समान वाक्यो के द्वारा उक्त तथ्य का विवेचन किया है । जोइन्दु कवि कहते हैं—

उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठहार ।
देहहँ सयल णिरत्थ गय, जिमि दुज्जन उवयार ।।[2]

कबीर का निम्न कथन भी जोइन्दु के उक्त कथन के ही समकक्ष है—

चोवा चन्दन मरदनु अगा ।
सो तन जलै काठ के संगा ।।[3]

आत्मा–परमात्मा की समरसता से सम्बन्धित वाक्य—आत्मा तथा परमात्मा तभी तक भिन्न प्रतीत होते हैं जब तक आत्मा को परमात्मा का अनुभव नहीं होता । अनुभव होते ही आत्मा परमात्मा बन जाता है और पूज्य पूजक का भेद लुप्त हो जाता है । अपभ्रंश के जैन कवि मुनि रामसिंह का कथन है—

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु वि मणस्स ।
विण्णि वि समरस हुइ रहिय पुज्जु चढावउ कस्स ।।[4]

इसी से मिलता–जुलता कबीर का कथन है कि मेरा मन राम का स्मरण करते-करते स्वयं ही राम बन गया, अब समझ मे नही आता कि मैं नमस्कार करूं तो किसे करूं ?

मेरा मन सुमिरै राम को मेरा मन रामहि आहि ।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौ काहि ।।[5]

बाह्याडम्बर के निराकरण से सम्बन्धित वाक्य—उस परमात्मा की प्राप्ति हृदय की विशुद्धता पर ही निर्भर है और हृदय की विशुद्धि के लिए अन्तरग मे स्थित रागद्वेष तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मलीनताओ का निवारण आवश्यक है, बाह्य स्नान से अन्तरंग की शुद्धि नहीं हो सकती । आनन्दा मुनि कहते हैं—

भितरि भरिउ पाउमल, मूढा करहि सण्हाणु ।
जे मल लाग चित्तमहि आणन्दा रे ! किम जाए सण्हाणि ।।[6]

कबीर भी हृदय की मलीनता का प्रक्षालन किए बिना शरीर के स्नान आदि

१- सन्त कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६७, राग गउडी, पद ६४
२- परमात्मप्रकाश जोइन्दु, १४८
३- सन्त कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १३
४- पाहुड़दोहा, रामसिंह, १४६
५- कबीर ग्रन्थावली, सुमिरण को अंग, ८
६- आणन्दा, आनन्द तिलक ४

को निरर्थक बताते हैं । शरीर को मल मलकर धोनेवालों को फटकारते हुए वे कहते हैं —

काइआ मांजसि कउन गुनां ।
जउ घट भीतरि है मलना ।[1]

तथा—

क्या घट ऊपरि मजन कीये, भीतरि मैल अपारा ।[2]

अपभ्रंश के जैन कवि तथा कबीर दोनों ही परमात्मपद की प्राप्ति के लिए बाह्य क्रियाकाण्ड को निरर्थक समझते हैं । मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, जप, तप, व्रत, संयम, पुस्तकाध्ययन तथा केशलोच आदि से सम्बन्धित बाह्याडम्बरों की दोनो ने समान वाक्यो मे भर्त्सना की है—

अपभ्रंश के जैन कवि मुनि रामसिह के विचार से मूर्त्ति पर पत्र, पुष्प, आदि तोडकर चढाना उपयुक्त नही है । क्योकि पत्र, पुष्प आदि मे भी वही आत्मा है जो परमात्मा मे है । वे कहते हैं—

पत्तिय तोडि म जोइया, फलहिं जि हत्थु मा वाहि ।
जसु कारणि तोडेमि तुहुं सो सिउ एत्थु चढाहि ।[3]

कबीर ने भी प्रायः उक्त वाक्य के द्वारा ही पत्र, पुष्प आदि के द्वारा मूर्ति पूजा का निषेध किया है । उनका कथन है—

पाती तोरै मालिनी, पाती पाती जीउ ।
जिसु पाहन कउ पाती तोरै सो पाहन निरजीउ ।।[4]

एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ पर भ्रमण करनेवालो को जैन कवि जोइन्दु ने मूर्ख कहा है । उनका वक्तव्य है—

तित्थहिं तित्थु भमंताहं मूढहं मोक्खु ण होइ ।[5]

कबीर ने भी तीर्थ करनेवाले के श्रम को निरर्थक कहा है । उनका निम्न कथन जोइन्दु मुनि के उक्त कथन से मिलता-जुलता है—

तीरथ करि करि जग मुवा, डूधे पाणी न्हाइ[6]

अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु मुनि का कथन है कि व्रत, तप, सयम आदि के द्वारा भी तब तक मुक्ति नही हो सकती, जब तक शुद्ध और पवित्र भाव से युक्त होकर एक परमात्मा का ज्ञान न प्राप्त किया जाए—

वय तप सयम मूलगुण मूढहं मोक्खु ण वुत्तु ।
जाव ण जाणइ एक्क पर, सुद्धउ भाउ पवित्तु ।।[7]

१– सन्त कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १३७
२– क०ग्र०, पद १४६
३– पाहुडदोहा, रामसिंह, १६०
४– सन्त कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ १०४, रागु आसा १४
५– परमात्मप्रकाश, जोइन्दु द्वि० अ० ८५
६– क० ग्र०, चाणक को अंग, पृ० ३२, १८
७– योगसार, जोइन्दु २६

कबीर भी उक्त वाक्य की ही पुनरावृत्ति करते प्रतीत होते हैं—

किआ जप किआ तपु सजमो, किया वरतु किआ असनानु ।
जब लगि जुगति न जानीअे, भाव भगति भगवानु ।।[1]

अपभ्रंश के कवि मुनि रामसिंह ने अनेक पुस्तकों के पठन–पाठन को भी व्यर्थ का श्रम बताया है । उनके विचार से उसी एक अक्षर का पढ़ना सार्थक है जिससे शिवपुरी की प्राप्ति हो जाए । उन्होंने कहा है—

बहुयट पढियइ मूढ पर तालु मुक्कइ जेण ।
एक्कु जि अक्खरु त पढहु सिवपुरी गम्मइ जेण ।।[2]

अपभ्रंश के जैन कवि मुनि रामसिंह के प्रभाव से कबीर भी उक्त वाक्य को ही दोहराते हुए कहते हैं—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पडित भया न कोय ।
एकै आखर प्रेम का, पढ़े सो पडित होय ।।[3]

केशलोच की भी अपभ्रंश के जैन कवियो तथा कबीर ने समान शब्दो मे निन्दा की है । दोनो का ही कथन है कि केश मुंडाने से ईश्वर की प्राप्ति नही हो सकती । ईश्वर को प्राप्त करने के लिए तो चित्त अथवा मन को मुँडाना चाहिए । क्योंकि, मन मे ही विषय विकार भरे हुए हैं । जिसने इस मन को मुँडा लिया है वही ससार के बन्धनो का निरमन कर सकता है । मुनि रामसिंह कहत है—

मुडिये मुडिय मुडिया सिर मुडिउ चित्तुण मुडिया ।
चित्तहं मुडणु जिकियउ ससारह खण्डणु ति कियउ ।।[4]

कबीर का निम्न वाक्य मुनि रामसिंह के उक्त वाक्य की ही पुनरावृत्ति प्रतीत होती है—

केसों कहा बिगारिया, जो मूडै सो बार ।
मन को काहे न मूडिये, जामे विषै विकार ।।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेक शब्द, अनेक प्रतीक, अनेक अलकार तथा अनेक वाक्य कबीर के काव्य मे ऐसे प्राप्त होते हैं जो अपभ्रंश के रहस्यवादी जैन कवियो के काव्य में प्राप्त हैं । अत. कबीर की अभिव्यंजना प्रणाली और अपभ्रंश के जैन कवियो की अभिव्यंजना प्रणाली मे पूर्ण साम्य दृष्टिगोचर होता है ।

□

१— सन्त कबीर, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६६
२— पाहुड़दोहा, रामसिंह, १७
३— —क० ग्र०, कथणी बिना करणी को अग ४
४— पाहुड़दोहा, रामसिंह, १३५ ।

० परिशिष्ट

आकर ग्रन्थ-सूची

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के ग्रन्थ

१–काव्यालङ्कार—आचार्य भामह, भाष्यकार प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना।

२–अष्टाध्यायी—आचार्य पाणिनि, सं० गुरुप्रसाद शास्त्री, भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस, सन् १९५१।

३–ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धनाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६५।

४–साहित्य दर्पण—आचार्य विश्वनाथ, सं० डा० सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, सन् १९५७।

५–ऋग्वेद संहिता—सायणाचार्य, टीका सहित, भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना।

६–श्वेताश्वतरोपनिषद्—गायत्री प्रकाशन, मथुरा।

७–माण्डूक्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर।

८–कठोपनिषद्—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

९–छान्दोग्योपनिषद्– ,, ,, ,, ।

१०–ऐतरेयोपनिषद्— ,, ,, ,, ।

११–तैतरेयोपनिषद्— ,, ,, ,, ।

१२–बृहदारण्यकोपनिषद्–,, ,, ,, ।

१३–तेजोबिन्दूपनिषद्– ,, ,, ,, ।

१४–मुण्डकोपनिषद्— ,, ,, ,, ।

१५–गीता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

१६–श्रीमद्भागवत—गीताप्रेस, गोरखपुर, नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी द्वारा सम्पादित, वृन्दावन, १९६०।

१७–भक्ति सूत्र—शाण्डिल्य, गीताप्रेस, गोरखपुर।

१८–भक्ति सूत्र—नारद, गीताप्रेस, गोरखपुर।
१९–कालिदास ग्रन्थावली–अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, वि० सं० २०१० द्वितीय संस्करण।
२०–उत्तर रामचरित—भवभूति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
२१–नैषधीयचरित—श्रीहर्ष, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
२२–अमरुक शतक—अमरुक, ,, ,, ,, ।
२३–गीतगोविन्द–जयदेव, लालभाई दलपतभाई, इन्डो लौजिकल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, अहमदाबाद ९।
२४–हठयोगप्रदीपिका–थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, १९३३।
२५–सिद्धसिद्धान्त संग्रह–सं० महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ, सन् १९२५।
२६–पाशुपत दर्शन—सर्वदर्शनसंग्रह के अन्तर्गत, प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
२७–परमात्मप्रकाश और योगसार—जोइन्दु, सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, रायचन्द जैन शास्त्रमाला, द्वि० संस्करण।
२८–द्रव्य संग्रह–नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, सं० दरबारी लाल कोठिया, वर्णी ग्रंथमाला।
२९–योगदृष्टि समुच्चय—हरिभद्र आचार्य, लालभाई दलपतभाई, इन्डोलौजिकल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, अहमदाबाद।
३०–पाहुड़दोहा—रामसिंह, अम्बादास चवरे, दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, कारंजा, वि० सं० १९९०।
३१–समयसार–आचार्य कुन्दकुन्द, हिन्दी अनुवाद श्री मगन लाल जैन वर्णी ग्रंथमाला
३२–तत्त्वार्थसूत्र—आचार्य उमास्वामी, वर्णी ग्रंथमाला।
३३–पंचास्तिकाय संग्रह—आचार्य कुन्दकुन्द, हिन्दी अनुवाद मगनलाल जैन, दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर, ट्रस्ट सोनागढ़ (सौराष्ट्र)।
३४–नियमसार—आचार्य कुन्दकुन्द, दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर, ट्रस्ट सोनागढ़ (सौराष्ट्र)।
३५–प्रवचनसार—आचार्य कुन्दकुन्द, सं० स्व० श्री पं० अजितकुमार जी शास्त्री एवं श्री पं० रतनचन्द जी मुख्तार, सहारनपुर, प्रकाशक ब्र० लाड़मल जैन, शान्तिवीर दि० जैन संस्थान, शान्तिवीर नगर श्री महावीर जी (राजस्थान) वि० सं० २४९५।
३६–अष्टपाहुड़—आचार्य कुन्दकुन्द, श्री श्रुतसागर सूरि, श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, राजस्थान।
३७–कषाय पाहुड़–धवला टीका, गुणधराचार्य, दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा।
३८–द्वादशानुप्रेक्षा—आचार्य स्वामि कार्तिकेय, सं० श्री महेन्द्र कुमार जी जैन, पाटनी एम० के० मिल्स, मदनगंज, राजस्थान, प्र० सं०।
३९–गोम्मटसार जीवकांड—नेमिचन्द्राचार्य, रायचन्द जैन शास्त्रमाला, सन् १९३७।

४०–उत्तराध्ययनसूत्र–सं.आर.डी. वेदकेर और एन०वी. वैद्य फर्ग्यूसन कालेज, पूना ।
४१–समाधितन्त्र–श्री पूज्यपाद, परमानन्द शास्त्री, वीरसेन मन्दिर, सरसावा ।
४२–प्रशमरतिप्रकरण–सं० पं० राजकुमार जी साहित्याचार्य, रायचन्द जैन शास्त्रमाला ।
४३–ज्ञानार्णव–आचार्य शुभचन्द्र, रायचन्द जैन शास्त्रमाला ।
४४–अपभ्रंश पाठावली–स० एम० सी० मोदी–गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी, अहमदाबाद, सन् १९३५ ।
४५–अमृताशीति–माणिकचन्द ग्रंथमाला बम्बई, सन् १९७९ ।
४६–निजात्माष्टक–माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई ।
४७–दोहापाहुड–महयन्दिण (हस्तलिखित) आमेर भण्डार, जयपुर ।
४८–पाइयसद्दमहण्णव–प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, ५, द्वि० सं०, सन् १९६३ ।
४९–वैराग्यसार–जैन सिद्धान्त भास्कर आरा में प्रकाशित ।
५०–दोहाणुवेहा–लक्ष्मीचन्द (हस्तलिखित) आमेर भण्डार, जयपुर ।
५१–अपभ्रंश काव्यत्रयी–सं० लालचन्द भगवानदास गांधी, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बडौदा, सन् १९२७ ।
५२–धन्यशालिभद्र चरित–महाकवि रइधू, हस्तलिखित ।
५३–द्वादशकुलक विवरण प्रान्ते– ,, ,, ।
५४–सम्मत्तगुणणिहाणकव्व– ,, ,, ।
५५–सुकोसल चरिउ– ,, ,, ।
५६–धण्णकुमार चरिउ– ,, ,, ।
५७–भट्टारक सम्प्रदाय– ,, ,, ।
५८–पासणाह चरिउ– ,, ,, ।
५९–मेहेसर चरिउ–महाकवि रइधू हस्तलिखित ।
६०–जसहर चरिउ– ,, ,, ।
६१–बलहद्द चरिउ– ,, ,, ।
६२–जीवधर चरिउ– ,, ,, ।
६३–णेमिणाह चरिउ– ,, ,, ।
६४–अप्पसवोहकव्व– ,, ,, ।
३५–सावयधम्मदोहा–देवसेन, स० हीरालाल जैन, अम्बादास चवरे, दिगम्बर जैनग्रं०
६६–मयणपराजय चरिउ–हरिदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र० सं० सन् १९६२ ।
६७–कुन्दकुन्द भारती–सं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन ।
६८–सर्वार्थ सिद्धि–पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र० सं० सन् १९६५ ।
६९–आप्त परीक्षा–विद्यानन्दि स्वामी, स० दरबारी लाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर ।
७०–भक्तामरस्तोत्र–आचार्य मानतुंग, काव्यमाला सिरीज, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

७१–कार्तिकेयानुप्रेक्षा–स्वामी कार्तिकेय, पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मारोठ (राजस्थान) वी० नि० सं० २४७७।

७२–प्रमेय कमल मार्तण्ड–प्रभाचन्द्राचार्य, सं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, द्वितीय सं०।

७३–रत्नकरंडश्रावकाचार–स्वामी समन्तभद्राचार्य, भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, वि० सं० १९९४।

७४–तत्त्वानुशासन–आचार्य रामसेन, प्र० सं० रामा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली।

७५–समयसार कलश–अमृतचन्द्र सूरि, कुन्दकुन्द जैन शास्त्रमाला, पुष्प १३, १९६४।

७६–षट्खंडागम–आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि, सं० हीरालाल जैन, नया संसार प्रेस, वाराणसी, १९५८।

७७–तत्त्वार्थ राजवार्तिक–अकलंकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र० सं० वि० सं० २००९।

७८–दोहाकोश–राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

७९–शब्दकल्पद्रुम–चौखम्बा संस्कृतसिरीज, आफिस वाराणसी।

हिन्दी–ग्रन्थ

८०–नाथ सिद्धों की बानियाँ–आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

८१–गोरखबानी–स० डा० बड़थ्वाल।

८२–अपभ्रंश साहित्य–हरिवंश कोछड़, भारतीय साहित्य मन्दिर फव्वारा, दिल्ली, वि० सं० २०१३।

८३–अपभ्रंश भाषा और साहित्य–देवेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६५।

८४–रहस्यवाद–राममूर्ति त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्र० स०।

८५–रहस्यवाद–आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्र० सं०।

८६–हिन्दी साहित्यकोश–ज्ञानमण्डल, वाराणसी, वि० स० २०२०, द्वि० संस्करण।

८७–जायसी ग्रन्थावली–सं० रामचन्द्र शुक्ल, ना०प्र० सभा, काशी, पंचम संस्करण।

८८–कबीर ग्रन्थावली–डा० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग।

८९–काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध–जयशंकर प्रसाद।

९०–कबीर का रहस्यवाद–डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, पंचम संस्करण, सन् १९५४।

९१–भक्ति काव्य में रहस्यवाद–डा० रामनारायण पंडित, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

९२–कबीर और जायसी का रहस्यवाद : तुलनात्मक अध्ययन–डा० गोविंद त्रिगुणायत।

९३–मेघदूत–एक अध्ययन–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ।

९४–मेघदूत–एक अनुचिन्तन–नागरी प्रकाशन, प्रा० लि०, पटना–४; द्वि० संस्करण ।

९५–मध्यकालीन धर्मसाधना–साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण सन् १९५६ ।

९६–तांत्रिक साधना–लेखक माधव पुण्डलीक पंडित, हिन्दी रूपान्तर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् १९६४ ।

९७–काव्य में रहस्यवाद–डा० बच्चूलाल अवस्थी, अक्टूबर, १९६५

९८–कबीर ग्रन्थावली–श्यामसुन्दर दास, ना० प्र० सभा, सप्तम् संस्करण ।

९९–विनय पत्रिका–गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

१००–रामचरित मानस–गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

१०१–सूर सारावली–सूरदास ।

१०२–मीरा की पदावली–मीराबाई ।

१०३–बिहारी सतसई–बिहारी, ला० भगवानदीन संस्करण ।

१०४–आधुनिक हिन्दी काव्य मे रहस्यवाद–डा० विश्वनाथ गौड़ ।

१०५–कामायनी–जयशकर प्रसाद ।

१०६–अपरा–सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ।

१०७–पल्लव–सुमित्रानन्दन पन्त ।

१०८–यामा–महादेवी वर्मा ।

१०९–सान्ध्यगीत–महादेवी वर्मा ।

११०–दीपशिखा–महादेवी वर्मा ।

१११–चित्ररेखा–डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ।

११२–जैन धर्म–डा० महेन्द्र कुमार, एम० ए०, न्यायाचार्य, वर्णी ग्रन्थमाला ।

११३–ब्रह्म विलास–स्व० भैया भगवतीदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

११४–नाटक समयसार–पडित बनारसी दास, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद, स० १९५५, प्रथम सस्करण ।

११५–परमार्थ दोहाशतक–जैन हितैषी अक ५, ६ के अन्तर्गत ।

११६–बनारसी विलास–कविवर बनारसीदास, जैन ग्रन्थमाला रत्नाकर निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

११७–आनन्द घन बहोत्तरी–आनन्दघन ।

११८–राजस्थान में हिन्दी में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज–तृतीय भाग ।

११९–हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास–काशी नगरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

१२०–अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद–डा० वासुदेव सिंह, समकालीन प्रकाशन वाराणसी, वि० सं० २०२२ ।

१२१–हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास–कामता प्रसाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, सन् १९४७ ।

१२२–प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ—प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, टीकमगढ़, अक्टूबर, १९४६ ।
१२३–कबीर–हजारी प्रसाद द्विवेदी ।
१२४–सन्त कबीर–डा० रामकुमार वर्मा ।
१२५–कबीर साहित्य की परख–आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वि० स०, स० २०२१ ।
१२६–कबीर की विचारधारा–डा० गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, सं० २०२४ ।
१२७–कबीर बीजक–टीकाकार विचारदास शास्त्री, सन् १९६५ ।
१२८–कबीर वचनावली–महाकवि हरिऔध, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
१२९–कबीर दर्शन–डा० रामजी लाल सहायक, अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद ।
१३०–हिन्दी काव्यधारा–राहुल सांकृत्यायन, अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद ।
१३१–सिद्ध साहित्य–डा० धर्मवीर भारती ।
१३२–भारतीय दर्शन–बलदेव उपाध्याय, नागरी मुद्रणालय, काशी, षष्ठ संस्करण, १९६० ।
१३३–राजस्थान के जैन ग्रन्थों की सूची–महावीर जी ।
१३४–सन्त साहित्य–डा० प्रेम नारायण शुक्ल ।
१३५–हिन्दी काव्यादर्श–आचार्य दण्डी, व्याख्याकार आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१ ।
१३६–हिन्दी काव्यालंकर–आचार्य रुद्रट, व्याख्याकार, श्री रामदेव शुक्ल एम० ए०, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।
१३७–हिन्दी साहित्य का आदिकाल–हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा, परिषद्, पटना, तृतीय संस्करण, सन् १९६१ ।
१३८–गोरखनाथ की भाषा का अध्ययन–डा० कमलसिंह, कुसुम प्रकाशन मुजफ्फरनगर १९८४ ई० ।
१३९–गोरखनाथ और उनका हिन्दी साहित्य—डा० कमलसिंह, कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर, द्वि० सं०, १९९० ई० ।
१४०–पुरानी हिन्दी–पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, द्वि० सं० संवत् २०१८ वि० ।
१४१–हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग–डा० नामवरसिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, च० सं०, १९६५ ई० ।
१४२–पुरानी राजस्थानी–डा० नामवर सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वि० स० संवत् २०१२ वि० ।
१४३–कबीर-कोश–स० आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, स्मृति प्रकाशन, ६१, महाजनी टोला, इलाहाबाद, प्र० स० १९७३ ई० ।

१४४–कबीर-काव्य का भाषा शास्त्रीय अध्ययन–डा० भगवत प्रसाद दुबे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र० सं० १९६९ ई० ।

१४५–राउल वेल और उसकी भाषा–डा० माताप्रसाद गुप्त, मित्र प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, १९६२ ई० ।

१४६–कुतुबशतक और उसकी हिन्दुई–डा० माताप्रसाद गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्र० सं०, १९६७ ई० ।

१४७–कबीर की भाषा–डा० माता बदल जायसवाल, कैलाश आदर्श, इलाहाबाद, १९६५ ई० ।

१४८–गोरखनाथ और उनका युग–डा० रांगेय राघव, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र० स० १९६३ ई० ।

१४९–हिन्दी साहित्य का इतिहास–प० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २००७ वि० ।

१५०–पुरातत्व-निबन्धावली–पं० राहुल सांकृत्यायन, इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग, १९३७ ई० ।

१५१–अपभ्रंश भाषा का अध्ययन–डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, भारतीय साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली, १९६५ ई० ।

१५२–अपभ्रंश व्याकरण–प्रो० शालिग्राम उपाध्याय, भारतीय विद्या प्रकाशन ।

१५३–कीर्तिलता और उसकी अवहट्ट भाषा–डा० शिव प्रसाद सिंह, साहित्य भवन, इलाहाबाद १९५५ ई० ।

१५४–संदेश रासक–डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर (प्रा० लि०) बम्बई, प्र० स० १९६० ई० ।

१५५–नाथ सम्प्रदाय–आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी, द्वि०स० १९६६ ई० ।

१५६–प्राकृत भाषाओ का व्याकरण–हेमचन्द्र जोशी, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्र० सं० सवत् २०१५ वि० ।

१५७–पाठ-सम्पादन के सिद्धांत–डा० कन्हैयासिंह, महामना प्रकाशन-मन्दिर, इलाहाबाद, प्र० सं० १९६२ ई० ।

अंग्रेजी साहित्य (ग्रन्थ)

158. Oxford Dictionery.
159. Mysticisn in Religion by Inge.
160. Practical Mysticism by Under Hill.
161. Mysticism Dictionaries by Frank Gaynor.
162. Mysticism and Logic (London 1949).

163. Mysticism in English Literature by Spurgeon.
164. Mysticism in Maharashtra, Arya Bhushan Press office Poona, First Edition, 1933.
165. Hindu Mysticism By S N. Das Gupta.
166. Eastern Religion and Western thoughts by S. Radha krishnan, Oxford University Press, London Second edition. 1940.
167. Mysticism theory and Art by Dr. Radha Kamal Mukherjee.
168. Introduction of Samayasar, Editted by A. Chakrawarti, Bharatiya Janapith, Kashi.
169. Encyclopaedia of Religion and Ethics. Editted by James Hastings, Vol, IX.
170. Encyclopaedia Britannica, Vol. 21.
171. Encyclopaedia Britannica, Vol. 15 C, 1966.
172. Tantras their Philosophy and occult.
173 Principles of Tantras, Woodraffe
174. Aspects of Mahayan Budhism by Nalinakha Datt.
175. Introduction of tantric Budhism by S. Das Gupta.
176. Murry's Northern India (Published by John Murry Albemarly 1883, A. D.)

पत्र-पत्रिकाएँ

१७७–जैन सिद्धान्त भास्कर–जैन सिद्धान्त भवन, आरा ।
१७८–वीर वाणी–जयपुर ।
१७९–अनेकान्त–वीर सेवा मन्दिर सरसावा (वर्तमान में दिल्ली) ।
१८०–परिषद् पत्रिका–बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।
१८१–जैन हितैषी–जैन ग्रंथ रत्नाकर, कार्यालय, हीराबाग, बम्बई ।
१८२–नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी ।

□